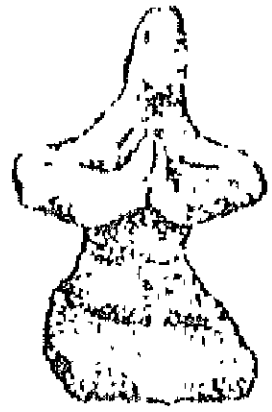
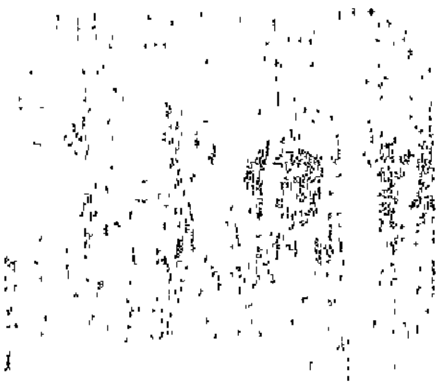
# प्राचीन भारत

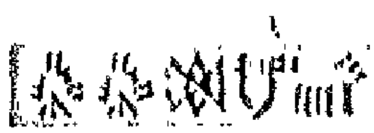
# आवरण


1


5


4


2


3

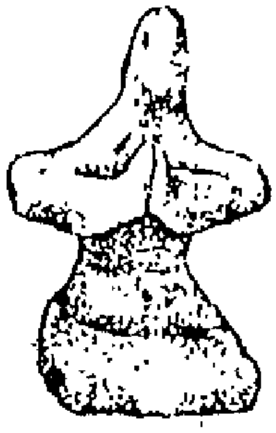
1. योग मुद्रा में हड़प्पाई मृण्मूर्ति

2. हड़प्पाई मुद्रा पर बैल का अंकन

3. एक हड़प्पाई पुरास्थल से प्राप्त लेखयुक्त मुद्रा

4. साँची का महास्तूप

5. गुर्जर-प्रतिहार कालीन शिव और पार्वती के विवाह को दर्शाता हुआ स्थापत्य फलक



# प्राचीन भारत

## कक्षा 11 के लिए पाठ्यपुस्तक

मक्खन लाल

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

**प्रथम संस्करण**

*जून 2003*

*ज्येष्ठ 1925*

**PD 150T NSY**

ISBN 81-7450-165-7



**एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय**

| | | | |
|---|---|---|---|
| एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस | 108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे | नवजीवन ट्रस्ट भवन | सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस |
| श्री अरविंद मार्ग | हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज | डाकघर नवजीवन | निकट : धनकल बस स्टॉप |
| नई दिल्ली 110 016 | बेंगलूर 560 085 | अहमदाबाद 380 014 | पनिहटी, कोलकाता 700 114 |

**प्रकाशन सहयोग**

*संपादन* : नरेश यादव

*उत्पादन* : अतुल सक्सेना

*सज्जा और आवरण*

कल्याण बनर्जी

**रु. 50.00**

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा नाथ ग्राफिक्स, सर्वप्रिय विहार, नई दिल्ली 110 016 द्वारा लेजर टाइपसैट होकर प्रभात प्रिंटिंग प्रेस, डी-32, इंडस्ट्रियल एरिया, साइट-ए, मथुरा द्वारा मुद्रित।

# प्राक्कथन

शिक्षा में उच्चतर माध्यमिक स्तर अनेक मायनों में महत्त्वपूर्ण है। इस स्तर पर बच्चे अपनी रुचि, विचार, रुख और क्षमता को ध्यान में रखकर बेहतर तरीके से अपनी पसंद के विषय चुन सकते हैं या वे कोई एक विशिष्ट अकादमिक पाठ्यक्रम अथवा नौकरी अभिमुख व्यावसायिक पाठ्यक्रम चुन सकते हैं। यह अधिकतम चुनौती की स्थिति है। छात्र स्वयं अपने जीवन की एक महत्त्वपूर्ण अवस्था से गुज़र रहे होते हैं; यथा–किशोरावस्था से युवावस्था, साधारण जिज्ञासा से वैज्ञानिक पूछताछ तक।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा तैयार *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा – 2000* (एन.सी.एफ.एस.ई.–2000) इन सभी बातों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया। देशभर में विचार-विमर्श के बाद एन.सी.ई.आर.टी. ने प्रत्येक क्षेत्र में नई पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का निश्चय किया। परिवर्तन की रफ़्तार को देखते हुए, विशेषकर बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में यह आवश्यक हो गया था। इन परिवर्तनों से मानवीय प्रयास और गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। एन.सी.ई.आर.टी. देश के भावी नागरिकों की शैक्षिक आवश्यकताओं को समझने का निरंतर प्रयास करती है जो कि अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में सक्रिय रूप से योगदान देंगे।

इतिहास में नई पाठ्यपुस्तकों की तैयारी और पढ़ाई इनका एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। नई तकनीकें और प्रौद्योगिकी, नए उत्खनन और खोज से इतिहास में अनेक स्थितियों की पुन: व्याख्या की गई है जो कि उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययन के प्रमुख विकल्पों में से एक है। एन.सी.ई.आर.टी. की 1988 पाठ्यक्रम रूपरेखा के प्रस्तावों के अनुसार इतिहास को एक अलग विषय के रूप में उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पहली बार पढ़ाया जाएगा। इससे पहले इसे सामाजिक विज्ञान के एक अभिन्न अंग के रूप में पढ़ा जाता है। इसके कारण उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए इतिहास की नई पाठ्यपुस्तकें तैयार की गईं। विश्वभर में इतिहास पाठ्यपुस्तकों का लेखन अनेक कारणों से अपनी ओर ध्यान खींचता है। एन.सी.ई.आर.टी. की इतिहास की नई पाठ्यपुस्तकें ऐतिहासिक घटनाओं का यथार्थ विवरण देने के उद्देश्य से तैयार की गई हैं। इस क्षेत्र में नवीनतम अनुसंधान और व्याख्या को समाविष्ट किया गया है।

वर्तमान पुस्तक को तैयार करने के लिए परिषद् प्रो. मक्खन लाल की आभारी है, जो अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त इतिहासविद् तथा पुराविद् हैं। हम उन सबके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने इस पुस्तक को तैयार करने और इसे अंतिम रूप देने में सहायता की है।

एन.सी.ई.आर.टी. शिक्षाविदों, शिक्षकों तथा माता-पिता और छात्रों के सुझावों का स्वागत करती है जिससे इस पुस्तक में सुधार करने में सहायता मिल सके।

**जगमोहन सिंह राजपूत**
*निदेशक*
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

*नई दिल्ली*
अक्तूबर 2002

# पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य


मक्खन लाल
*प्रोफेसर एवं निदेशक*
विरासत अनुसंधान एवं प्रबंधन संस्थान
नई दिल्ली

बी.बी. लाल
*महानिदेशक* (अवकाश प्राप्त)
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, नई दिल्ली

वी.डी. मिश्रा
*प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष* (अवकाश प्राप्त)
प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ.प्र.)

डी.एन. त्रिपाठी
*प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष* (अवकाश प्राप्त)
प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ.प्र.)

टी.पी. वर्मा
*रीडर* (अवकाश प्राप्त)
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

मीनाक्षी जैन
*रीडर* (इतिहास)
गार्गी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
*फैलो*, नेहरु स्मारक संग्रहालय
और पुस्तकालय, नई दिल्ली

वीणा व्यास
*पी.जी.टी.* (इतिहास)
डी.एम. स्कूल
क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
भोपाल (म.प्र.)

मिथिलेश चंद्र श्रीवास्तव
प्रवक्ता (इतिहास)
बी.आर.पी. इंटर कॉलेज
जौनपुर (उ.प्र.)

जगदीश भारतीय
*पी.जी.टी.* (सेवानिवृत्त)
कॉमर्शियल उच्चतर माध्यमिक
विद्यालय, दरियागंज
दिल्ली


---


**अनुवादक**
परशुराम शर्मा
*भूतपूर्व निदेशक* (राजभाषा)
दूरसंचार विभाग
नई दिल्ली

**एन.सी.ई.आर.टी. संकाय**
**सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग**
प्रत्यूष मंडल, *रीडर*
सीमा शुक्ला, *लेक्चरर*
रितू सिंह, *लेक्चरर*

# गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो॰ क॰ गांधी

# मानचित्र तथा चित्र सूची

# विषयसूची

# भारत का संविधान

## भाग 4क

# नागरिकों के मूल कर्तव्य

**अनुच्छेद 51क**

**मूल कर्तव्य** – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

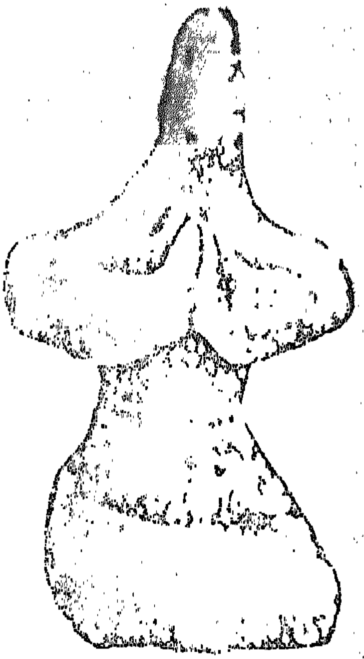
(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।



अध्याय 1

# भारतीय इतिहास का अध्ययन

**जिन** विभिन्न पक्षों का हम अध्ययन करते हैं वे समाज और लोगों के समग्र व्यक्तित्व का अंग होते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि इतिहास का अध्ययन मनुष्य के संपूर्ण अतीत का अध्ययन है जो लाखों वर्ष लंबा है।

**अपने** अतीत के बारे में जानने की इच्छा तो स्वाभाविक रूप से सभी में होती है। हम सदा यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि हमारे पूर्वज यानी दादा-परदादा कौन थे, वे कहाँ से आए थे और वे कैसे रहते थे। इसे हम एक व्यक्तिगत परिवार के इतिहास को जानने की उत्सुकता कह सकते हैं और इस परिवार का इतिहास उसके समाज के अन्य परिवारों के इतिहास से काफी भिन्न भी हो सकता है किंतु जब यह अध्ययन एक व्यक्तिगत परिवार से बाहर संपूर्ण समाज के बारे में होता है तो यह एक अत्यंत भिन्न रूप ले लेता है। तब हम समूचे समाज और समग्र राष्ट्र के बारे में चर्चा करते हैं। *अतीत के बारे में जानने का यह प्रयास ही इतिहास होता है।*

किसी समाज या राष्ट्र के इतिहास के अध्ययन के द्वारा हम उस समाज या राष्ट्र के अतीत को जान सकते हैं। तब हम यह जान सकते हैं कि वह समाज या राष्ट्र एक दीर्घ अवधि में कैसे विकसित हुआ है। इसके कुछ पहलू हैं : उन्होंने खेती करना कैसे शुरू किया; उन्होंने धातु का प्रयोग कब प्रारंभ किया; कताई, बुनाई, धातु-कर्म कैसे विकसित हुआ। इन सभी आर्थिक पहलुओं के साथ और भी अनेकानेक बातें आ गई हैं; जैसे— राजनीतिक तथा प्रशासनिक प्रणालियों का विकास, शहरी जीवन का विकास, विज्ञान और साहित्य तथा स्थापत्यकला का विकास आदि। इन सब बातों के अध्ययन को इतिहास कहते हैं। इस प्रकार, आप जान सकते हैं कि इतिहास के अध्ययन का अर्थ केवल कुछ राजाओं या राजवंशों के काल और उनसे संबंधित घटनाओं का अध्ययन मात्र नहीं है।

जिन विभिन्न पहलुओं का हम अध्ययन करते हैं, वे समाज और लोगों के समग्र व्यक्तित्व का अंग होते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि इतिहास का अध्ययन मनुष्य के संपूर्ण अतीत का अध्ययन है, जो लाखों वर्ष लंबा है।

इस बात पर बल देना जरूरी होगा कि सभी समाजों को विकसित होने में एक लंबा समय लगा है, लेकिन उनके रास्ते अलग-अलग रहे हैं। जिन प्रक्रियाओं से वे गुजरे हैं वे भिन्न-भिन्न रही हैं। यद्यपि वे सब प्रस्तर युग के आखेटक-संग्राहक थे, सबने खेती का व्यवहार किया। उन सबने किसी-न-किसी समय धातु का उपयोग करना शुरू किया था फिर भी वे अपनी एक अलग सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक पहचान रखते हैं। इसका कारण यह है कि लोग अर्थ-जगत से परे, सामाजिक-प्रणाली, धर्म-कर्म, राजनीतिक-प्रणाली, कला एवं स्थापत्य, भाषा और साहित्य तथा अन्य अनेक विषयों में भी अपने विचार रखते हैं। ये सभी बातें प्रत्येक समाज और राष्ट्र की अपनी हैं।

इसलिए इतिहास का अध्ययन लोगों, समाजों और राष्ट्रों को भी समझने में सहायता करता है और अंततः संपूर्ण मानवता को पहचान और अपनत्व का भाव मिलता है। बहुत-से लोग, जिनमें कुछ अग्रणी वैज्ञानिक और राजमर्मज्ञ भी शामिल हैं, यह प्रश्न उठाते हैं कि इतिहास का अध्ययन क्यों किया जाए? इससे आर्थिक दृष्टि से कोई लाभ या योगदान नहीं मिलता। यह गरीबी और बेरोजगारी की समस्या को हल नहीं कर सकता। कुछ लोग तो यहाँ तक सोचते हैं कि यह केवल समस्याएँ उत्पन्न करता है और लोगों के बीच वैर-भाव बढ़ाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह विचार बहुत छिछला है। इतिहास का अध्ययन तो हमें लोगों को, उनकी संस्कृति, उनके धर्म और उनकी समाज-व्यवस्था को जानने-समझने

और उनका आदर करने में सहायता करता है। इतिहास का अध्ययन हमें अपने अतीत से वर्तमान और भविष्य के लिए सबक लेना सिखाता है। यह हमें उन गलतियों को दोहराने से रोकता है, जिनके कारण हमें अतीत में युद्ध जैसी अनेक मानव-निर्मित विपत्तियों और घोर आपदाओं को झेलना पड़ा। इतिहास हमें यह भी बताता है कि उन बुराइयों को कैसे नजरअंदाज करें जिन्होंने समाज में समस्याएँ खड़ी कर दी थीं और उन बातों का कैसे अनुसरण करें जिनसे समरसता, शांति और समृद्धि को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के लिए, दो हज़ार वर्ष से भी अधिक पहले, अशोक ने अपने बारहवें शिलालेख में, समाज में समरसता, शांति और समृद्धि बनाए रखने के लिए निम्नलिखित उपाय और व्यवहार अपनाने का आग्रह किया था :

"(i) उन बातों को बढ़ावा दिया जाए, जो सभी धर्मों के मूल तत्व हैं;

(ii) सभी धर्मों की एकता के भाव को बढ़ावा दिया जाए और इसके लिए *वाचागुटी* अपनाई जाए, यानी अन्य धर्मों और पंथों की आलोचना से बचा जाए;

(iii) धर्म सभाओं में सभी धर्मों के प्रतिपादकों का *समवाय* हो यानी उन्हें एक साथ लाया जाए; और

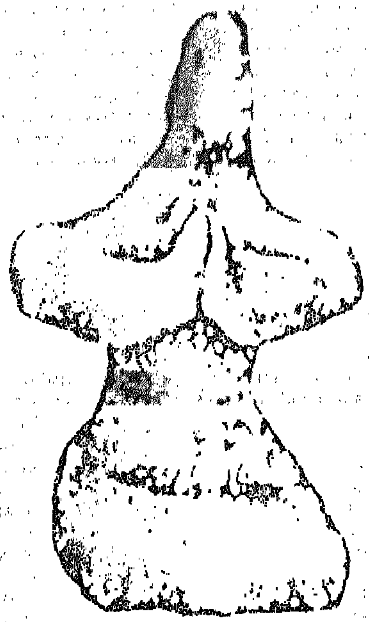
(iv) अन्य धर्मों के ग्रंथों का गहन अध्ययन किया जाए, जिससे कि *बहुश्रुत* हो सके, यानी भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया जाए।"

इतिहास लोगों को उनकी पहचान देता है। अतीत के अध्ययन का यह अर्थ नहीं कि अध्ययनकर्ता अतीत में जीता है, बल्कि वह अतीत के साथ जीना सीख लेता है। इतिहास कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिसे हम अस्वीकार कर सकें या जिसका परित्याग कर सकें।

जैसा कि पहले कहा गया है, इतिहास किसी समाज या राष्ट्र को उसकी पहचान देता है। इतिहास के इसी अध्ययन के आधार पर, ब्रिटिश इतिहासकार ए.एल. बाशम (1914-1986) ने अपनी पुस्तक *दि वंडर दैट वाज इंडिया* में लिखा है :

"अपने इतिहास के अधिकांश कालों में, भारत यद्यपि एक सांस्कृतिक इकाई बना रहा, पर साथ ही परस्पर संहारक युद्धों से छिन्न-भिन्न होता गया। राज्यतंत्र के मामले में उसके शासक धूर्त और अनैतिक थे। वहाँ अकाल, बाढ़ और प्लेग जैसी आपदाओं का प्रकोप समय-समय पर होता रहा और लाखों लोगों की जान लेता रहा। जन्म की असमानता को (यानी मनुष्य जन्म से ही छोटा-बड़ा होता है इस बात को) वहाँ धार्मिक मान्यता प्राप्त थी और निम्नकोटि के लोगों का जीवन सामान्यतः कठोर था। तो भी कुल मिलाकर हमारा विचार यही है कि प्राचीन विश्व के किसी भी अन्य भाग में मनुष्य-मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा राज्य के बीच के संबंध इतने अच्छे और मानवोचित नहीं रहे, जितने भारत में थे। आदिकालीन किसी भी अन्य सभ्यता में दास इतनी कम संख्या में नहीं थे और किसी भी अन्य कानून की प्राचीन पुस्तक में उनके अधिकार इतनी अच्छी तरह सुरक्षित नहीं थे, जितने कि *अर्थशास्त्र* में। किसी भी प्राचीन विधि-निर्माता ने युद्ध में न्यायोचित व्यवहार के इतने उदात्त विचार प्रकट नहीं किए, जितने कि मनु ने किए। अपने युद्धों के इतिहास में हिंदू भारत में शायद

ही कोई ऐसा प्रसंग आया हो कि नगरों में कत्लेआम किया गया हो या युद्ध न करने वाले नागरिकों को मौत के घाट उतारा गया हो। असीरिया के राजाओं को नृशंसतापूर्वक अपने बंदियों की जिंदा खाल उधड़वाने में जो परपीड़ा सुख मिलता था, वैसा एक भी उदाहरण प्राचीन भारत के इतिहास में नहीं मिलता। इसमें संदेह नहीं कि कभी-कभार निर्दयता या अत्याचार का कोई इक्का-दुक्का प्रसंग मिल जाता है लेकिन अन्य पुरानी संस्कृतियों में हुई नृशंसतापूर्ण घटनाओं के मुकाबले में वह बहुत नरम है। हमारे लिए तो प्राचीन भारतीय संस्कृति की अत्यंत प्रभावशाली विशेषता उसकी मानवीयता है।"



अध्याय 2

# प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन

**इतिहास** के अध्ययन का एक रोचक पहलू स्वयं इतिहास लेखन के इतिहास को जानना है। इससे आपको इस बात की झलक मिलती है कि बदलती व्याख्याओं से कैसे स्वयं इतिहास भी बदल जाता है।

## इतिहास लेखन की भारतीय परंपरा

**इतिहास** के अध्ययन का एक रोचक पहलू स्वयं इतिहास लेखन के इतिहास को जानना है। इससे आपको इस बात की झलक मिलती है कि बदलती व्याख्याओं से कैसे स्वयं इतिहास भी बदल जाता है। किस प्रकार एक ही आधारभूत जानकारी और एक ही साक्ष्य का विभिन्न विद्वानों के हाथों में जाकर बिल्कुल भिन्न अर्थ हो जाता है। इस अध्याय में हम प्राचीन भारतीय इतिहास के ठीक इसी पहलू की जानकारी प्राप्त करेंगे। हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन कब और कैसे शुरू हुआ और एक बहुत लंबे काल में विभिन्न मार्गों को तय करते हुए, इसने किस प्रकार उत्तरोत्तर प्रगति की। बहुत-से विदेशी विद्वानों का मत था कि भारतीयों में इतिहास लेखन की कोई समझ नहीं थी और इतिहास के नाम पर जो कुछ भी लिखा गया था, वह बिना किसी अर्थ वाली कहानी से अधिक कुछ नहीं है। उनका यह निर्णय बड़ा कठोर प्रतीत होता है। यह कहना कि भारतीयों को अपने इतिहास का कोई बोध नहीं था और उन्हें इतिहास लेखन की कोई समझ नहीं थी, बिल्कुल गलत है। प्राचीन भारत में इतिहास के ज्ञान को बहुत उच्च स्थान दिया जाता था। उसे वेद के समान पवित्र माना जाता था। *अथर्ववेद*, *ब्राह्मणों* और *उपनिषदों* में इतिहास-*पुराण* को ज्ञान की एक शाखा के रूप में शामिल किया गया है। कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* (चौथी शताब्दी ई.पू.) में राजा को यह सलाह दी है कि उसे प्रतिदिन अपना कुछ समय इतिहास का वर्णन सुनने में लगाना चाहिए। *पुराणों* के अनुसार इतिहास के ये विषय हैं : सर्ग (सृष्टि की उत्पत्ति), *प्रतिसर्ग* (सृष्टि का प्रत्यावर्तन एवं प्रतिविकास), *मन्वंतर* (समय की आवृत्ति), *वंश* (राजाओं और ऋषियों की वंशावली) और *वंशानुचरित* (कुछ चुने हुए पात्रों की जीवनियाँ)।

पौराणिक साहित्य बड़ा विशाल है और 18 मुख्य *पुराण* हैं, 18 *उप-पुराण* हैं और अनेक अन्य ग्रंथ हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी *पुराणों* में राजवंशों का वर्णन अर्जुन के पौत्र, परीक्षित के शासनकाल को आधारभूत संदर्भ बिंदु (बैंचमार्क) मानते हुए, किया गया है। उससे पहले के सभी राजवंशों और राजाओं का उल्लेख भूतकाल में किया गया है और उत्तरवर्ती राजाओं और राजवंशों का उल्लेख भविष्यकाल में किया गया है। संभवतः इसका कारण यह है कि परीक्षित के राज्यारोहण को कलियुग का प्रारंभ माना जाता है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि यह इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि शायद पुराणों के लिखे जाने का कार्य परीक्षित के शासनकाल में पूरा हुआ था।

पुराणों के संदर्भ में यह स्मरण रहे कि प्राचीन भारत में इतिहास को अतीत के प्रकाश में वर्तमान और भविष्य को आलोकित करने का साधन समझा जाता था। इतिहास का प्रयोजन यह समझना और बताना था कि व्यक्तियों का परिवार के प्रति, परिवारों का अपने वंश के प्रति, वंशों का गाँव के प्रति, गाँवों का जनपद व राष्ट्र के प्रति और अंततः समूची मानवता के प्रति क्या कर्तव्य है और उनमें त्याग एवं बलिदान की भावना कैसे उत्पन्न की जाए। इतिहास को राजाओं, राजवंशों के नामों और उनकी उपलब्धियों आदि का विशाल संग्रह नहीं समझा जाता था। इसे सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना जाग्रत करने का एक सशक्त साधन माना जाता था। शायद इसलिए वर्षा ऋतु में और त्योहारों एवं पर्वों के अवसर पर प्रत्येक गाँव और नगर में पुराणों का

वाचन और श्रवण वार्षिक समारोहों का एक आवश्यक अंग था। हो सकता है कि पुराण आधुनिक इतिहास लेखन की कसौटी पर खरे न उतरें, अथवा जिन्होंने इसे लिखा है, उन्हें "इतिहासकार के शिल्प-विधान" का ज्ञान न हो, किंतु उन्हें अपने कार्य के प्रयोजन और स्वयं इतिहास के प्रयोजन की पूरी जानकारी थी।

एफ.ई. पार्जिटर और एच.सी. रायचौधुरी जैसे बहुत-से इतिहासकारों ने पुराणों में वर्णित विभिन्न राजवंशों की वंशावलियों के आधार पर इतिहास लिखने की कोशिश की है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ (324-300 ई.पू. में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में) ने उन 153 राजाओं की सूची के अस्तित्व में होने की पुष्टि की है, जो तब तक बीते 6,053 वर्षों में हुए थे।

कल्हण लिखित *राजतरंगिणी* इतिहास की एक अन्य ऐसी कृति है जो निस्संदेह अपने किस्म का एकमेव उदाहरण है। अपने दृष्टिकोण और अपनी ऐतिहासिक विषय-वस्तु के लिए इतिहासकारों में इसका बहुत अधिक सम्मान है।

## प्रारंभिक विदेशी

जब हम प्राचीन भारत के बारे में भारत की सीमाओं से बाहर लिखे गए इतिहास पर नजर डालते हैं, तो हमें पता चलता है कि इस दिशा में सबसे पहला प्रयास यूनानी लेखकों का है। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय हेरोडोटस, नियारकस, मेगस्थनीज़, प्लुटार्क, एरियन, स्ट्रैबो, ज्येष्ठ प्लिनी और टॉलेमी हैं। लेकिन, मेगस्थनीज़ को छोड़कर, इन सभी ने भारतीय इतिहास को सही अर्थों में केवल सीमांतिक रूप से स्पर्श किया है। उनका सरोकार अधिकांशतः भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों और प्रधानतः उन क्षेत्रों से ही रहा, जो फारस (पर्शिया) और यूनान के क्षत्रपों के राज्यों के भाग थे अथवा जहाँ सिकंदर का अभियान हुआ था। मेगस्थनीज़ ने अपनी *इंडिका* नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है, लेकिन यह पुस्तक आज हमें उपलब्ध नहीं है। हमें मेगस्थनीज़ द्वारा लिखित बातों का पता डायोडोरस, स्ट्रैबो और एरियन के लेखों में शामिल अनेक उद्धरणों से लगता है। यह बहुत स्पष्ट है कि मेगस्थनीज़ को भारतीय समाज और सामाजिक व्यवस्था की बहुत कम जानकारी थी। उदाहरण के लिए, उसने लिखा है कि भारतीय समाज सात जातियों पर आधारित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि मेगस्थनीज़ के लेखों में जो विसंगतियाँ पाई जाती हैं, उनका कारण यह है कि उसे किसी भारतीय भाषा का ज्ञान नहीं था। वह भारतीय समाज का अंग नहीं था और इसलिए यहाँ के जन-मानस से परिचित नहीं था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ईसा की पहली कुछ शताब्दियों के दौरान भारत के साथ गहरे व्यापारिक संबंधों के बारे में उस काल की भारतीय साहित्य-परंपरा में इतने कम उल्लेख मिलते हैं।

इतिहास लेखन का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण अल-बेरूनी से शुरू होता है, जिसका जन्म सन् 973 ई. में मध्य एशिया में हुआ था और जिसकी मृत्यु 1048 ई. में गज़नी (वर्तमान अफगानिस्तान) में हुई थी। वह अपने समय का एक महान विद्वान था और गज़नी के महमूद का समकालीन था। जब महमूद ने मध्य एशिया के कुछ भाग पर विजय प्राप्त की, तो वह अल-बेरूनी को अपने साथ ले गया। यद्यपि अल-बेरूनी को अपनी स्वतंत्रता छिन जाने का दुःख था, लेकिन उसने अपने कार्य के लिए अनुकूल परिस्थितियों की सराहना की। मेगस्थनीज़ के विपरीत, अल-बेरूनी ने संस्कृत भाषा का

अध्ययन किया और भारतीय स्रोतों का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश की। उसने जिन रचनाओं का अध्ययन किया, उनकी सूची काफी लंबी और प्रभावोत्पादक है। उसके अध्ययन का क्षेत्र दर्शन, धर्म, संस्कृत और समाज से लेकर विज्ञान, साहित्य, कला और चिकित्सा तक है। अल-बेरूनी की कृति को काफी हद तक वस्तुपरक कहा जा सकता है और जहाँ कहीं भी उससे गलती हुई है, वह किसी अन्य कारणों से नहीं; बल्कि उस प्रसंग को ठीक तरह से समझ न पाने के कारण हुई है। अल-बेरूनी को तुलनात्मक रूप से उन धार्मिक अथवा नस्ली पक्षपात से मुक्त होने का श्रेय दिया जा सकता है, जो हमें उसके परवर्ती मुस्लिम अथवा यूरोपीय लेखकों की कृतियों में देखने को मिलता है। लेकिन अल-बेरूनी भी कभी-कभी अपना क्षोभ व्यक्त करता है, जब वह व्यंग्यपूर्वक यह कहता है कि "हिंदू यह सोचते हैं कि उनके देश के जैसा अन्य कोई देश नहीं है, उनके राष्ट्र जैसा कोई राष्ट्र नहीं है, उनके राजा जैसा कोई राजा नहीं है, उनके धर्म जैसा कोई धर्म नहीं है, उनके विज्ञान जैसा कोई विज्ञान नहीं है।"

## ईसाई धर्मप्रचारक और ज्ञानोदय

इतिहास लेखन के अगले चरण का संबंध यूरोपीय हितों, मुख्यतः ईसाई धर्मप्रचारकों से है। भारत के बारे में अनेक ग्रंथों की रचना की गई, लेकिन इनमें से किसी एक की भी तुलना अल-बेरूनी की कृतियों से नहीं की जा सकती। हालांकि अल-बेरूनी में भी एक सुपरिभाषित धार्मिक और आस्थात्मक चेतना थी, लेकिन वह मूलतः एक विद्वान था और अपने धर्म का प्रचार करने को प्रेरित नहीं था। ईसाई धर्मप्रचारकों की अधिकतर रचनाओं को निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। भारत के इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करने और लिखने में उनकी अधिक रुचि, उसके दोष दर्शाने और अपने धर्मप्रचार संबंधी क्रियाकलापों के लिए भूमिका तैयार करने में थी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में उनका योगदान यूरोप के धार्मिक, बौद्धिक और राजनैतिक आंदोलनों से भी प्रभावित था, लेकिन यहाँ उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए कि इन सबके परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास के बारे में न केवल बहुत बड़ी मात्रा में योगदानों का संचय हो गया, बल्कि भारतीय इतिहास यूरोप की राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं का शिकार भी बना।

ज्ञानोदय होने के साथ-साथ भारत के बारे में यूरोपीय इतिहास लेखन का एक अन्य दौर प्रारंभ हुआ। जॉन होलवेल, नेन्थेनियल हालहेड और अलेक्ज़ेंडर डी ने, जो सभी ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कंपनी से जुड़े थे, भारतीय इतिहास और संस्कृति के बारे में लिखा और प्राचीन संसार में भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता सिद्ध की।

उन्होंने पौराणिक स्रोतों के आधार पर मानव जाति के अति प्राचीन होने का भी वर्णन किया। होलवेल ने लिखा कि हिंदू ग्रंथों ने ईसाई ग्रंथों में उद्घाटित सत्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ सत्य का उद्घाटन किया है और उन्होंने ओल्ड टेस्टामेंट में वर्णित बाढ़ आने के समय को उससे कहीं पहले का माना है। होलवेल ने यह भी लिखा है कि मिस्रवासियों, यूनानियों और रोमनों की मिथकविद्या (पौराणिक कथाएँ) और सृष्टि मीमांसा ब्राह्मणों के सिद्धांतों से उधार ली गई हैं। हालहेड ने भी भारतीय इतिहास, धर्म, पौराणिक कथाओं, आदि के विभिन्न पहलुओं की आलोचनात्मक ढंग से जाँच की थी। उसने चार युगों में विभाजित मानव इतिहास की विशाल अवधियों के बारे में चर्चा की और यह

निष्कर्ष निकाला कि मानव उत्पत्ति से लेकर उसके विकास तक का इतिहास मात्र कुछ हजार वर्षों में समेटा नहीं जा सकता है। इतने लंबे इतिहास को मात्र कुछ हजार वर्षों में समेट देना तर्कसंगत भी प्रतीत नहीं होता। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के यूरोप में रचित साहित्य के विशाल परिमाण के आधार पर बहुत-से विद्वानों और बुद्धिजीवियों ने, जिन्होंने कभी भारत देखा भी नहीं था, भारत के बारे में लिख डाला। महान बुद्धिजीवी और राजनीति-विशारद, वोल्तेयर ने भारत को धर्म के सबसे प्राचीन और विशुद्ध रूप की वासभूमि और विश्व की सभ्यता की शैशवस्थली (पालना) माना था। वोल्तेयर धर्मनिरपेक्ष विद्या और सांसारिक संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय उपलब्धियों की प्राथमिकताओं के विषय में आश्वस्त था। उसने भारतीयों का वर्णन करते हुए कहा था कि "अपने अंकों, बैकगैमन (पासे के खेल), और शतरंज के खेल, रेखागणित के अपने प्रथम सिद्धांतों और अपनी कथा-कहानियों के लिए, जो हमारी अपनी बन चुकी हैं, हम भारतीय लोगों के ऋणी हैं।" उसने आगे लिखा था कि "संक्षेप में मेरी यह मान्यता है कि हमारी प्रत्येक चीज़ — खगोल विद्या, ज्योतिष विद्या, अध्यात्म विद्या, तत्व-मीमांसा आदि — गंगा के तट से आई है।"

फ्रांसीसी प्रकृति-वैज्ञानिक और यात्री पियर दि सोन्नरेत का भी विश्वास था कि सारा ज्ञान भारत से आया है, जिसे वह सभ्यताओं की जन्मभूमि मानता था। 1807 ई. में, प्रसिद्ध दार्शनिक शेलिंग ने लिखा था कि "वास्तव में यूरोप एक ठूँठ (अनुपजाऊ तने) के अलावा और क्या है, जो *अपनी हर चीज़ के लिए प्राच्य पैबंदों का ऋणी है?"* विख्यात दार्शनिक, इमेन्युअल कांट ने भी प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की महानता को स्वीकार किया था। उन्होंने लिखा था कि "उनके धर्म में एक महान विशुद्धता थी... (और) उसमें हमें देवत्व की विशुद्ध संकल्पना के चिह्न मिल सकते हैं, जो हमें अन्यत्र कहीं आसानी से प्राप्त नहीं हो सकते।" उन्होंने यह भी घोषित किया था कि भारतीय धार्मिक विचार मतांधता और असहिष्णुता से मुक्त हैं।

## साम्राज्यवादी इतिहास लेखन

हमने इससे पहले भारत में ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियों और भारतीय इतिहास लेखन में उनके हित का उल्लेख किया है। औपनिवेशिक हितों के अलावा, 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना ने भी भारतीय इतिहास को उन्हें अपने तरीके से लिखने में सहायता की, किंतु इसी समय यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि उस समय के अधिकांश लेखन से धार्मिक आस्थाओं और राष्ट्रीयता संबंधी तत्कालीन वाद-विवाद का और आर्थिक स्वार्थसाधन के लिए यूरोपीय उपनिवेशों का विस्तार करने के उनके हितों का परिचय मिलता है। इस पथ का अनुसरण करने वाले, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवियों में कुछ ये हैं : विलियम जोन्स, मैक्स मूलर, मोनियर विलियम्स, जे.एस. मिल, कार्ल मार्क्स और एफ.डब्ल्यू. हेगल। बीसवीं शताब्दी के इस विचारधारा के इतिहासकारों में सबसे प्रसिद्ध विंसेंट आर्थर स्मिथ (1843-1920) था, जिसने प्राचीन भारत का सबसे पहला सुनियोजित इतिहास तैयार किया, जो 1904 में प्रकाशित हुआ था।

जब भारत का अतीत गौरव लोकप्रिय होना शुरू हुआ और भारतीय दर्शन, तर्कशास्त्र, और सृष्टि की उत्पत्ति, मानव जाति और उसकी आयु आदि के बारे में भारतीय लेखन को स्वीकृति मिलनी शुरू हुई

तो बहुत-से यूरोपीय विद्वानों को चिंता होने लगी। लगभग एक हजार वर्ष से अधिक समय से यूरोप के अधिकांश लोगों ने ओल्ड टेस्टामेंट को मानव जाति के इतिहास को अभिलेखबद्ध करने वाला अंतिम एवं अकाट्य प्रमाण स्वीकार कर रखा था। उदाहरण के लिए, थॉमस मौरिस, यह सब देख कर बुरी तरह से विक्षुब्ध हो उठा। उसने 1812 में लिखा "विश्व की आयु के बारे में कुछ संशयी फ्रांसीसी दार्शनिकों की दुस्साहसिक कल्पनाओं... तर्कों, जो मुख्यतः उन ब्राह्मणों की काल्पनिक उड़ानों पर आधारित थीं, मूसा द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था, और इसके साथ-साथ, ईसाई धर्म को पलटने की प्रत्यक्ष प्रवृत्ति है।" ये लोग सृष्टि की सृजन बाइबिल की कथा के बारे में भी अत्यंत चिंतित हो उठे थे। बिशप अशर ने हिसाब लगाया था कि समूची सृष्टि की उत्पत्ति 23 अक्तूबर, 4004 ई.पू. को 9.00 बजे प्रातः की गई थी और महान बाढ़ 2349 ई.पू. में आई थी। भारतीय पौराणिक कथाओं के समक्ष अब तो इन तारीखों और इनके सृजन की कथाओं के गलत साबित होने का खतरा पैदा हो गया था। इन भारतीय पौराणिक कथाओं में चार युग और करोड़ों वर्ष बीतने का उल्लेख किया गया था। इससे उनके विश्वास की नींव खतरे में पड़ गई थी।

किंतु उनके मत के श्रद्धालुओं को "इस विषय पर सर विलियम जोन्स के विभिन्न निबंध लेखों के... सौभाग्यपूर्ण आगमन" से राहत मिली। इस बारे में सर विलियम जोन्स की चिंता किसी अन्य व्यक्ति से कम नहीं थी। उन्होंने 1788 में लिखा था कि "कुछ बुद्धिमान और भले लोगों को मूसा के विवरणों की प्रमाणिकता में संदेह होने लगा है।" जोन्स का इस बारे में बहुत स्पष्ट विचार था कि "या तो 'जेनेसिस' के पहले ग्यारह अध्याय... सही हैं, अथवा हमारे धर्म का समूचा ताना-बाना मिथ्या है, और यह एक ऐसा निष्कर्ष है, जो हममें से कोई भी निकलवाना नहीं चाहेगा।"

अपने धर्म के निष्ठावान लोगों की बढ़ती हुई चिंता को देखते हुए, कर्नल बोडन द्वारा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के बोडन आचार्य-पद की स्थापना विशेष रूप से अंग्रेजों में संस्कृत सीखने को बढ़ावा देने के लिए की गई, ताकि "उसके देश के लोग भारतवासियों का ईसाइयों के रूप में धर्मांतरण कर सकें।" भारतीय परंपरा और धर्म को नीचा दिखाने वाली साहित्यिक कृतियों के लिए पुरस्कारों का प्रलोभन दिया गया। बोडन पीठ (चेयर) का पहला अधिष्ठाता होरेस हेमैन विल्सन था। अपने द्वारा दिए गए भाषणों की श्रृंखला के बारे में लिखते हुए, विल्सन ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया कि "ये भाषण हिंदू धार्मिक प्रणालियों का सबसे जोरदार खंडन करने के लिए... जॉन म्यूर द्वारा दिए जाने वाले 200 पौंड का इनाम पाने में उम्मीदवारों की सहायता करने के लिए लिखे गए थे।"

फ्रेड्रिक मैक्स मूलर उन्नीसवीं शताब्दी का एक सबसे अधिक सम्मानित भारतीय विद्या-विशारद समझा जाता है। वह एक जर्मन था, लेकिन उसने अपना अधिकांश जीवन इंग्लैंड में बिताया था। ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कंपनी के अनुरोध पर और उसकी वित्तीय सहायता से, उसने भारतीय धार्मिक ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद करने और उनकी व्याख्या करने का अति विशाल कार्य हाथ में लिया। यद्यपि उसने संस्कृत ग्रंथों के विशाल भंडार का अनुवाद करने और इस प्रकार उन्हें अंग्रेजी-भाषी संसार की जानकारी में लाने का अभूतपूर्व कार्य किया, लेकिन उसका दृष्टिकोण और मंतव्य कभी

भी पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं था। वे उसके धार्मिक विश्वास और राजनीतिक आवश्यकताओं से प्रभावित थे। इन दोनों बातों से भारतीय इतिहास को लिखने और उसकी व्याख्या करने का समूचा दृष्टिकोण प्रभावित हुआ।

सन् 1857 में मैक्स मूलर ने ड्यूक ऑफ आरगिल को लिखा कि "मैं 'जेनेसिस' में वर्णित सृष्टि के सृजन को बिल्कुल ऐतिहासिक मानता हूँ।" इसलिए, कालावधि के रूप में उसके पास केवल 6,000 वर्षों का, अर्थात् 4000 ई.पू. तक का समय था, जिसके भीतर सृष्टि के समूचे इतिहास को समायोजित किया जाना था। यही वह मार्गनिर्देशक सिद्धांत था, जिसके तहत विलियम जोन्स, मैक्स मूलर, विन्सेंट स्मिथ और अन्य लोगों ने भारतीय इतिहास लिखा।

सबसे पहले इस मामले को तय करने के लिए, विलियम जोन्स ने अपने क्षुब्ध सहयोगियों के लाभ और संतोष के लिए भारतीय कालक्रम की गुत्थी सुलझाने का जिम्मा उठाया, "मैं आपके समक्ष भारतीय कालक्रम का, जो संस्कृत की पुस्तकों से निकाला गया है, संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना चाहता हूँ, और चूंकि मैं किसी प्रणाली से संबद्ध नहीं हूँ, इसलिए यदि मूसा संबंधी इतिहास गलत प्रमाणित होता है तो मैं उसे उसी तरह से नकार दूँगा, जिस तरह कि मैं उस पर उस स्थिति में विश्वास कर लूँगा, यदि उसकी पुष्टि असंदिग्ध साक्ष्य के आधार पर ठोस तर्क द्वारा होगी।" इस प्रकार के आश्वासनों के बावजूद, इस मामले में जोन्स के अपने बौद्धिक झुकाव का परिचय उसके पहले के अनेक लेखों से मिलता था। उदाहरण के लिए, सन् 1788 ई. में उसने लिखा था कि, "मेरे लिए (जेनेसिस की) आदरणीय पुस्तकों की पवित्रता पर विश्वास करना अनिवार्य है।" सन् 1790 में जोन्स ने यह दावा करते हुए अपने शोध-कार्यों का समापन किया कि "मैंने अब से लेकर पिछले तीन हजार आठ सौ वर्षों से अधिक समय के भारतीय साम्राज्य की नींव खोज ली है," जो बिशप अशर की सृष्टि की उत्पत्ति 4004 ई. पू. तारीख की सीमाओं के भीतर है और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह कि वह महान बाढ़ की काल-सीमा के भीतर भी आ जाती है, जो जोन्स के विचार के अनुसार 2350 ई.पू. में आई थी। जब संस्कृत साहित्य के कालक्रम का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो मैक्स मूलर के सामने भी यह कठिनाई उपस्थित हुई। अपना स्वयं का कोई आधार न होने के कारण और प्रत्येक भारतीय साक्ष्य को नकारते हुए, उसने समूचे संस्कृत साहित्य का समय मनमाने ढंग से निर्धारित कर दिया और सबसे पहली रचना, अर्थात् *ऋग्वेद* को 1500 ई.पू. के समय, अर्थात् एक बार फिर 'जेनेसिस' के कालक्रम की सुरक्षित सीमाओं के भीतर, लिखा गया बताया।

यूरोपीय विशेष रूप से ब्रिटेन के विद्वानों के इन प्रयासों से ईसाई धर्म और उसके निष्ठावान अनुयायियों को कुछ राहत मिली और उनके लिए यह नया दृष्टिकोण सुरक्षित बन गया। इन कृतियों, विशेषतः जोन्स की कृतियों के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए, ट्रॉटमैन (1997 में) ने लिखा है कि "जोन्स ने वस्तुतः यह सिद्ध किया कि संस्कृत साहित्य बाइबिल का शत्रु नहीं, बल्कि उसका मित्र है, जो इतिहास के बारे में बाइबिल के कथन की पुष्टि करता है। कालक्रम के बारे में जोन्स के अनुसंधानों से स्थिति कुछ हद तक शांत हो गई और उनसे इस बात की प्रभावकारी गारंटी मिली कि हिंदू धर्म की नई प्रशंसा से ईसाई धर्म को बल मिलेगा और इससे उसके (ईसाई धर्म के) उखाड़े जाने में सहायता नहीं मिलेगी।"

इस प्रकार भारतीय इतिहास की नियति अब ईसाई धर्म की सुरक्षा और उसकी मर्जी के साथ जुड़ गई। भारतीय-विद्या के प्रमुख यूरोपीय विद्वानों के प्रयासों के परिणामों को और उनके उद्देश्यों की परिणति को उनके निजी पत्र-व्यवहार में देखा जा सकता है। मैक्स मूलर ने *सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट* के 50 खंडों के संपादन के अपने महान कार्य के बारे में अपनी पत्नी को लिखा कि "मेरा यह संस्करण और वेदों का अनुवाद आज के बाद भारत के भाग्य और उस देश के करोड़ों लोगों की आत्माओं के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है और मेरा विश्वास है कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल क्या है, उस सबका मूलोच्छेदन करने का एकमेव मार्ग है, जो पिछले तीन हजार वर्षों के दौरान उससे उत्पन्न हुआ है।" इसके दो वर्ष बाद 1868 में मैक्स मूलर ने ड्यूक आफ आरगिल को, जो उस समय ब्रिटेन का भारत संबंधी मामलों का राज्य मंत्री (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) था, लिखा कि, "भारत के प्राचीन धर्म का विनाश होने वाला है, और यदि ईसाई धर्म इसका स्थान नहीं लेता, तो दोष किसका होगा?"

मैक्स मूलर इस प्रकार का इतिहास लिखने वाला और भारत की भूमि से सभी भारतीय परंपराओं के मूलोच्छेदन की कामना करने वाला अकेला व्यक्ति नहीं था। मोनियर-विलियम्स ने, जो अपने *संस्कृत-अंग्रेजी* और *अंग्रेजी-संस्कृत* शब्दकोशों के लिए विख्यात है और ऑक्सफोर्ड में संस्कृत के विषय का बोडन प्रोफेसर था, 1879 में लिखा कि "...जब ब्राह्मण धर्म (हिंदू धर्म) के सुदृढ़ दुर्ग की दीवारों की घेराबंदी हो जाएगी, उन्हें कमजोर बना दिया जाएगा और जब अंततः ईसाई धर्म (क्रॉस) के सैनिकों द्वारा उन पर आक्रमण किया जाएगा, तो ईसाइयत की ही अवश्यमेव संपूर्ण जीत होगी।"

इस प्रकार, हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में भारतीय इतिहास के बारे में लिखित अधिकांश पुस्तकें 'जेनेसिस' में विश्वास द्वारा आरोपित पूर्व-शर्तों से ही मार्ग-निर्देशित थीं और उन सभी रचनाओं अथवा पुस्तकों का प्रतिवाद करने के लिए लिखी गई थीं, जिनमें भारत की महान सभ्यता और भारतीय दर्शन शास्त्र और चिंतन के रूप में भारत के अतीत की छवि प्रदर्शित की गई थी, जिससे सृष्टि और मानव जाति की उत्पत्ति का अति पुरातन काल में होने का संकेत मिलता था।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, जिस एक अन्य घटक से प्राचीन भारतीय इतिहास को विकृत करने में मदद मिली, वह था भारत में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हित। हम देखते हैं कि सन् 1804 तक भारत के प्रति ब्रिटेन के रवैये में एक सुस्पष्ट परिवर्तन हो गया था। ब्रिटिश लोगों के हाथों फ्रांसीसियों की पराजय होने और मराठों की शक्ति क्षीण होने के बाद, ब्रिटेन के लोग भारत पर अपने शासन के बारे में आश्वस्त हो गए थे, लेकिन वे इस बात से चिंतित थे कि भारत में आने वाले ब्रिटेन के नागरिक ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आ रहे थे और उनमें हीन भावना उत्पन्न हो रही थी। इस समस्या पर काबू पाने और ब्रिटिश अधिकारियों में पश्चिमी सभ्यता के बारे में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न करने के लिए, उन्होंने एक दोहरी कार्यनीति अपनाई। सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण वह मुहिम थी, जो जेम्स मिल के नेतृत्व में उपयोगितावादी शाखा (यूटिलिटेरियन स्कूल) द्वारा शुरू की गई थी; जेम्स मिल ने 1806

और 1818 के बीच की अवधि में छः खंडों में भारत का इतिहास लिखा, जबकि वह न कभी भारत आया था और न ही उसे किसी भारतीय भाषा का ज्ञान था। इसमें उसने भारतीय इतिहास को, बिना किसी तर्क और औचित्य के, तीन भागों में विभाजित किया— पहला हिंदू काल, दूसरा मुस्लिम काल और तीसरा ब्रिटिश काल। उसने हिंदू काल की एक अत्यंत घटिया छवि प्रस्तुत की। उसने हिंदू काल की प्रत्येक संस्था, विचार और कार्य की निंदा की और देश की सभी बुराइयों के लिए हिंदुओं को जिम्मेदार ठहराया। यह पुस्तक इंग्लैंड के हारलेबरी स्कूल में पाठ्यपुस्तक के रूप में निर्धारित की गई, जिसकी स्थापना प्रशासकों और सैनिक अधिकारियों के रूप में भारत आने वाले युवा अंग्रेजों को शिक्षा देने के लिए की गई थी। जेम्स मिल, उसके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल और उसके शिष्य मैकाले ने भारत में साम्राज्यवादी नीति और भारतीय शिक्षा के भविष्य को रूप देने में प्राचीन भारत के इस विकृत इतिहास की सहायता से बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जेम्स मिल के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए भारत में ब्रिटेन की सरकार की सेवा में, नियुक्त, वी.ए. स्मिथ नाम के एक आई.सी.एस. अधिकारी ने 1904 में *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (भारत का प्राचीन इतिहास) नामक एक पाठ्यपुस्तक तैयार की। सिविल सेवा के वफादार सदस्य के रूप में, उसने भारत में विदेशियों की भूमिका पर बल दिया। उसकी पुस्तक में लगभग एक-तिहाई भाग सिकंदर के आक्रमण के बारे में था। स्मिथ का जातीय अहंकार स्पष्ट हो जाता है, जब वह लिखता है कि "हिमालय से लेकर समुद्र तक सिकंदर के विजय अभियानों से एशिया की सबसे बड़ी सेनाओं की अंतर्निहित दुर्बलताएँ उजागर हो गईं, जब उनका सामना यूरोपीय कौशल और अनुशासन से हुआ।" वी.ए. स्मिथ यह दर्शाने का प्रयत्न करता है, जैसे सिकंदर ने हिमालय से समुद्र तक संपूर्ण भारत को जीत लिया था, जबकि तथ्य यह है कि उसने केवल भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को छुआ भर था और जैसा कि हम संबंधित अध्याय में देखेंगे, यह वास्तव में एक नगण्य घटना थी। स्मिथ ने भारत को एक निरंकुश देश के रूप में प्रस्तुत किया, जहाँ अंग्रेजों, का शासन स्थापित होने के समय तक कभी कोई राजनीतिक एकता नहीं थी। उसने लिखा है कि, "मुख्य रूप से भारत के इतिहासकारों का सरोकार शासन के एकमेव स्वरूप एकतंत्रीय शासन से रहा है।"

साम्राज्यवादी इतिहासकारों के समूचे दृष्टिकोण को इतिहासकार, आर.एस. शर्मा ने बहुत बढ़िया ढंग से सारांश रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के इतिहास की जो व्याख्या की है, उसका उद्देश्य था भारत के चरित्र और उसकी उपलब्धियों को नीचा दिखाना और विदेशी शासन को न्यायोचित ठहराना।... लेकिन इन इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित सामान्य निष्कर्ष या तो मिथ्या हैं अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। वे ब्रिटिश तानाशाही को कायम रखने के लिए अच्छी प्रचार-सामग्री का काम दे सकते थे।... ऐसे सभी निष्कर्षों का वास्तविक मंतव्य यह दिखाना था कि भारतीय अपना शासन स्वयं करने में असमर्थ हैं।"

## राष्ट्रवादियों का दृष्टिकोण

एक ही साक्ष्य के बारे में मतभेदों का और उसकी अलग-अलग व्याख्या का न केवल सम्मान किया जाता है, बल्कि इसे शैक्षिक संसार के स्वस्थ विकास के लिए अत्यंत आवश्यक भी समझा जाता है। लेकिन किसी के अतीत के इतिहास को विकृत करने

के बारे में मतभेद एक बिल्कुल अलग बात है। उन्नीसवीं शताब्दी का सुशिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग प्राचीन भारतीय इतिहास की इन मिथ्या विकृतियों को देखकर घबरा गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में राजेंद्र लाल मित्र, आर.जी. भंडारकर और वी.के. राजवाड़े जैसे कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। भंडारकर और राजवाड़े दोनों ने महाराष्ट्र क्षेत्र के इतिहास के बारे में काम किया और उस क्षेत्र के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक इतिहास का पुनर्निर्माण किया।

लेकिन, इतिहास के साम्राज्यवादी संस्करण को वास्तविक चुनौती बीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों में मिली। इस काल के सर्वाधिक उल्लेखनीय इतिहासकार डी.आर. भंडारकर, एच.सी. रायचौधुरी, आर.सी. मजूमदार, पी.वी. काणे, ए. एस. अल्तेकर, के.पी. जायसवाल, के.ए. नीलकंठ शास्त्री, टी.वी. महालिंगम, एच.सी. राय और आर.के. मुकर्जी हैं। डी.आर. भंडारकर (1875-1950) ने पुरालेखों और सिक्कों के साक्ष्य के आधार पर प्राचीन भारत के इतिहास का पुनर्निर्माण किया। अशोक और प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के बारे में उनकी पुस्तकों से उन अनेक भ्रांतियों का निवारण करने में सहायता मिली, जो साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा उत्पन्न की गई थीं। राजनीतिक विचारों और संस्थाओं के क्षेत्र में साम्राज्यवादी विचारधारा को सबसे बड़ी चोट के.पी. जायसवाल (1881-1937) द्वारा पहुँचाई गई। अपनी पुस्तक *हिंदू पोलिटी* में, जो 1924 में प्रकाशित हुई थी, जायसवाल ने इस भ्रांति को प्रभावशाली ढंग से धाराशायी कर दिया कि भारतीयों के कोई राजनीतिक विचार नहीं थे, और उनकी कोई राजनीतिक संस्थाएँ नहीं थीं। साहित्यिक और पुरालेखीय स्रोतों के उनके अध्ययन से यह प्रदर्शित हुआ कि भारत कोई निरंकुशतावादी देश नहीं था, जैसा कि साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा प्रचार किया गया था। वंशगत राज्य-पद्धति के अलावा, भारत में ऋग्वेद के काल से ही गणतंत्रों की परंपरा थी। उन्होंने प्रमाणपूर्वक यह दर्शाया कि ब्रिटिश इतिहासकारों के विचारों के विपरीत, भारतीय राज्य-व्यवस्था और शासन प्रणाली तत्कालीन विश्व के अन्य किसी भी भाग की तुलना में कहीं अधिक विकसित थी। उनकी पुस्तक *हिंदू पोलिटी* प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में आज तक लिखी गई सबसे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तकों में से एक समझी जाती है।

एच.सी. रायचौधुरी (1892-1957) ने अपनी पुस्तक *पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया* में महाभारत के युद्ध के समय से लेकर गुप्त साम्राज्य के समय तक के प्राचीन भारत के इतिहास का पुनर्निर्माण किया और वी.ए. स्मिथ द्वारा उत्पन्न किए गए भ्रम के बादलों को लगभग पूरी तरह साफ कर दिया। आर.सी. मजूमदार को भारतीय इतिहासकारों में सबसे वरिष्ठ इतिहासकार समझा जाता है। वह बहुसर्जक लेखकों में से एक थे तथा उन्होंने भारतीय इतिहास के लगभग हर पहलू पर लिखा। उन्होंने प्राचीन भारत से स्वतंत्रता संग्राम तक के इतिहास के बारे में कई पुस्तकें लिखी हैं। उनके प्रधान संपादनत्व में ग्यारह खंडों में प्रकाशित *हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल* एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस अनेक खंडों वाली पुस्तकमाला में भारत के प्रागैतिहासिक काल से 1947 में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक के भारतीय इतिहास और सभ्यता का निरूपण एवं विवेचन किया गया है और यह एक अद्वितीय संदर्भ ग्रंथ है।

के.ए. नीलकंठ शास्त्री (1892-1975) ने दक्षिण भारत के इतिहास को समझने में भारी योगदान दिया है। *ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया* और *ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया* जैसी उनकी पुस्तकें उनकी प्रखर विद्वता के अनुपम उदाहरण हैं। आर.के. मुकर्जी (1886-1964) शायद इस दृष्टि से लेखकों में एक थे कि वह कठिन से कठिन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त कर सकते थे। *हिंदू सिविलाइजेशन, चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक* और *फंडामेंटल यूनिटी ऑफ इंडिया* जैसी उनकी पुस्तकों ने भारत के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास को न केवल ठोस आधार प्रदान किया बल्कि उसे एक सामान्य पाठक की समझ के योग्य बना दिया। पी.वी. काणे (1880-1972) संस्कृत के एक महान विद्वान थे। *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र* नामक उनकी महान कृति, जिसके पाँच खंड हैं और जिसमें छः हजार से अधिक पृष्ठ हैं, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक नियमों, कानूनों और प्रथाओं का एक विश्वकोश है।

इन महान विद्वानों के योगदान से ईसाई धर्म प्रचारकों और साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा फैलाई गई धुंध को साफ करने में सहायता मिली।

## इतिहास की मार्क्सवादी विचारधारा

इतिहास लेखन की मार्क्सवादी विचारधारा पिछली शताब्दी में इतिहास लेखन की सर्वाधिक प्रभावशाली विचारधारा थी। इतिहास लेखन के मार्क्सवादी नमूने के अंतर्निहित अंतर्विरोधों और उसकी संपूर्ण असफलता के बावजूद, उस पर चर्चा करना और उसके द्वारा दिए गए योगदान का सम्मान करना, शैक्षिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

मार्क्सवादी इतिहास के सार्वभौम नियमों और चरणों में विश्वास करते हैं। उनका मानना है कि सभी समाज इतिहास के कम-से-कम पाँच चरणों में से गुजरते हैं— (i) आदिम साम्यवाद; (ii) दासता; (iii) सामंतवाद; (iv) पूँजीवाद; और (v) साम्यवाद।

ये चरण कार्ल मार्क्स और एफ. एंजेल्स ने परिभाषित किए थे, जो साम्यवाद के प्रतिपादक थे। उन्होंने एफ.डब्ल्यू. हेगल और लेविस हेनरी मोर्गन के प्रति अपने बौद्धिक ऋण को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मार्क्स और एंजेल्स ने इतिहास के जिन चरणों का प्रतिपादन किया था, वे यूरोप के इतिहास के बारे में उनकी समझ पर आधारित थे। भारतीय मार्क्सवादी इतिहास लेखन पर चर्चा करने से पहले यह जानना महत्वपूर्ण है कि हेगल और मार्क्स ने भारतीय इतिहास और सभ्यता के बारे में क्या कहा था।

जी.डब्ल्यू.एफ. हेगल (1770-1831) एक महान पाश्चात्य दार्शनिक था। हेगल कोई भारतीय विद्या-विशारद नहीं था और न ही उसने संस्कृत अथवा कोई अन्य भारतीय भाषा सीखने का प्रयत्न किया था। उसने अनुवादों, रिपोर्टों आदि का उपयोग किया। भारतीय इतिहास के बारे में उसके लेख मुख्यतः विलियम जोन्स, जेम्स मिल और अन्य ब्रिटिश लेखकों के लेखों पर आधारित थे, भारतीय इतिहास के बारे में इन लेखकों के दृष्टिकोण पर पहले ही विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है और यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उन ब्रिटिश लेखकों की रचनाओं के सचमुच बड़े भीषण परिणाम निकले थे।

प्रारंभ में हेगल का विचार था कि भारत को सामान्य रूप से एक पूर्वी देश के रूप में दर्शनशास्त्र के इतिहास से बाहर रखा जाना चाहिए। तथापि हेगल को अनेक लेखों के आलोक में बड़ी अनिच्छापूर्वक यह स्वीकार करना पड़ा कि भारत की अपनी एक दार्शनिक प्रणाली है और उसका इतिहास बड़ा प्राचीन

है, लेकिन उसने स्पष्ट रूप से इसे यूनान और रोम के दर्शनशास्त्र से घटिया स्तर का माना। यहाँ तक कि उसके समकालीन यूरोपीय विद्वान भी भारतीय इतिहास और दर्शन के बारे में उसके निष्कर्षों से अचंभित हो उठे, उन्होंने उसे "एक पश्चिमवासी के आद्यरूप" में देखा, जो पाश्चात्य विचारों को सभी चीजों का मापदंड समझता था। "इसलिए, उसे भारतीय संसार के बारे में जो कुछ भी कहना था वह नितांत अपर्याप्त सिद्ध हुआ और उसका परिणाम एक व्यंग्य चित्र के रूप में निकला, जो यह दर्शाता है कि... उसने एक ऐसा कार्य हाथ में लिया था, जिसके लिए वह योग्य नहीं था..."। इन त्रुटियों के बावजूद, हेगल का प्रभाव सिर्फ यूरोप तक सीमित नहीं रहा। भारत में भी "हेगलवाद", "नवहेगलवाद" तथा "हेगलवाद-विरोध" की उल्लेखनीय परंपरा देखने को मिलती है।

इसी प्रकार, मार्क्स को भी भारत के बारे में बड़ी छिछली जानकारी थी और वह वस्तुतः जातीय पूर्वाग्रहों एवं स्वार्थों से मुक्त नहीं था। उनमें से अधिकांश जो मार्क्स को भारत के बारे में कहना था, वह समाचारपत्रों में प्रकाशित लेखों में पाया जाता है। मार्क्स ने इस मामले में हेगल का अनुसरण किया। मार्क्स भारत को ब्रिटेन द्वारा दास बनाए जाने का समर्थक था और उसने भारत को एक बिना इतिहास वाला पिछड़ा और असभ्य देश कहकर, उसकी उपेक्षा की। उसने सन् 1853 में लिखा कि "इस प्रकार भारत पराजित होने से नहीं बच सकता था, और भारत का संपूर्ण पिछला इतिहास, यदि कुछ है तो उन उत्तरोत्तर पराजयों का इतिहास है, जो उसने झेली हैं। भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है, कम से कम कोई ज्ञात इतिहास नहीं है। हम जिसे इसका इतिहास कहते हैं, वह केवल इसके उत्तरोत्तर आक्रमणकारियों का इतिहास है, जिन्होंने इस अप्रतिरोधकारी और अपरिवर्तनशील समाज की निष्क्रियता के आधार पर अपने साम्राज्य स्थापित किए थे...।"

भारतीय इतिहास के प्रति हेगलवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक बहुत लंबे समय तक, कुल मिलाकर, सुषुप्त बना रहा। भारत में ब्रिटेन के शासन के दौरान इसका एक तरह से कोई अस्तित्व नहीं था, लेकिन भारत के स्वतंत्र होने के बाद, इतिहास लेखन की मार्क्सवादी विचारधारा एक सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रमुख विचारधारा बन गई। मार्क्स की योजना का अनुसरण करते हुए, भारत का इतिहास फिर से लिखा जाने लगा। परिणामतः आदिम साम्यवाद, दासता, सामंतवाद और पूँजीवाद, अर्थात् मार्क्स और एंजेल्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास के विभिन्न चरणों को भारतीय इतिहास पर भी लागू किया जाने लगा। साम्राज्यवादी विचारधारा की भांति, इस विचारधारा को भी भारतीय सभ्यता में कोई अच्छी चीज दिखाई नहीं देती। मार्क्स की तरह, उनका विचार है कि भारतीय साहित्य में जो कुछ भी अच्छा है, वह विजेताओं का योगदान है और इसीलिए, इस विचारधारा के अनुसार कुषाण काल भारत के इतिहास का स्वर्णिम काल है, सातवाहन अथवा गुप्त काल नहीं। गुप्त वंश के समय से बारहवीं शताब्दी ई. में मुसलमानों की विजय तक के काल को "सामंतवाद का युग" अर्थात् "अंध युग" कहा गया है, जिसमें हर चीज का पतन हो गया था। लेकिन तथ्य तो यह है कि राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद इस तथाकथित अंध युग में साहित्य, विज्ञान, कला, स्थापत्य, अर्थव्यवस्था आदि के क्षेत्रों में चहुँमुखी विकास हुआ था। इसके अलावा, जब साहित्यिक साक्ष्य और उसके

कालक्रम की बात आती है, तो मार्क्सवादी इतिहासकार अधिकतर मैक्स मूलर और ब्रिटेन के अन्य साहित्यकारों का अनुसरण करते हैं।

भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकार सभी सामाजिक और धार्मिक विचारों, रीति-रिवाजों और संस्थाओं की आर्थिक व्याख्या करने पर बहुत जोर देते हैं। चूँकि उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता से चिढ़ है, इसलिए साधु-संतों और ऋषि-महात्माओं के प्रति उनकी अनादर की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। लेकिन, यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इसके बावजूद उनके लेखों से भारतीय इतिहास के उन विभिन्न पहलुओं को समझने में, जिनकी उपेक्षा की गई थी, भारी योगदान प्राप्त हुआ है।

डी.डी. कोसांबी को इस विचारधारा के अग्रदूतों में सबसे पहला व्यक्ति कहा जा सकता है। डी.आर. चानना, आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर, इरफान हबीब, बिपिन चंद्र, और सतीश चंद्र भारत के कुछ प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार हैं।

इतिहास की मार्क्सवादी योजना में मार्क्सवाद एक आदर्श दर्शन और राज्य व्यवस्था है और सोवियत संघ एक आदर्श राज्य था। सोवियत संघ के टूटने और मार्क्सवादी राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था के लगभग तिरोभाव के बाद, मार्क्सवादी इतिहासकारों को इसके पतन के कारणों की व्याख्या करने में कठिनाई आ रही है। शायद इसी घटना के परिणामस्वरूप मार्क्सवादी इतिहास लेखन अपनी चमक-दमक खो बैठा है।

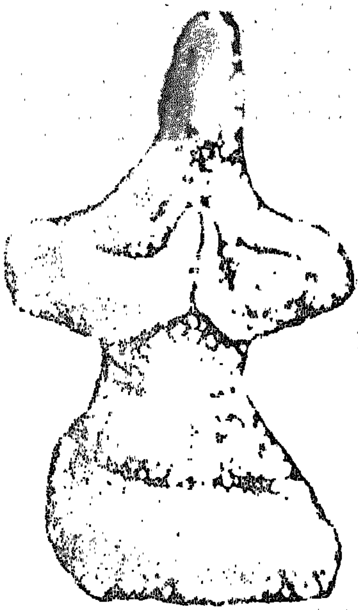
## बहु-विषयक दृष्टिकोण

पिछले दस वर्षों में पुरातत्व विज्ञान, जीवाश्म विज्ञान, मानव विज्ञान, खगोल विज्ञान और अंतरिक्ष अनुसंधान जैसे विभिन्न विषय-क्षेत्रों से विशाल मात्रा में आधारभूत जानकारी प्राप्त होने से प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में एक नई रुचि उत्पन्न हुई है। बहुत-से विद्वानों ने पुराने सांचे की जंजीरों को तोड़ दिया है और वे विभिन्न विषयों से प्राप्त जानकारी के प्रकाश में प्राचीन भारतीय इतिहास का अवलोकन कर रहे हैं। इसे बहु-विषयक दृष्टिकोण कहा जाता है, जिसके उदाहरण अगले अध्यायों में देखने को मिलेंगे।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित को स्पष्ट करें :
   वंशानुचरित, मन्वंतर, सर्ग, प्रतिसर्ग, युग, कल्प।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) इतिहास का महत्त्व
   (ii) बहु-विषयक दृष्टिकोण
   (iii) सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में बाइबिल की अवधारणा।
3. इतिहास लेखन की भारतीय परंपरा का बर्णन करें।
4. उन विदेशी यात्रियों के बारे में टिप्पणी लिखें, जिन्होंने चौथी शताब्दी ई.पू. से दसवीं शताब्दी ई. तक भारत की यात्रा की थी, और उन्होंने भारत के बारे में क्या लिखा था?
5. भारत के बारे में ईसाई धर्म-प्रचारकों का क्या मत था?

6. इतिहास लेखन की साम्राज्यवादी विचारधारा और भारतीय इतिहास लिखने के बारे में उनके दृष्टिकोण का वर्णन करें।
7. इतिहास लेखन की राष्ट्रीय विचारधारा का वर्णन करें। यह साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है?
8. इतिहास की मार्क्सवादी विचारधारा और भारतीय इतिहास के प्रति उसके दृष्टिकोण को परिभाषित करें।



अध्याय 3

# प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत

**स्थूल** रूप से, प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोतों को दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली है साहित्यिक और दूसरी है पुरातत्त्वीय। साहित्यिक स्रोतों में वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अन्य साहित्य को तथा इसके अलावा विदेशियों द्वारा लिखे गए वृत्तांतों को शामिल किया जा सकता है।

**प्राचीन** भारत के इतिहास का पुनर्निर्माण करने के लिए हमारे पास विविध प्रकार के स्रोत हैं। स्थूल रूप से, प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोतों को दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली है साहित्यिक और दूसरी है पुरातत्वीय। साहित्यिक स्रोतों में वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अन्य साहित्य को, तथा इसके अलावा विदेशियों द्वारा लिखे गए वृत्तांतों को शामिल किया जा सकता है। पुरातत्व के स्थूल शीर्ष के अंतर्गत हम पुरालेखों, सिक्कों और स्थापत्य अवशेषों, पुरातत्वीय अन्वेषणों तथा उत्खननों पर विचार कर सकते हैं, जिनसे नई जानकारी के नए-नए मार्ग प्रशस्त हुए हैं।

## साहित्यिक स्रोत

भारत के इतिहास के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य की विश्वसनीयता के बारे में बहुत वाद-विवाद रहा है। यह मत प्रकट किया जाता है कि अधिकांश भारतीय साहित्य का स्वरूप धार्मिक है, और भारतीयों द्वारा पुराणों और महाकाव्यों, जैसे जिस साहित्य के इतिहास होने का दावा किया जाता है, उनमें घटनाओं और राजाओं की कोई निश्चित तिथियाँ नहीं दी गई हैं। बहुत-से उत्कीर्ण लेखों, सिक्कों और स्थानीय वृत्तांतों से इतिहास लेखन के कुछ प्रयत्नों का संकेत अवश्य मिलता है। पुराणों और महाकाव्यों में इतिहास के प्रारंभिक तत्व सुरक्षित हैं। हमें राजाओं की वंशावलियों और उपलब्धियों की जानकारी मिलती है। लेकिन कालक्रम के अनुसार उनका विन्यास करना कठिन है।

वैदिक साहित्य, मुख्यतः चार वेद, अर्थात् *ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद* और *अथर्ववेद* पूर्णतः एक अलग भाषा में हैं, जिसे वैदिक भाषा कहा जा सकता है। इसकी शब्दावली के बहुत व्यापक अर्थ हैं और कई बार व्याकरणिक प्रयोगों की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं। इसके उच्चारण का एक सुनिश्चित ढंग है, जिसमें किसी अक्षर-विशेष पर बल दिए जाने से अर्थ पूर्णतः बदल जाता है। इसी कारण से, वेदों के उच्चारण के ढंग को सुरक्षित और संरक्षित करने की विस्तृत विधियाँ तैयार की गई हैं। *घन, जटा* और *पाठ* के अन्य प्रकारों से हम न केवल मंत्र का अर्थ निर्धारित कर सकते हैं, बल्कि उस मौलिक तान (स्वर) को सुन सकते हैं, जिनमें इनका गायन हजारों वर्ष पहले किया जाता था। इन्हीं पाठ पद्धतियों के कारण, वेदों में कोई प्रक्षेपण करना संभव नहीं है। हम वेदों में राजनीतिक इतिहास का कोई खास चिह्न नहीं ढूँढ़ सकते, लेकिन उनसे हमें वैदिक काल की संस्कृति और सभ्यता की विश्वसनीय झलक मिल सकती है।

वेदों को उपयुक्त रूप से समझने के लिए छः वेदांग तैयार किए गए थे। ये हैं : *शिक्षा* (स्वरविज्ञान), *कल्प* (कर्मकांड), *व्याकरण, निरुक्त* (व्युत्पत्ति विज्ञान), *छंद* और *ज्योतिष* (खगोल विज्ञान)। प्रत्येक वेदांग के बारे में विश्वसनीय साहित्य का विकास हुआ है, जो सूत्र-रूप में है। यह गद्य में अभिव्यक्ति का एक बहुत यथार्थ और सुनिश्चित रूप है, जो प्राचीन भारतीयों द्वारा विकसित किया गया था। संस्कृत के महान वैयाकरण पाणिनि की *अष्टाध्यायी* जिसके आठ अध्याय हैं, सूत्रों में लिखने की इस उत्कृष्ट कला की चरम परिणति है, जिसमें प्रत्येक अध्याय बड़े सुनिश्चित रूप से परस्पर गुंथा हुआ है।

वेदों के अलावा, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों को भी वैदिक साहित्य में शामिल किया जाता है तथा इन्हें उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक कर्मकांड का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है और आरण्यक

ग्रंथों और *उपनिषदों* में विभिन्न आध्यात्मिक और दार्शनिक समस्याओं के बारे में चर्चाएँ की गई हैं।

पुराण, जिनकी संख्या अठारह है, मुख्यतः ऐतिहासिक विवरण हैं। ऐतिहासिक अध्ययन की पाँच शाखाएँ पुराणों की विषय-वस्तु बनाती हैं। ये हैं : (i) *सर्ग* (सृष्टि की उत्पत्ति), (ii) *प्रतिसर्ग* (सृष्टि का प्रत्यावर्तन एवं प्रति विकास), (iii) *मन्वंतर* (समय की पुनरावृत्ति), (iv) *वंश* (राजाओं और ऋषियों की वंशावलियाँ), (v) *वंशानुचरित* (कुछ चुने हुए पात्रों की जीवनियाँ)। बाद में तीर्थों और उनके माहात्म्य के वर्णन को भी इसमें शामिल किया गया था। दो महाकाव्यों अर्थात् *रामायण* और *महाभारत* का उपयोग भी स्रोत के रूप में किया जा सकता है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इन ग्रंथों में निरंतर प्रक्षेपांश जोड़े जाते रहे हैं।

जैन और बौद्ध साहित्य प्राकृत व पालि भाषाओं में लिखा गया था। प्राकृत संस्कृत भाषा का एक रूप था और प्रारंभिक जैन साहित्य अधिकांशतः इसी भाषा में लिखा गया है। पालि को प्राकृत भाषा का एक रूप समझा जा सकता है, जिसका चलन मगध में था। अधिकांश प्रारंभिक बौद्ध साहित्य इसी भाषा में लिखा गया है। बौद्ध भिक्षुओं के साथ यह भाषा श्रीलंका में पहुँची, जहाँ यह एक जीवित भाषा है। अशोक के शासनादेश भी इसी भाषा में हैं। चूँकि आधुनिक इतिहासकारों ने पुराणों में वर्णित अधिकतर राजवंशों को नकार दिया है तथा महावीर और बुद्ध को ऐतिहासिक व्यक्तित्व माना है, इसलिए पौराणिक राजवंशों के केवल उन भागों को ही स्वीकार किया गया है, जिनकी अनुपूर्ति और पुष्टि बौद्ध तथा जैन साहित्य द्वारा होती है। जातक कथाओं के नाम से प्रसिद्ध बौद्ध कृतियों को भी कुछ ऐतिहासिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि उनका संबंध बुद्ध पूर्व-जन्मों से है। ऐसी 550 से अधिक कथाएँ हैं। जैन साहित्य में भी कुछ ऐसी सूचना शामिल है, जिससे हमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के इतिहास का पुनर्निर्माण करने में सहायता मिल सकती है।

*धर्मसूत्रों* और *स्मृतियों* में सर्वसाधारण और शासकों के लिए नियम और विनियम निर्धारित हैं। आधुनिक अवधारणा के रूप में इन्हें प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था और समाज के लिए संविधान व विधि पुस्तकों का नाम दिया जा सकता है। इन्हें *धर्मशास्त्र* भी कहा जाता है। इनका संकलन 600 ई. पू. और 200 ई.पू. के बीच किया गया था। इनमें *मनुस्मृति* सबसे अधिक प्रसिद्ध है। कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*, जो राज्यतंत्र से संबंधित ग्रंथ है, मौर्य काल में लिखा गया था। यह पुस्तक 15 अध्यायों (अधिकरणों) में विभाजित है। विभिन्न अध्याय राज्य व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था और समाज के विभिन्न विषयों के बारे में हैं। यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य द्वारा चौथी शताब्दी ई.पू. में अर्थशास्त्र का अंतिम संस्करण लिखे जाने से पहले राज्यतंत्र के बारे में लिखने और शिक्षा देने की परंपरा विद्यमान थी, क्योंकि कौटिल्य ने इस क्षेत्र के अपने पूर्ववर्ती लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट किया है। विशाखदत्त द्वारा लिखित नाटक, *मुद्राराक्षस* में भी समाज और संस्कृति की एक झलक देखने को मिलती है।

कालिदास का नाटक *मालविकाग्निमित्रम्* पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की कुछ घटनाओं पर आधारित है; शुंग राजवंश का उदय मौर्य वंश के बाद हुआ था। भास और शूद्रक ऐसे अन्य कवि हैं, जिन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित नाटक लिखे थे। बाणभट्ट की कृति *हर्षचरित* बहुत-से ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालती है, जिनकी जानकारी हमें अन्यथा प्राप्त न होती। वाक्पति ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन

के कारनामों पर आधारित *गौड़वहो* नामक पुस्तक लिखी। इसी प्रकार, बिल्हण द्वारा रचित *विक्रमांकदेवचरित* में उत्तरवर्ती चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के विजयाभियानों का वर्णन किया गया है। इसी तरह, विभिन्न राजाओं के जीवन के आधार पर लिखी गई कुछ अन्य रचनाएँ हैं। इनमें प्रमुख ये हैं : जयसिंह का *कुमारपालचरित*, हेमचंद्र का *कुमारपालचरित* अथवा *द्वयाश्रय महाकाव्य*, न्यायचंद्र का *हम्मीरकाव्य*, पद्मगुप्त का *नवसाहसांकचरित*, बिल्लाल का *भोजप्रबंध*, चंदबरदाई का *पृथ्वीराजचरित* (पृथ्वीराजरासो)।

किंतु कल्हण द्वारा लिखित *राजतरंगिणी* नामक ऐतिहासिक ग्रंथ इतिहास लेखन का सर्वोत्तम उदाहरण है, जिसकी प्रशंसा आधुनिक इतिहासकारों द्वारा की गई है। ऐतिहासिक अनुसंधान के उसके विवेचनात्मक तरीके और ऐतिहासिक तथ्यों के निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण के कारण उसे आधुनिक इतिहासकारों से बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है।

*संगम* साहित्य में दक्षिण भारत के बहुत-से राजाओं और राजवंशों का वर्णन किया गया है। राजाश्रित कवियों के समूहों द्वारा समय-समय पर रचित कविताओं के संकलनों को *संगम* साहित्य कहा जाता है। *संगम* साहित्य की कविताओं की कुल मिलाकर 30,000 पंक्तियाँ हैं; ये कविताएँ दो मुख्य समूहों अर्थात् *पदिनेंकीलकणक्कु* और *पत्तुप्पात्तु* में विभाजित हैं। पूर्वोक्त समूह उत्तरोक्त समूह से पुराना है। *संगम* साहित्य में कई छोटी और लंबी कविताएँ शामिल हैं, जो अनेक कवियों द्वारा अपने संरक्षक राजाओं की प्रशंसा में लिखी गई थीं। कुछ राजाओं और घटनाओं की पुष्टि उत्कीर्ण लेखों से भी होती है। इस साहित्य में सामान्यतः चौथी शताब्दी ई. तक की घटनाओं का वर्णन है।

## विदेशी विवरण

प्राचीन भारतीय इतिहास की हमारी बहुत-सी जानकारी के लिए हम विदेशियों के ऋणी हैं। कई विदेशी उत्कीर्ण लेखों, जैसे डेरियस के लेखों में भारत का उल्लेख है। हेरोडोटस और टेसियस के लेखों में भारत का उल्लेख है। हेरोडोटस और टेसियस ने अपनी जानकारी फारसी स्रोतों से प्राप्त की थी। हेरोडोटस अपनी पुस्तक *हिस्टरीज* में हमें भारत-फारस संबंधों के बारे में काफी जानकारी देता है। एरियन ने सिकंदर द्वारा भारत पर किए गए आक्रमण के बारे में विस्तृत विवरण दिया था, जो उन लोगों की सूचना पर आधारित था, जो इस अभियान में भारत आए थे। यूनानी राजाओं द्वारा पाटलिपुत्र में अपने राजदूत भेजे गए थे, उनमें से कुछ के नाम ये हैं : मेगस्थनीज़, डीमेकस और डायोनीसियस। मेगस्थनीज़ चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में था। उसने भारत के बारे में *इंडिका* नामक एक पुस्तक लिखी थी। मूल पुस्तक लुप्त हो गई है, लेकिन बाद के लेखकों की पुस्तकों में दिए गए उद्धरणों से हमें इसके बारे में कुछ जानकारी मिली है। एक अज्ञात यूनानी लेखक ने, जो मिस्र में जा बसा था, लगभग सन् 80 ई. में भारतीय तट की अपनी वैयक्तिक यात्रा के आधार पर *पेरीप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी* नामक एक पुस्तक लिखी थी। उसने भारत के समुद्री तटों के बारे में बहुमूल्य सूचना दी है। एक अन्य लेखक टोलेमी ने दूसरी शताब्दी ई. में भारत के बारे में एक भौगोलिक निबंध (ज्योग्राफी) लिखा था। यूनानियों द्वारा भारत के बारे में लिखित अधिकांश साहित्य गौण यानी दूसरी श्रेणी के स्रोतों पर आधारित है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक भूलें और परस्पर-विरोधी बातें सामने आई हैं। इसलिए यूनानी स्रोतों का उपयोग करते समय सावधानी

बरतना जरूरी है। ये लोग इस देश की भाषा और उसके रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ थे, उनकी सूचना अविश्वसनीय तथ्यों और काल्पनिक बातों से भरी पड़ी हैं। मेगस्थनीज के वृत्तांत के साथ ही सिकंदर के साथ आए लोगों के लेख लुप्त हो गए हैं और केवल बाद की कृतियों में उल्लिखित उद्धरणों के रूप में टुकड़ों में उपलब्ध हैं।

चीनी यात्री समय-समय पर भारत आते रहे थे। वे यहाँ बौद्ध तीर्थों का दर्शन करने या बौद्ध धर्म का अध्ययन करने आए थे। इसलिए उनके विवरणों का झुकाव कुछ हद तक बौद्ध धर्म की ओर है। चीनी परंपरा में ऐसे यात्रियों की एक लंबी सूची सुरक्षित है। इनमें से तीन यात्री प्रमुख थे जिनमें से फाहियान पाँचवीं शताब्दी ई. में भारत आया, जबकि ह्वेनसांग और इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत आए। उन्होंने काफी विस्तृत विवरण दिए हैं, जिनका अंग्रेजी में अनुवाद किया जा चुका है। ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन और उत्तर भारत के कुछ समकालीन राजाओं के बारे में बहुत अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण विवरण दिया है। फाह्यान और ह्वेनसांग ने देश के बहुत से भागों की यात्रा की थी, लेकिन उन्होंने अपनी यात्रा के दौरान बौद्ध धर्म का कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण दिया है। उदाहरण के लिए, ह्वेनसांग ने हर्षवर्धन का वर्णन बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में किया है, जबकि अपने पुरालेखीय अभिलेखों में हर्ष ने अपने आपको शिव का भक्त बताया है, किंतु इस तथ्य पर विचार करते हुए कि भारतीय शासक, अपने प्रजाजनों की भाँति, बहु-धार्मिक लोग थे, किसी विदेशी के लिए भ्रमित होना कठिन नहीं है।

कुछ अरबों ने भी भारत के बारे में अपने विवरण छोड़े हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध नाम अबू रिहन का है, जिसे अल-बेरूनी के नाम से जाना जाता है और यह महमूद गजनवी का समकालीन था। उसके द्वारा कही गई बातें भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में उसके ज्ञान पर आधारित हैं, जो उसने साहित्य के माध्यम से अर्जित किया था। इसके लिए उसने संस्कृत का अध्ययन किया था, किंतु उसने अपने समय की राजनीतिक स्थिति के बारे में कोई जानकारी नहीं दी।

## पुरातत्त्वीय स्रोत

भारत के अतीत के पुनर्निर्माण के लिए पुरातत्वीय स्रोतों का उपयोग करना केवल दो शताब्दी पहले ही शुरू हुआ था। ये स्रोत न केवल हमारे अतीत के बारे में हमारे ज्ञान की अनुपूर्ति करते हैं, बल्कि उनसे हमें कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हुई है, जो हमें अन्यथा नहीं मिल सकती थी। 1920 के दशक तक भी आमतौर पर यह माना जाता था कि भारतीय सभ्यता लगभग छठी शताब्दी ई.पू. से शुरू हुई थी। लेकिन मोहनजोदड़ो, कालिबंगन और हड़प्पा में हुई खुदाइयों से भारतीय सभ्यता की शुरुआत का समय लगभग 5000 ई.पू. तक पीछे चला गया है। वहाँ प्राप्त हुई प्रागैतिहासिक कला-वस्तुओं से पता चलता है कि यहाँ पर मानवीय क्रियाकलाप लगभग बीस लाख वर्ष पहले प्रारंभ हो गए थे।

हम अभिलेखशास्त्र और मुद्राशास्त्र जैसी शाखाओं से भी बहुत लाभांवित हुए हैं, जिनके बिना भारत के अतीत के बारे में हमारा ज्ञान बहुत सीमित होता। मुद्राशास्त्रीय स्रोतों के बिना हमें अधिकतर भारतीय-यूनानी, शक-पार्थियन और कुषाण राजाओं के बारे में कोई जानकारी प्राप्त न होती। धर्म के बारे में अशोक के विचार और समुद्रगुप्त तथा अन्य राजाओं की विजय-गाथाओं के विवरण, उनके पुरालेखों के बिना अज्ञात बने रहते।

**उत्कीर्ण लेख :** इतिहास लेखन का एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय स्रोत उत्कीर्ण लेख हैं। चूंकि उत्कीर्ण लेख एक समकालीन अभिलेख (रिकार्ड) होता है, इसलिए वह क्षेपकों से मुक्त होता है। यह उसी रूप में उपलब्ध होता है, जिस रूप में उसकी रचना की गई थी और उसे पहली बार उत्कीर्ण किया गया था। बाद की अवस्था में इसमें कुछ जोड़ना लगभग असंभव होता है लेकिन भोज-पत्र, ताड़-पत्र, कागज आदि जैसी कोमल वस्तुओं पर लिखे गए अभिलेखों के बारे में यह बात सही नहीं कही जा सकती, क्योंकि इनकी बार-बार नकल तैयार किए जाने की जरूरत होती थी, क्योंकि पुरानी पांडुलिपियाँ कालांतर में जर्जर अथवा खराब होने लगती थीं। नकल करते समय कुछ गलतियाँ हो जाती थीं अथवा कई बार उनमें अपनी ओर से कुछ और बातें जोड़ दी जाती थीं। उत्कीर्ण लेखों में ऐसा करना संभव नहीं है। उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन को *अभिलेखशास्त्र* (एपीग्राफी) कहा जाता है।

उत्कीर्ण लेखों की लिपि से भी इतिहासकारों को कई प्रकार से सहायता मिलती है। लिखने की सबसे प्राचीन प्रणाली हड़प्पा की मुद्राओं (सील) में पाई जाती है, लेकिन उसे पढ़ने में अभी तक सफलता नहीं मिली है। इसलिए अशोक के उत्कीर्ण लेखों की लेखन-प्रणाली को सबसे प्राचीन माना जाता है। ये लेख चार लिपियों में लेखबद्ध हैं। अफगानिस्तान में अपने साम्राज्य में उसने अपने शासनादेशों के लिए अरामाइक और यूनानी लिपियों का उपयोग किया। पाकिस्तान के क्षेत्र में खरोष्ठी लिपि का इस्तेमाल किया गया। खरोष्ठी लिपि जो भारतीय भाषाओं की वर्णमाला पद्धति के आधार पर विकसित हुई थी, दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी।

उत्तर में उत्तरांचल में कलसी से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैले अशोक के शेष साम्राज्य में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया था। अशोक के बाद उत्तरवर्ती शताब्दियों के राजाओं द्वारा इस लिपि को अपनाया गया। ब्राह्मी लिपि के बारे में सबसे अधिक दिलचस्प बात यह है कि इसके अलग-अलग अक्षरों को प्रत्येक शताब्दी में संशोधित किया जाता रहा है और इस प्रक्रिया में भारत की सभी लिपियों का विकास हुआ, जिनमें दक्षिण की तमिल, तेलुगू, कन्नड और मलयालम लिपियाँ तथा उत्तर की नागरी, गुजराती और बंगला आदि लिपियाँ शामिल हैं। अलग-अलग अक्षरों के रूप में संशोधन करने से एक और लाभ भी हुआ। इससे मोटे रूप से यह पता लगाना संभव हो गया कि उत्कीर्ण लेख किस काल अथवा शताब्दी में अंकित किया गया था। लिपियों के विकास के अध्ययन को पुरालिपिविद्या कहा जाता है।

किंतु समय बीतने के साथ-साथ अपनी प्राचीन लिपियों में भारतीयों की रुचि समाप्त हो गई और इसलिए वे अपने लिखित इतिहास के अधिकांश भाग को भूल गए। जब अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में पुरालेखीय अध्ययन शुरू हुए तो केवल दसवीं शताब्दी ई. तक के उत्कीर्ण लेखों को ही कुछ कठिनाई के साथ पढ़ा जा सका, लेकिन इससे पहले के पुरालेखों का अर्थ लगाना आसान नहीं था। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने बहुत परिश्रम करके और बहुत ध्यानपूर्वक वर्णों की सारणियाँ तैयार कीं, लेकिन अशोक के समय की वर्णमाला को पूरी तरह से तैयार करने का श्रेय जेम्स प्रिंसेप को जाता है, जिसने यह कार्य 1837 में पूरा किया। इसके बाद पुरालेखों का अध्ययन करना अपने आप में एक अलग विषय बन गया।

पुरालेखीय सामग्री के मामले में भारत विशेष रूप से समृद्ध है।

अशोक के शिलालेखों की अपने आप में एक अलग ही श्रेणी है। ये उसके शासनकाल के विभिन्न वर्षों में उत्कीर्ण किए गए थे, उन्हें राज्यादेश या शासनादेश कहा जाता है क्योंकि वे राजा के आदेशों अथवा उसकी इच्छा के रूप में प्रजा के लिए प्रस्तुत किए गए थे। उनसे अशोक की छवि और उसके व्यक्तित्व की एक झलक एक ऐसे परोपकारी राजा के रूप में मिलती है, जिसे न केवल अपनी प्रजा बल्कि समूची मानव जाति के कल्याण की चिंता थी।

शिलालेखों से पता चलता है कि भारतीय-यूनानी, शक-क्षत्रप और कुषाण राजाओं ने दो अथवा तीन शताब्दियों में भारतीय नाम अपना लिया। इन शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि वे अन्य किसी भारतीय की तरह सामाजिक और धार्मिक कल्याण के कार्य करते रहते थे।

शिलालेखों में संस्कृत का भी प्रयोग किया जाने लगा था। रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख जो दूसरी शताब्दी ई. के मध्य में लिखा गया था, प्रांजल संस्कृत का एक प्राचीन उदाहरण समझा जाता है।

गुप्त काल से संस्कृत को एक प्रमुख स्थान मिलना शुरू हो गया था। इलाहाबाद के स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में समुद्रगुप्त की उपलब्धियों का सारांश दिया गया है। इस एकमेव उत्कीर्ण लेख के अभाव में यह महान गुप्त नरेश भारत के इतिहास में अज्ञात बना रहता। गुप्त काल के अधिकतर पुरालेखों में वंशावलियों का वर्णन है। आगे आने वाले राजवंशों में इसका प्रयोग होने लगा। वे इन लेखों में अपनी विजय तथा अपने पूर्वजों की उपलब्धियों और अपने पौराणिक मूल का विवरण देते थे। चालुक्य वंश के राजा, पुलकेशिन द्वितीय ने अपने ऐहोल के शिलालेख में अपने घराने की वंशावली और उपलब्धियों का विवरण दिया है। इसी प्रकार, भोज ने अपने ग्वालियर शिलालेख में अपने पूर्वजों और उनकी उपलब्धियों का पूरा विवरण दिया है। शिलालेखों से हमें विद्वान ब्राह्मणों को दान में दी गई भूमि जो सभी करों से मुक्त होती थी, के बारे में भी पता चलता है। इन्हें अग्रहार कहा जाता है।

**सिक्के :** ज्ञान की उस शाखा को, जिसमें सिक्कों का अध्ययन किया जाता है, मुद्राशास्त्र (न्यूमिस्मेटिक्स) कहते हैं। इसे भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण का दूसरा सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत समझा जाता है; पहला स्थान उत्कीर्ण लेखों का है। लाखों सिक्के प्राप्त हुए हैं और वे भारत तथा विदेशों के संग्रहालयों में संगृहीत हैं। सिक्के अधिकतर एक साथ बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं, जो खेतों को खोदते समय अथवा इमारतों, सड़कों आदि के निर्माण के लिए नींव की खुदाई करते समय पाए जाते हैं। सुनियोजित उत्खननों के दौरान पाए गए सिक्कों की संख्या कम है, लेकिन वे बहुमूल्य हैं क्योंकि उनके कालक्रम और सांस्कृतिक संदर्भ को सही-सही निर्धारित किया जा सकता है।

सबसे पहले के सिक्के जिन्हें आहत (पंचमार्क) सिक्के कहा जाता है, चाँदी और ताँबे के हैं। कुछ सोने के आहत सिक्के भी मिले हैं, लेकिन वे बड़े दुर्लभ हैं और उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसके बाद भारतीय-यूनानी अथवा हिंद-यवन सिक्के हैं; ये भी चाँदी और ताँबे के हैं और कोई-कोई सोने के भी हैं। कुषाणों ने अधिकांशतः सोने और ताँबे के सिक्के चलाए थे। गुप्त सम्राटों ने अधिकतर सोने और चाँदी

के सिक्के जारी किए थे, लेकिन सोने के सिक्के काफी संख्या में हैं।

पंचमार्क सिक्के भारत के प्राचीनतम सिक्के हैं और उन पर केवल प्रतीक अंकित हैं। प्रत्येक प्रतीक को अलग से अंकित (पंच) किया गया है, जो कई बार किसी दूसरे प्रतीक पर अंकित हो गया है। ऐसे सिक्के समूचे देश में, तक्षशिला से मगध तक और मगध से मैसूर तक तथा दूर दक्षिण में भी मिले हैं। उन पर कोई शब्द अथवा लेख अंकित नहीं है।

भारतीय-यूनानी सिक्कों पर बड़ी सुंदर कलात्मक आकृतियाँ देखने को मिलती हैं। उनके मुख्य भाग पर राजा की तस्वीर अथवा उसकी आवक्ष आकृति वास्तविक प्रतीत होती है। सिक्कों के पृष्ठ भाग पर किसी देवता की मूर्ति अंकित होती है। इन सिक्कों के दूवारा ही हमें उन चालीस से अधिक भारतीय-यूनानी शासकों का पता चला है, जिन्होंने भारत के उत्तर-पश्चिम के एक छोटे से क्षेत्र पर शासन किया था। हमें उन अनेक शक-पार्थियन राजाओं का पता चला है, जिनके बारे में हमें अन्य किसी स्रोत से कोई जानकारी न मिलती। कुषाणों ने अधिकतर सोने के सिक्के और कई ताँबे के सिक्के भी जारी किए थे, जो उत्तर भारत में बिहार तक के अधिकांश भागों में पाए गए हैं। उन पर प्रारंभ से ही भारतीय प्रभाव दिखाई देता है। *विम कैडफाइसिस* के सिक्कों पर बैल के पार्श्व में खड़े शिव की आकृति अंकित है। इन सिक्कों पर अंकित लेख में राजा ने अपना उल्लेख *महेश्वर* अर्थात् *शिव* के भक्त के रूप में किया है। कनिष्क, हुविष्क और वसुदेव आदि सभी के सिक्कों पर यही लेख अंकित है। कुषाणों के सिक्कों पर बहुत से फारसी (ईरानी) और यूनानी देवी-देवताओं के अलावा अनेक भारतीय देवी-देवताओं की आकृतियाँ दर्शाई गई हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिक्कों के टंकण के मामले में गुप्त वंश के राजाओं ने कुषाणों की परंपरा का अनुसरण किया। उन्होंने अपने सिक्कों का पूरी तरह से भारतीयकरण कर दिया। सिक्कों के मुख भाग पर राजाओं को सिंह अथवा गैंडे का शिकार करते हुए, धनुष अथवा परशु पकड़े हुए, कोई वाद्य-यंत्र बजाते हुए अथवा अश्वमेध यज्ञ करते हुए दिखाया गया है।

## पुरातत्त्वीय स्मारक, उत्खनन और अन्वेषण

पुरालेखीय और मुद्राशास्त्रीय स्रोतों के अलावा, ऐसे बहुत-से अन्य पुरातन अवशेष हैं, जो हमारे अतीत के बारे में बहुत कुछ बताते हैं। समूचे देश में गुप्त काल से लेकर हाल के समय तक के मंदिर और मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इनसे भारतीयों के स्थापत्य और उनकी कला के इतिहास की जानकारी मिलती है। उन्होंने पश्चिमी भारत की पहाड़ियों में बड़ी-बड़ी गुफाएँ खोदकर मुख्यतः चैत्य और विहार बनाए थे। चट्टानों को बाहर से काटकर विशाल मंदिर बनाए गए हैं, जैसे एल्लोरा का कैलाश मंदिर और मामल्लपुरम् का रथ।

खुदाई में हमें बहुत बड़ी संख्या में पत्थर, धातुओं और पकी मिट्टी की आकृतियाँ मिली हैं, जो हमें उस समय के कलात्मक क्रियाकलापों की कहानी कहती हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के नगरों की खोज सर्वविदित है; इनकी खोज से भारतीय संस्कृति और सभ्यता की पुरातनता दो हजार वर्ष पीछे चली गई है। कालिबंगन, लोथल, धौलावीरा, राखीगढ़ी आदि स्थानों पर बाद में हुई खोजों से इस सभ्यता का प्रसार गुजरात, महाराष्ट्र, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश तक होने का पता चलता है। 1500 ई.पू. से 600 ई.पू. तक के काल को भारतीय इतिहास

का अंधकार युग कहा जाता था, क्योंकि इस काल के बारे में कोई अधिक जानकारी प्राप्त नहीं थी। 1950 के दशक से काले और लाल रंग के बर्तनों, चित्रित धूसर बर्तनों वाली संस्कृतियों तथा मालवा और जोरवे की संस्कृतियों की पुरातत्वीय खोजों से काल-क्रम संबंधी अंतरालों को ही नहीं, बल्कि भौगोलिक अंतरालों को भरने में भी सहायता मिली है। पुरातत्वीय खोजों से ही हमें अब इस बात का पता चला है कि भारतीयों ने 8,000 वर्ष पहले भेड़ों और बकरियों को पालतू बना लिया था तथा खेती शुरू कर दी थी। इसके अलावा, लगभग 1600 ई.पू. में लोहे का नियमित रूप से इस्तेमाल होने लगा था।

पुरातत्वीय उत्खननों से बौद्ध काल के तक्षशिला, कौसांबी, काशी (राजघाट), अयोध्या, वैशाली, बोधगया आदि नगर प्रकाश में आए हैं। कहा जाता है कि छठी शताब्दी ई.पू. में बुद्ध तक्षशिला के अलावा इनमें से बाकी सभी स्थानों पर गए थे।

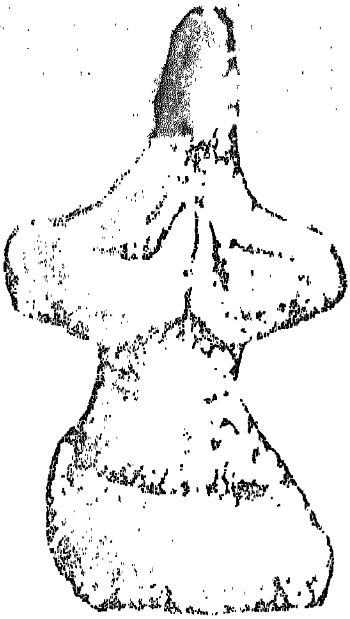
प्राग्-इतिहास के क्षेत्र में किए गए इन अनुसंधानों से पता चलता है कि इस उपमहाद्वीप में मानवीय गतिविधियाँ बहुत पहले अर्थात् लगभग बीस लाख वर्ष पहले शुरू हो गई थीं। कश्मीर और नर्मदा घाटियों में ऐसे औजार व अवशेष मिले बताए गए हैं। इसके अलावा पुरातत्वीय खोजों से पता चला है कि भारत में शैल चित्रकला की परंपरा बारह हजार वर्षों से भी अधिक पुरानी है।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित को स्पष्ट करें :
   अभिलेखशास्त्र, मुद्राशास्त्र, उत्कीर्ण लेख, पुरातत्व, लिपि, पुरालिपि विद्या, उत्खनन, अन्वेषण।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) छः *वेदांग*।
   (ii) भारतीय इतिहास के पुरातत्वीय स्रोत।
   (iii) बौद्ध साहित्य।
3. अतीत काल के अध्ययन के साहित्यिक स्रोतों का वर्णन करें।
4. उत्कीर्ण लेख क्या हैं? भारत के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए वे किस प्रकार महत्वपूर्ण हैं?
5. अतीत के अध्ययन के लिए सिक्कों के महत्व के बारे में चर्चा करें।

**करने के लिए कार्य**

- इतिहास के विभिन्न स्रोत देखने के लिए संग्रहालय जाएँ और उन्हें पहचानने की कोशिश करें।
- इतिहास के विभिन्न स्रोत दर्शाने के लिए एक समुचित चित्र (कोलाज) बनाएँ।
- कुछ स्मारकों के पोस्टर तैयार करें।



अध्याय 4

# भारतीय इतिहास की भौगोलिक पृष्ठभूमि

**प्राचीन** काल में इस समूचे भू-भाग को भारतवर्ष अथवा हिंदुस्तान के नाम से जाना जाता था; हिंदुस्तान शब्द की उत्पत्ति सिंधु नदी के नाम से हुई है, जिसका उच्चारण पाश्चात्य लोगों द्वारा हिंदू अथवा इंदू के रूप में किया जाता है; इंडिया शब्द की उत्पत्ति इसी से हुई है। हमारे संविधान में इसे इंडिया अर्थात् भारत कहा गया है।

**भारतीय** उपमहाद्वीप प्राकृतिक सीमाओं वाला एक सुनिर्धारित एवं सुपरिभाषित भू-भाग है। इस समय इस क्षेत्र में छः देश स्थित हैं : अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल, भारत, भूटान और बांगला देश। प्राचीन काल में इस समूचे भू-भाग को भारतवर्ष अथवा हिंदुस्तान के नाम से जाना जाता था। हिंदुस्तान शब्द की उत्पत्ति सिंधु नदी के नाम से हुई है, जिसका उच्चारण पाश्चात्य लोगों द्वारा हिंदू अथवा इंदू के रूप में किया जाता था। इंडिया शब्द की उत्पत्ति इसी से हुई है। हमारे संविधान में इसे इंडिया अर्थात् भारत कहा गया है।

इस भू-भाग के उत्तर की सीमा पर हिमालय पर्वत है, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर पामीर का पठार और सुलेमान किरथर पर्वतमाला, पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी और पश्चिम की ओर अरब सागर है तथा दक्षिणी सीमाओं पर हिंद महासागर है।

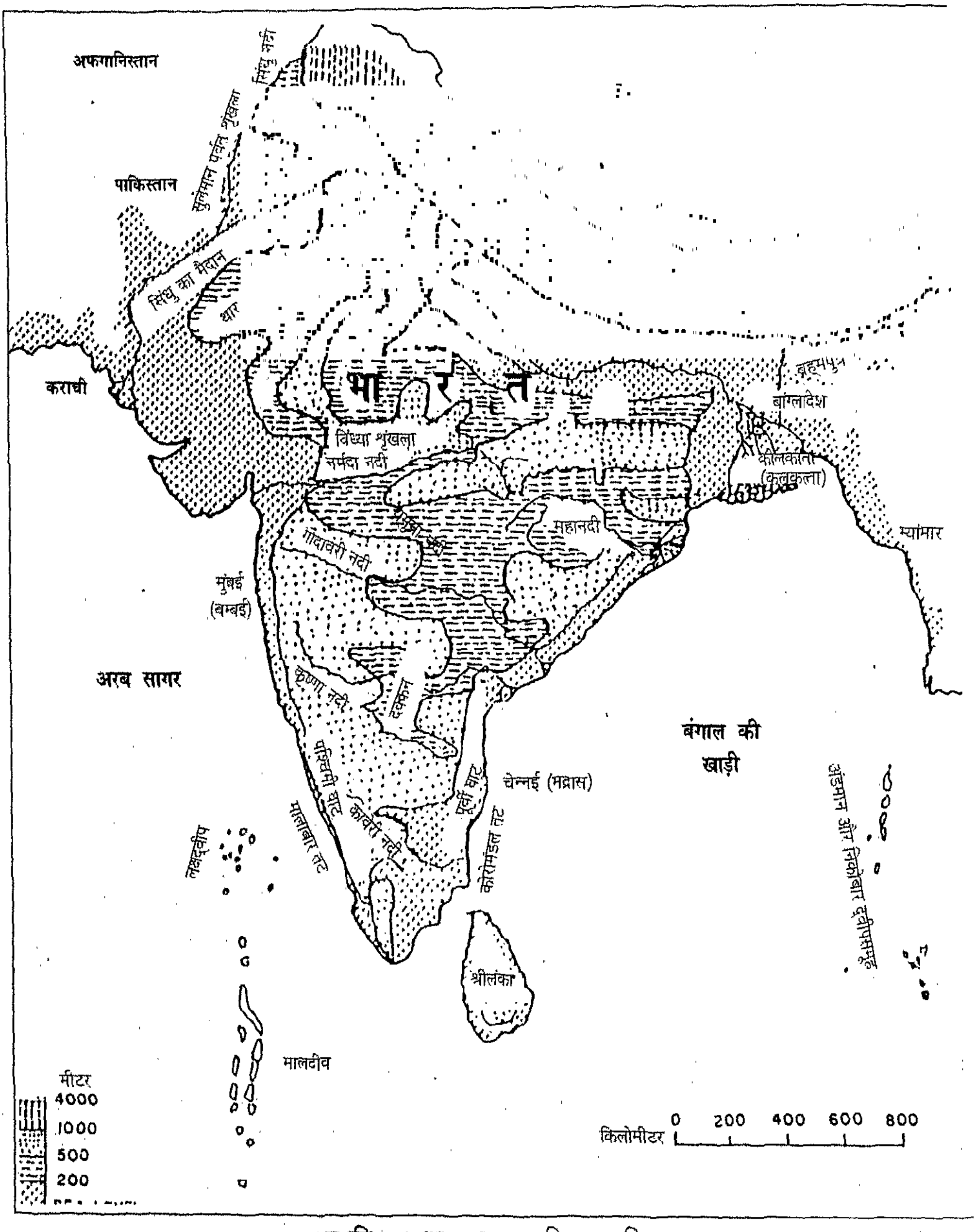
भौतिक दृष्टि से इस उपमहाद्वीप का अध्ययन तीन भागों में किया जा सकता है : (i) हिमालय पर्वत; (ii) गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदान; और (iii) दक्कन का पठार।

## हिमालय पर्वत

हिमालय पर्वत पश्चिम में अफगानिस्तान से लेकर पूर्व में मयनमार तक फैला है। तिब्बत का पठार इसका उत्तरी भाग है। यह 2,400 किलोमीटर से अधिक लंबा और लगभग 250 से 320 किलोमीटर चौड़ा है। इसमें लगभग 114 चोटियाँ हैं, जो 20,000 फुट से अधिक ऊँची हैं। इनमें सबसे ऊँची चोटियाँ हैं : गौरीशंकर अथवा ऐवरेस्ट (संसार की सबसे ऊँची चोटी), कंचनजंगा, धौलगिरि, नंगापर्वत और नंदादेवी। हिंदुकुश पर्वत जो पामीर के पठार से शुरू होता है, भारतीय उपमहाद्वीप की पश्चिमी प्राकृतिक सीमा बनाता है। सफेद कोह, सुलेमान और किरथर की पर्वत मालाएँ ईरान को भारतीय उपमहाद्वीप से अलग करती हैं। 'लेकिन आधुनिक अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में इस रेखा के पश्चिम में स्थित विशाल भू-भाग, हिंदुकुश के दक्षिण और पूर्व में स्थित भू-भागों की तरह ही बहुत लंबे समय तक सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से भारत के भाग रहे।'

पूर्व की ओर पटकोई पहाड़ियाँ, नागा पहाड़ियाँ, मणिपुर का पठार और खासी, गारो तथा जयंतिया पहाड़ियाँ हैं। लुशाई और चिन की पहाड़ियाँ मणिपुर के दक्षिण में स्थित हैं।

हिमालय उत्तर की ओर से होने वाले विदेशी आक्रमणों को रोकने वाली एक अभेद्य दीवार के रूप में काम करता है, किंतु यह संसार के शेष भाग से बिल्कुल कटा हुआ नहीं है। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण दर्रे (मार्ग) हैं, जिनके जरिए पश्चिमी, मध्य और उत्तरी एशिया के साथ अत्यंत प्राचीन काल से आपसी संबंध कायम रखे गए हैं। यह कहा जाता है कि 'प्रारंभिक शिवालिक काल से ही स्तनपायी पशुओं के झुंडों के आवागमन एवं प्रव्रजन के जरिए पूर्वी अफ्रीका, अरब देश, मध्य एशिया और भारत के बीच न्यूनाधिक रूप से निरंतर पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहा है।' यह भी कहा जाता है कि (भारत) में 'अलास्का, साइबेरिया और मंगोलिया के भू-सेतु मार्गों से मिस्र, अरब देश, मध्य एशिया और दूरस्थ उत्तरी अमेरिका से भी बड़ी संख्या में चौपाया पशुओं का प्रव्रजन होता रहा है।' इन मार्गों से मनुष्यों का आवागमन भी संभव था। यह सुविदित है कि ऐतिहासिक काल में खैबर और बोलन दर्रों का बहुत इस्तेमाल होता रहा है। इसमें से पूर्वोक्त का इस्तेमाल




*आकृति 4.1 भारत का प्राकृतिक मानचित्र*

बहुत बार किया गया है और इसे भारत के प्रवेश द्वार के रूप में जाना जाता है।

भारत की उत्तरी सीमा को मनुष्यों के आक्रमणों से बचाने के अलावा, हिमालय साइबेरिया की ठंडी हवाओं से भी हमारी रक्षा करता है। अत्यंत उपजाऊ भूमि, प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण और निरंतर बहती हुई नदियों वाला सिंध, गंगा और ब्रह्मपुत्र का मैदान हिमालय का वरदान है, जिसके लिए भारतीय उसकी देवता के रूप में पूजा करते हैं।

## सिंध-गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदान

हिमालय के दक्षिण में भारत का अति विस्तृत मैदान है, जिसकी लंबाई 3,200 किलोमीटर से अधिक और चौड़ाई लगभग 240 से 320 किलोमीटर तक है। यह हिमालय से नीचे आने वाली सैकड़ों नदी-सरिताओं द्वारा हिमालय से बहाकर लाई गई अत्यंत उपजाऊ मिट्टी से बना है।

हिमालय से निकलने वाली नदियों की तीन महान प्रणालियाँ हैं, जो इस विशाल मैदान को वर्ष भर निरंतर जल प्रदान करती हैं। ये हैं : सिंध, गंगा और ब्रह्मपुत्र, किंतु इस मैदान में यमुना नदी के पश्चिम और सिंध नदी के पूर्व में स्थित एक काफी बड़े भू-भाग में आजकल कोई जल-प्रणाली नहीं है। इस भू-भाग में हरियाणा, पंजाब और राजस्थान राज्य शामिल हैं। अब यह प्रमाणित हो चुका है कि प्राचीन काल में सरस्वती नदी और उसकी सहायक नदियाँ इस क्षेत्र में बहती थीं।

सिंध नदी तिब्बत पठार के कैलास-मानसरोवर क्षेत्र से निकलती है, पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर कराकोरम पर्वत-शृंखला के बीच लगभग 1,300 किलोमीटर तक बहती है। तब इसमें गिलगित नदी आ मिलती है, फिर सिंध नदी दक्षिण की ओर मुड़ती है और मैदानों में पहुँच जाती है, जहाँ इसमें पाँच नदियाँ शामिल होकर *पंचनद* देश अथवा पंजाब का निर्माण करती हैं। पूर्व से पश्चिम तक, सिंध की ये पाँच सहायक नदियाँ हैं : सतलज *(शतद्रु)*, व्यास (*विपासा*), रावी (*परुष्णी*), चिनाब (*असिक्नी*) और झेलम (वितस्ता)। सबसे प्रथम उल्लिखित नदी सतलज अथवा शतद्रु कभी सरस्वती नदी की सहायक नदी थी, जो अब लुप्त हो गई है, लेकिन फिर सतलज ने अपना मार्ग बदल लिया है।

गंगा हिमालय से निकलने के बाद हरिद्वार के मैदानों में पहुँचती है और उत्तरांचल, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल राज्यों में से गुजरकर बंगाल की खाड़ी में जा मिलती है। इसके पश्चिम में यमुना नदी बहती है। यह भी हिमालय से निकलती है। यमुना और गंगा का इलाहाबाद में संगम होने से पहले, विंध्य पर्वत से निकलने वाली कुछ नदियाँ; जैसे— चंबल, बेतवा और केन नदियाँ यमुना में मिल जाती हैं। विंध्य की एक और महान नदी सोन बिहार में पटना के निकट गंगा नदी में जा मिलती है। हिमालय की ओर से गोमती, सरयू, गंडक और कोसी नदियाँ उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों में गंगा नदी में मिल जाती हैं। अपने अंतिम छोर पर पहुँचकर गंगा कई धाराओं में बँटकर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है। मुख्य धारा को भागीरथी अथवा हुगली कहा जाता है, जिसके किनारों पर मुर्शिदाबाद, हुगली और कोलकाता नगर स्थित हैं। गंगा के सबसे पूर्वी मुख को पद्मा कहा जाता है।

महान ब्रह्मपुत्र नदी जो कैलास में स्थित मानसरोवर झील के पूर्वी भाग से निकलती है, तिब्बत के पठार पर *त्सांगपो* के नाम से बहती है। फिर यह दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और भारत में प्रवेश करती है, जहाँ पर इसका नाम दिहांग हो

जाता है। बाद में दिहांग और लुहित नदियाँ आपस में मिल जाती हैं और उन्हें ब्रह्मपुत्र अथवा लौहित्य कहा जाता है। असम और बंगाल में से बहती हुई, यह गंगा के अंतिम पूर्वी मुहाने अर्थात् पद्मा के साथ मिल जाती है लेकिन बंगाल की खाड़ी में गिरने से पहले, एक अन्य बड़ी नदी, मेघना इसमें मिल जाती है। इस प्रकार जो डेल्टा बनता है, वह बंगाल का एक सबसे अधिक उपजाऊ भाग है और उसे सुंदरबन डेल्टा कहा जाता है।

## दक्कन का पठार और मध्य भारत

प्रायद्वीपीय भारत का अध्ययन दो अलग-अलग भागों के अंतर्गत किया जा सकता है। विंध्य और सतपुड़ा की पर्वत शृंखलाएँ पूर्व से पश्चिम की ओर एक-दूसरे के समानांतर फैली हुई हैं। इन दोनों के बीच नर्मदा नदी बहती है, जो अरब सागर की ओर जाती है। पश्चिम की ओर बहने वाली केवल एक अन्य नदी ताप्ती है, जो सतपुड़ा के कुछ दक्षिण की ओर स्थित है। प्रायद्वीप की अन्य सभी नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं और बंगाल की खाड़ी में जा गिरती हैं, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह पठार पूर्व की ओर झुका हुआ है। पठार का उत्तरी भाग, जिसे विंध्य-सतपुड़ा पर्वतमाला द्वारा अलग किया गया है, मध्य भारत का पठार कहलाता है, जबकि दक्षिणी भाग को दक्कन का पठार कहते हैं।

### *मध्य भारत का पठार*

मध्य भारत का पठार पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में छोटा नागपुर तक फैला हुआ है। भारत का विशाल मरुस्थल जिसे थार का रेगिस्तान कहा जाता है, अरावली पर्वतमाला के उत्तर में स्थित है। इसके दक्षिण में विंध्य पर्वत है, जो नर्मदा की ओर अर्थात् दक्षिण की ओर से सहसा ऊँचा उठ जाता है, वह उत्तर में ढलान के रूप में है। मालवा का पठार, बुंदेलखंड और बघेलखंड की उच्चसम भूमि (टेबल लैंड) इसके भाग हैं। इसके परिणामस्वरूप इस ओर की सारी नदियाँ उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व की ओर बहती हैं और यमुना तथा गंगा में जा मिलती हैं। विंध्य का पूर्वी भाग, जिसे कैमूर शृंखला कहा जाता है, लगभग बनारस के दक्षिण तक फैला हुआ है और गंगा के समानांतर राजमहल पहाड़ियों तक उसका विस्तार है। गंगा और राजमहल के बीच पश्चिम में चुनार (अर्थात् उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर) से पूर्व में तेलियागढ़ी तक एक संकरा मार्ग है। यही महापथ पश्चिमी और पूर्वी भारत को आपस में मिलाता है। सैनिक दृष्टिकोण से इसके सामरिक महत्त्व को पूरी तरह से समझा गया था, इसीलिए पूर्व में रोहतास और चुनार के पहाड़ी दुर्गों तथा पश्चिम में कालिंजर और ग्वालियर के दुर्गों का निर्माण किया गया था। कहा जाता है कि शाहाबाद और तेलियागढ़ी के दर्रे, जो एक-दूसरे से सिर्फ पाँच किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं, बंगाल के प्रवेश द्वार के रूप में काम आते थे।

पठार और थार मरुस्थल के पश्चिम की ओर गुजरात की उपजाऊ निम्नभूमि स्थित है, जिसमें कई कम ऊँची पहाड़ियाँ हैं और जिसकी सिंचाई माही, साबरमती द्वारा और नर्मदा तथा ताप्ती की निचली शाखाओं द्वारा होती है। काठियावाड़ प्रायद्वीप और कच्छ का रण दलदल वाला क्षेत्र है, जो गर्मियों में सूखा रहता है।

### *दक्कन का पठार*

जैसा कि हमने पहले पढ़ा है, दक्कन के पठार की सतह पश्चिम से पूर्व की ओर ढालू है। पश्चिम की

ओर ऊँची खड़ी चट्टानों की शृंखला है, जो दक्षिण से उत्तर की ओर जाती है और इसके तथा समुद्र के बीच एक संकरी मैदानी पट्टी है। इस शृंखला को पश्चिमी घाट कहा जाता है, जिनकी ऊँचाई 3,000 फुट तक है। यह पठार दक्षिण में मैसूर क्षेत्र में लगभग 2,000 फुट ऊँचा है और हैदराबाद में इसकी ऊँचाई इसके लगभग आधे के बराबर है। पूर्वी घाटों में जिनमें कम ऊँचाई वाली पहाड़ियों के समूह शामिल हैं, कई खाली स्थान हैं, जिनसे होकर बहुत-सी प्रायद्वीपीय नदियाँ बंगाल की खाड़ी में जा मिलती हैं। दक्षिण की ओर जाने वाली पहाड़ियाँ, जो समुद्र से धीरे-धीरे दूर होती जाती हैं, ँ ग्म में नीलगिरि के पास पश्चिमी घाटों के साथ मिल जाती हैं। पूर्वी घाट और समुद्र के बीच का मैदान पश्चिमी घाट के मैदान से अधिक चौड़ा है।

नर्मदा और ताप्ती को छोड़कर, जो पश्चिम की ओर बहती हैं और अरब सागर में गिरती हैं, प्रायद्वीपीय भारत की सभी नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। उनमें से अधिकतर नदियाँ पश्चिमी घाट से निकलती हैं और पठार के चौड़ाई वाले पूरे भाग को पार करके बंगाल की खाड़ी में जा गिरती हैं। महानदी एक चौड़े मैदान का निर्माण करती है, जिसे उत्तर-पूर्व में छत्तीसगढ़ का मैदान कहा जाता है। यह नदी समुद्र में मिलने से पहले उड़ीसा से होकर गुजरती है। गोदावरी और उसकी सहायक नदियों की घाटी में उत्तर की ओर एक बहुत बड़ा समतल मैदान है, लेकिन पूर्व में समुद्र से मिलने से पहले यह संकरा हो जाता है। आगे दक्षिण में कृष्णा नदी, तुंगभद्रा जैसी अपनी सहायक नदियों के साथ, दक्कन के पठार को दो भागों में विभाजित करती है। इसके और आगे दक्षिण में कावेरी और उसकी सहायक नदियों से एक अन्य महत्त्वपूर्ण नदी प्रणाली का निर्माण होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि ये नदियाँ उत्तर की नदियों से भिन्न हैं। हिमालय जैसे जल के बारहमासी स्रोत के न होने के कारण, ये दक्षिणी नदियाँ गरमी के मौसम में अधिकतर सूखी रहती हैं और इसलिए ये सिंचाई और नौपरिवहन के प्रयोजनों के लिए कम उपयोगी हैं।

## तटवर्ती क्षेत्र

तटवर्ती उपजाऊ मैदान बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनसे समुद्री क्रियाकलापों और व्यापार के अवसर भी मिलते हैं। पश्चिमी तटवर्ती मैदान उत्तर में खंभात की खाड़ी से लेकर दक्षिण में केरल तक फैला हुआ है। उत्तरी भाग को कोंकण कहा जाता है, जबकि दक्षिणी भाग मालाबार तट कहलाता है। इस क्षेत्र में वर्षा बहुत अधिक होती है। यहाँ पर बड़ी नदियाँ नहीं हैं, किंतु छोटी नदियाँ संचार और सिंचाई के सरल साधन का काम देती हैं। कोंकण क्षेत्र में और मालाबार में भी कुछ अच्छे बंदरगाह हैं। दूसरी ओर पूर्वी तट पर कुछ प्राकृतिक बंदरगाह हैं, लेकिन ऐतिहासिक काल में समुद्री गतिविधियों के फलस्वरूप दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ अधिक घनिष्ठ और लाभदायक संबंध स्थापित हुए।

प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर को केप कोमारिन अथवा कन्याकुमारी अंतद्वीप कहा जाता है। इसके दक्षिण-पूर्व में श्रीलंका का द्वीप है, हालांकि यह भारत का अभिन्न भाग नहीं है, लेकिन यह भारत के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित रहा है। यह छोटे-छोटे द्वीपों, मूंगे की चट्टानों और छिछले जल की एक शृंखला के द्वारा भारत से जुड़ा है जिसे आदम का पुल नाम दिया गया है। आम के आकार के इस श्रीलंका द्वीप को प्राचीन काल में ता॰पर्णि के नाम से जाना जाता था, जो संस्कृत के *ताम्रपर्णी* शब्द का

बिगड़ा हुआ रूप है। संस्कृत शब्द *ताम्रपर्णी* का अर्थ है, तांबूल अथवा पान के पत्ते के आकार वाला। इसे सिंहलद्वीप के नाम से भी जाना जाता था।

## जलवायु

भारतीय उपमहाद्वीप अधिकांशतः उष्णकटिबंध में स्थित है। ऊँचे हिमालय पर्वत द्वारा भारत को साइबेरिया से आने वाली उत्तरध्रुवीय ठंडी हवाओं से सुरक्षित बनाए जाने के कारण, यहाँ की जलवायु लगभग पूरे वर्ष काफी गर्म रहती है। यहाँ दो-दो महीने की छः नियमित ऋतुएँ होती हैं और चार-चार महीनों के तीन मौसम होते हैं। मोटे तौर पर मार्च से जून तक गर्मी का मौसम होता है, उन दिनों कुछ क्षेत्रों में तापमान 48 °C तक चला जाता है। इसके बाद जुलाई से अक्तूबर तक चार महीने के लिए बरसात का मौसम आता है। दक्षिण-पश्चिमी मानसून देश भर में भिन्न-भिन्न मात्रा में वर्षा लाता है।

भारत में गंगा के मैदान में वार्षिक वर्षापात की मात्रा अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग होती है। सिंध क्षेत्र के उत्तरी भाग और गंगा के समूचे मैदान में प्रतिवर्ष कुल मिलाकर 100-200 सेंटीमीटर वर्षा होती है, जबकि भारत के उत्तर-पूर्वी भाग में 200-400 सेंटीमीटर अथवा उससे भी अधिक वर्षा होती है। आधुनिक काल में सिंध और गुजरात के कुछ भागों सहित हरियाणा और राजस्थान क्षेत्र में कम वर्षा होती है, लेकिन इस बात के साक्ष्य हैं कि प्राचीन काल में यहाँ पर अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती थी और हड़प्पा की सभ्यता इसी क्षेत्र में फली-फूली थी।

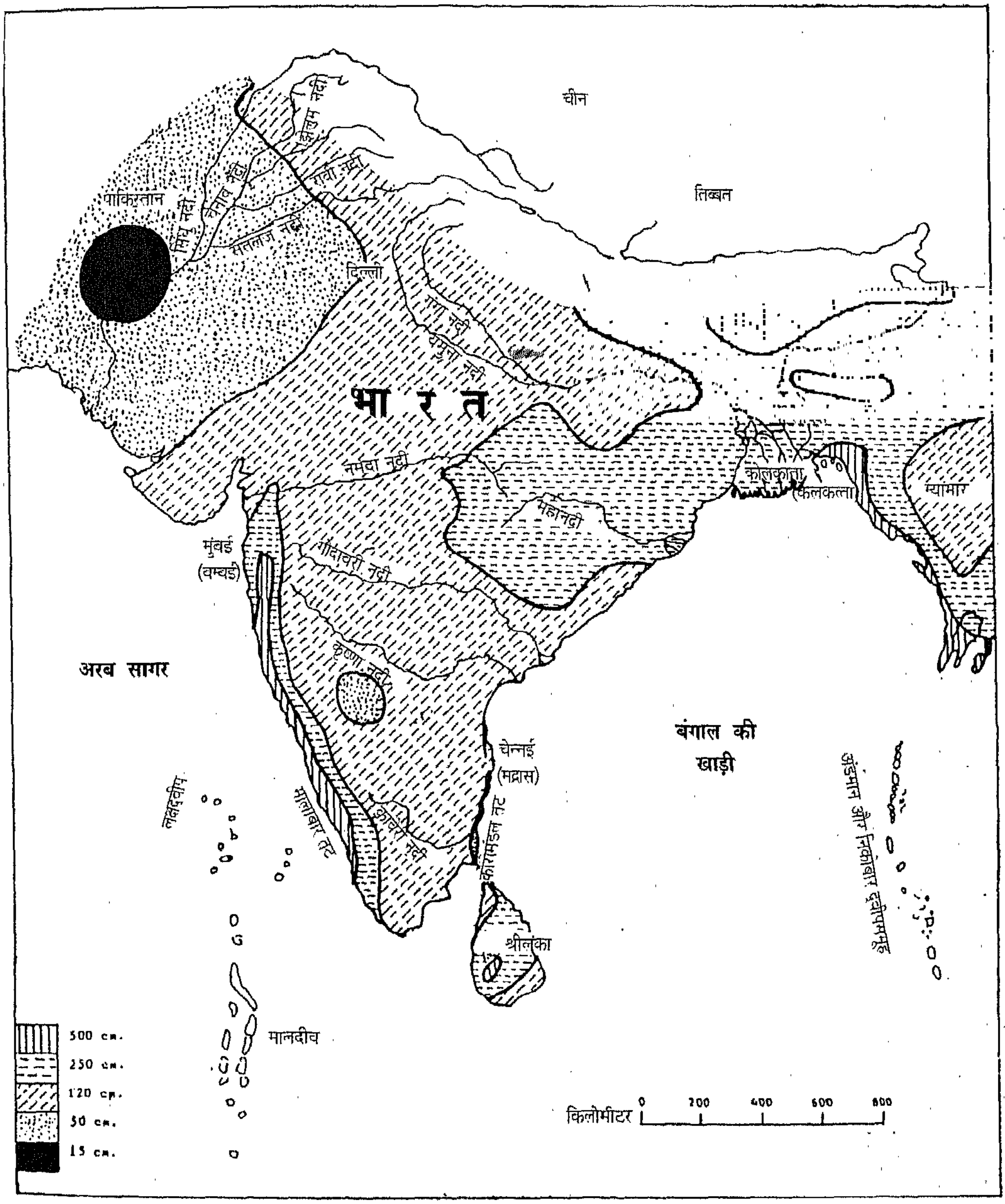
भारत के एक काफी बड़े भाग में दक्षिण-पश्चिमी मानूसन वर्षा लाता है, जो खरीफ की फसलों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार, सर्दी के मौसम में पश्चिमी विक्षोभ से जो वर्षा होती है, उससे वर्ष की दूसरी फसल पैदा होती है, जिसे रबी की फसल कहा जाता है। चावल की खेती गंगा और ब्रह्मपुत्र के मैदानों में और पूर्वी तट पर तमिलनाडु तक की जाती है। देश के पश्चिमी भाग और अधिकांश अन्य भागों में गेहूँ और जौ रबी की प्रमुख फसलें हैं।

तीसरा मौसम सर्दी का होता है, जब तापमान 5 °C अथवा इससे भी कम हो जाता है। लेकिन हिमालय पार के उत्तरी क्षेत्रों की तुलना में इसे गरम ही समझा जाना चाहिए।

इस प्रकार, भारत असंख्य किस्मों की विविधतापूर्ण वनस्पतियों वाला और अनुकूल मौसमों की नियमित श्रृंखला वाला देश है। यह एक ऐसा देश है, जो मानव आवास के लिए अत्यंत उपयुक्त है। मध्य एशिया अथवा यूरोप जैसे विश्व के अन्य किसी भाग की तुलना में यहाँ पर जनसंख्या में चरम सीमा तक वृद्धि होने और बाहर से अति विशाल संख्या में लोगों द्वारा यहाँ आकर बस जाने के लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ रही हैं।

## प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित भारत का भूगोल

प्राचीन काल में भारत के विशाल उपमहाद्वीप को भारतवर्ष, अर्थात् भरतों की भूमि के नाम से जाना जाता था, जिसके उत्तर की सीमा पर हिमालय पर्वत और दक्षिण में समुद्र था। यह जंबूद्वीप का दक्षिणी भाग था। सिंधु द्वारा सिंचित प्रदेश को 'इंडिया' का नाम सबसे पहले हखामनी ईरानी लोगों द्वारा दिया गया था। पारसियों के पवित्र ग्रंथ *ज़ेंद अवेस्ता* में सरस्वती की सात नदियों (अथवा सरस्वती की पाँच धाराओं सहित गंगा और यमुना) के क्षेत्र का उल्लेख




***आकृति 4.2*** *वार्षिक वर्षापात क्षेत्र*

करते हुए 'सप्त सिंधु' शब्द का उपयोग किया गया है। यूनानियों ने बाद में यह शब्द ईरानियों (पर्शियनों) से उधार लेकर सिंधु नदी को 'इंडोस' के नाम से पुकारा। पर्शियनों की पुस्तक *मेहरे याश्त* और *यास्ना* में हम देखते हैं कि हफ्त हेंदु के स्थान पर वस्तुतः हिंदू शब्द का उपयोग किया गया है, जिससे पता चलता है कि इस शब्द का विस्तार इंडस (सिंधु नदी) के क्षेत्र के आगे के प्रदेश तक था। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार, हेरोडोटस, ने 'इंडीस' शब्द का प्रयोग पर्शियन साम्राज्य की 'क्षत्रपी' के लिए किया था। लेकिन बाद में धीरे-धीरे यूनान और रोम दोनों के लेखकों द्वारा इस शब्द को समूचे देश के लिए लागू कर दिया गया।

ईसा की प्रथम शताब्दी में चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश होने पर, चीनियों ने भारत के लिए तिएन-चू अथवा चुआंतू शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन ह्वेनसांग के बाद वहाँ पर यिन-तू शब्द का चलन हो गया। फारसी में हिंदू, यूनानी में इंडोस, हिब्रू में होड्डू, लैटिन में इंडस, और चीनी में तिएन-चू, ये सभी शब्द सिंधु शब्द के बिगड़े हुए रूप हैं। इस प्रकार भरत के वंशज भारतीय अथवा हिंदुओं के नाम से जाने जाने लगे। ईत्सिंग कहता है कि "हिंदू नाम का प्रयोग केवल उत्तरी जनजातियों द्वारा किया जाता है, और स्वयं भारत के लोग इसे नहीं जानते।"

एक प्रदेश के रूप में भारत का प्रथम सुनिश्चित उल्लेख पाणिनि की रचना *(अष्टाध्यायी)* में पाया जाता है। पाणिनी का समय छठी शताब्दी ई.पू. माना जाता है। तब भारत नाम का जनपद कंबोज से मगध तक विनिर्दिष्ट 22 जनपदों में से एक जनपद था। ये सभी जनपद उत्तरी भारत में थे। बाद में बौद्ध साहित्य में प्राचीन सप्त-सिंधु के अनुरूप सात भारत प्रदेशों (सप्त-भरतों) का उल्लेख है। आर्य देश और ब्रह्मराष्ट्र, भारत के ऐसे अन्य नाम थे, जिनका उल्लेख ईत्सिंग ने किया था। आर्यावर्त भी एक अन्य प्राचीन नाम था, जो पतंजलि के समय (150 ई.पू.) हिमालय और परियात्रक के बीच स्थित भारत के उत्तरी भाग को अथवा विंध्य के पश्चिमी भाग को दिया गया था। इसकी पश्चिमी सीमा पर आदर्शावली अथवा अरावली और पूर्वी सीमा पर कालकवन अथवा राजमहल पहाड़ियाँ थीं। *पुराणों* में भारतवर्ष शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "वह देश जो समुद्र (अर्थात् हिंद महासागर) के उत्तर में और बर्फीले पर्वतों (हिमालय) के दक्षिण में स्थित है, जहाँ पर सात मुख्य पर्वत शृंखलाएँ हैं, अर्थात् महेंद्र, मलय, सह्य, सुक्तिमत्, ऋक्ष (गोंडवाना के पहाड़), विंध्य और परियात्र (अरावली तक पश्चिमी विंध्य पर्वत श्रेणियाँ), जहाँ भरत के वंशज रहते हैं। और जिसके पूर्व में किरात और पश्चिम में यवन (आयोनियन अथवा यूनानी) रहते हैं, और इसके अपने लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (अर्थात् हिंदू) हैं।"

लेकिन भारतवर्ष नाम, इंडिया शब्द की तरह, केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति नहीं है। इसका एक ऐतिहासिक महत्व है, जो *ऋग्वेद* के भरतों के देश का संकेत देता है। यह उनके प्रेम और सेवा की गंभीर भावनाओं का प्रतीक है, जैसा कि उनके साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है। हिंदुओं की नित्यप्रति की साधारण प्रार्थना में एक हिंदू से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी मातृभूमि की छवि का स्मरण उन सात पवित्र नदियों— गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी के देश के रूप में करे, जिनके अंतर्गत उसका सारा क्षेत्र शामिल है, और उसकी पूजा करे। एक अन्य

प्रार्थना में इस भूमि का स्मरण सात पुरियों (पवित्र नगरों) अयोध्या, मथुरा, माया (आधुनिक हरिद्वार), काशी, कांची (कांजीवरम), अवंतिका (उज्जैन), द्वारावती (द्वारका) के देश के रूप में किया गया है; ये नगर भारत के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन प्रार्थनाओं की भावना को हिंदुओं की तीर्थ यात्रा की विशिष्ट परंपरा द्वारा और बलवती बनाया गया है। इस परंपरा के अनुसार प्रत्येक हिंदू से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने जीवन-काल में अपनी धार्मिक आस्था से संबंधित पवित्र स्थलों (तीर्थों) के दर्शन करे। हिंदुओं के प्रत्येक प्रमुख धार्मिक संप्रदाय; जैसे— वैष्णव, शैव अथवा शाक्त और अन्य संप्रदायों के तीर्थों की अपनी सूचियाँ हैं और ये तीर्थ समूचे भारत के कोने-कोने में स्थित हैं, किसी एक प्रांत तक सीमित नहीं हैं। सारे संप्रदाय एक मत से अपने-अपने अनुयायियों से आग्रह करते हैं कि भारत के दूर-दूर स्थानों पर स्थित अपने विभिन्न तीर्थ-स्थलों की यात्रा करें; इस प्रकार उनमें अपनी सबकी मातृभूमि के बारे में जीवंत भावना उत्पन्न होती है। शंकराचार्य ने इसी भावना से प्रेरित होकर देश के चार छोरों पर चार मठ स्थापित किए थे, अर्थात् उत्तर में (हिमालय में बदरी-केदार के निकट) ज्योतिर्मठ, पश्चिम में द्वारका में शारदामठ, पूर्व में पुरी में गोवर्धन मठ और मैसूर में शृंगेरी मठ। इस प्रकार, हिंदू संस्कृति में संप्रदाय अथवा पंथ राष्ट्रीयता के सहायक हैं, विरोधी नहीं। *भागवत पुराण* अथवा *मनुस्मृति* जैसे धार्मिक ग्रंथों में देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत अंश पाए जाते हैं, जिसमें भारतवर्ष को देवताओं द्वारा निर्मित भूमि (देवनिर्मित स्थानम्) बताया गया है और कहा गया है कि देवता भी पृथ्वी के इस स्वर्ग में जन्म लेने की इच्छा रखते हैं। जिससे कि उन्हें यहाँ के वातावरण से आध्यात्मिक तृप्ति मिल सके और इन सबमें सर्वोपरि कथन है— *"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"*, अर्थात् माँ और मातृभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं!

इन सभी प्रार्थनाओं और उद्धरणों से पता चलता है कि हिंदुओं ने देशभक्ति को धर्म में एक उच्च स्थान दिया है। एक सुप्रतिष्ठित ब्रिटिश आलोचक के शब्दों में, "हिंदू भारत को न केवल एक राजनीतिक इकाई, स्वाभाविक रूप से प्रभुसत्ता की एक वस्तु मानता है— चाहे वह प्रभुसत्ता किसी की भी—चाहे अंग्रेजों, मुसलमानों या हिंदुओं की हो बल्कि मातृदेवी के मंदिर की तरह अपनी संस्कृति का मूर्त रूप समझता है... उसने भारत को अपनी संस्कृति का प्रतीक बना लिया है, उसने इसमें अपनी आत्मा को स्वयं अपने आपको आत्मसात् कर दिया है। उसकी चेतना में यह देश उसका अपना ही बृहत्तर रूप है।"

किंतु धर्म के अलावा प्राचीन हिंदुओं के राजनीतिक अनुभवों ने भी मातृभूमि की उनकी इस अवधारणा को बल प्रदान किया है। किसी देश की एकता को तभी आसानी से हृदयंगम किया जा सकता है, यदि वह किसी एक ही राजनीतिक सत्ता के नियंत्रण में हो। प्राचीन हिंदू बहुत प्राचीन काल से इस आदर्श से और प्रभुसत्ता की इस संस्था से सुपरिचित थे। *एकराट्, सम्राट्, राजाधिराज* अथवा *सार्वभौम* जैसे महत्वपूर्ण वैदिक शब्दों, और *राजसूय, वाजपेय* अथवा *अश्वमेध* जैसे वैदिक अनुष्ठानों से इस बात का संकेत मिलता है। ये यज्ञ उस राजा द्वारा किए जाते थे, जो अपनी दिग्विजय द्वारा अपने आपको राजाधिराज बना लेता था। कुछ वैदिक रचनाओं और बाद की कुछ कृतियों; जैसे— *महाभारत* अथवा *पुराणों* में ऐसे महान राजाओं अथवा सम्राटों की सूचियाँ भी दी गई हैं। इन प्रागैतिहासिक सम्राटों के

अलावा, ऐतिहासिक काल में भी ऐसे सम्राट हुए हैं; जैसे— चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष और मिहिर भोज, तथा बाद के काल में अकबर और औरंगजेब। कुछ राजाओं ने अपनी परमोच्च प्रभुसत्ता की घोषणास्वरूप अश्वमेध यज्ञ भी किए थे, जैसे पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त प्रथम, आदित्यसेन और पुलकेशिन्-प्रथम। इस प्रकार परमोच्च प्रभुसत्ता की संस्था का भारत में लंबा इतिहास है।

## भारतीय इतिहास पर भूगोल का प्रभाव

भौगोलिक विशेषताएँ कई पहलुओं से मनुष्य के क्रियाकलापों और प्रकृति तथा अन्य मानव-समूहों के साथ उसके संबंधों को प्रभावित करती हैं। पहाड़ियों, पर्वतों और नदियों आदि के प्राकृतिक अवरोधों से उसे एक भौगोलिक इकाई और उसके अपनत्व की अनुभूति होती है। वह अपने परिवेश के अनुसार अपनी आदतों और सोचने के तरीके का विकास करता है। हमने देखा है कि भारतीय उपमहाद्वीप एक विशाल देश है जिसके उत्तर में हिमालय और शेष तीन दिशाओं में समुद्रतटीय सीमाओं के रूप में सुनिर्धारित प्राकृतिक अवरोध हैं। इससे यहाँ रहने वाले लोगों में एकता की भावना उत्पन्न होती है, वे इसे अपनी मातृभूमि मानते हैं। इसकी विशालता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि यदि पूरे यूरोप में से भूतपूर्व सोवियत संघ को निकाल दिया जाए तो शेष यूरोप लगभग भारत के बराबर होगा। यूरोप में अनेक राष्ट्र हैं, जिनका अपना इतिहास है, अपनी परंपरा, भाषा आदि हैं। इसके विपरीत, हालांकि भारत में भी हमेशा बहुत-से राज्य रहे हैं, लेकिन उनका सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचा, मोटे तौर पर हमेशा एक-जैसा रहा है। संस्कृत स्थानीय भाषाओं के साथ-साथ, सबसे सम्मानित भाषा रही है। राज्यों का प्रशासन और शासन विधि-पुस्तकों के आधार पर किया जाता था, जिन्हें धर्मशास्त्र कहा जाता है। उपासना-स्थल और तीर्थस्थान समूचे देश में बिखरे पड़े हैं। ये सांस्कृतिक बंधन भारतीयों में एकता और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करते हैं।

इसके साथ-साथ विशिष्ट क्षेत्रीय विविधताएँ भी हैं। कई ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें विशिष्ट क्षेत्रीय भावना और सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं। इन अलग-अलग इकाइयों से विशाल राज्यों, साम्राज्यों का उदय हुआ और समय पाकर वे दुर्बल हो गए, उनका स्थान अन्य इकाइयों ने ले लिया। कुछ इतिहासकारों ने इसे परस्पर-क्रिया, प्रतिक्रिया करने वाली केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण की शक्तियों के रूप में परिभाषित किया है। दूसरे शब्दों में, एकीकरण और विघटन की शक्तियाँ हमेशा सक्रिय रही हैं, लेकिन यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि राज्य-व्यवस्था की भारतीय पद्धति में विजय की चक्रवर्ती अवधारणा को स्वीकार किया गया था, जिसके अनुसार प्रत्येक राजा को समूचे देश का शासन करने की आकांक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार साम्राज्यों का पतन होता रहा और फिर नए साम्राज्यों का उदय होता रहा, किंतु यह परंपरा जारी रही। यहाँ तक कि उत्तर-पश्चिम के प्रारंभिक विजेता; जैसे— भारतीय-यूनानियों, शक-पहलवों, कुषाणों आदि ने राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना की, लेकिन वे राज्य-व्यवस्था के भारतीय आदर्शों को अपनाने की अपनी तीव्र अभिलाषा को और भारतीय समाज की मुख्य धारा में स्वयं को सम्मिलित करने की अपनी इच्छा को प्रकट करने में कभी नहीं चूके।

पूर्व काल में भी राजनीतिक उतार-चढ़ाव के बावजूद इन क्षेत्रों ने अपनी अलग पहचान को बनाए रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत-से अन्य राज्यों के साथ-साथ, उत्तर में कोसल, मगध, गौड़, वंग, अवंति, लाट और सौराष्ट्र, दक्षिण में कलिंग, आंध्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक, चेर, चोल और पांड्य के प्राचीन राज्यों को शाश्वत जीवन प्राप्त था। साम्राज्यों का उत्थान और पतन होता रहा, वे बार-बार एक-दूसरे के साथ भिड़ते रहे, किंतु इन राज्यों ने विभिन्न नामों और विभिन्न राजवंशों के अंतर्गत इतिहास की लगभग संपूर्ण अवधि में अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा।

भारत के तीन ओर एक लंबी तट-रेखा है। यहाँ रहने वाले लोग समुद्री गतिविधियों में निष्णात थे। उनके दोनों ओर के देशों के साथ व्यापारिक संबंध थे। दक्षिण में चोल राजवंश के अलावा अन्य किसी राजवंश ने समुद्रपार की किसी भूमि को जीतने की कभी कोशिश नहीं की, लेकिन यह कोई स्थायी कोशिश नहीं थी।

इसके विपरीत हम देखते हैं कि भारतीय ज्ञात संसार के बहुत-से भागों में फैल गए थे, लेकिन दक्षिण-पूर्वी एशिया में वियतनाम, इंडोनेशिया, कंबोडिया आदि देशों में उन्होंने स्थायी सांस्कृतिक प्रभाव छोड़ा। ऐसा किसी राज्य के प्रयास से नहीं, अपितु व्यापारियों और राजकुमारों के वैयक्तिक प्रयासों से हुआ था। यहाँ जान लेना चाहिए कि ये प्रयास यूरोपीय उपनिवेशवादियों के प्रयासों से बिल्कुल भिन्न प्रकार के थे। भारतीयों ने कभी भी नरसंहार अथवा अत्याचारपूर्ण दमन की कोशिश नहीं की। उन्होंने विशाल राज्य स्थापित किए और उसी भूमि के भाग बन गए। उन्होंने उन्हें अपना धर्म और भूगोल प्रदान किया, लेकिन उनके धर्म और दर्शन को भी आत्मसात् कर लिया।

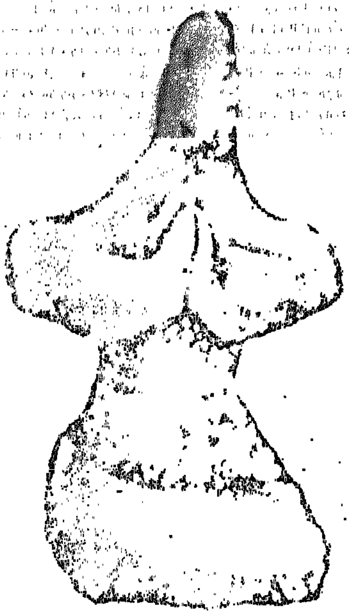
इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत की भौगोलिक विशेषताओं ने न केवल इसके इतिहास और इसकी संस्कृति को बल्कि यहाँ के लोगों की मानसिकता और चिंतन को भी आकार दिया है।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित के अर्थ स्पष्ट करें :
   आर्यावर्त, पंचनद देश, रबी और खरीफ़ की फसलें।
2. भारत की भौतिक़ विशेषताओं का विवेचन करें।
3. भारत की जलवायु का वर्णन करें।
4. प्राचीन साहित्य में वर्णित भारत के भूगोल पर चर्चा करें।
5. ये भौगोलिक विशेषताएँ इतिहास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं?

**करने के लिए कार्य**

- भारत का मानचित्र तैयार करें और उसमें महत्वपूर्ण नदियों को दिखाएँ।



**अध्याय 5**

# प्रस्तर युग की संस्कृतियाँ

**पृथ्वी** और उस पर विद्यमान सभी चीज़ों के बीच के संबंध को [illegible] बढ़िया तरीका यह है कि हम यह कल्पना करें कि उसकी उम्र 46 वर्षों की है और जब हम उसका इतिहास लिखने बैठते हैं तो पता चलता है कि हमें उसके जीवन के पहले सात वर्षों के बारे में कुछ पता नहीं है, लेकिन उसके बाद के बचपन के कार्यों को पुरानी चट्टानों में देखा जा सकता है।

## प्रस्तावना

दस वर्ष का समय आधुनिक विज्ञान में और किसी मनुष्य के जीवन में एक लंबा काल है, लेकिन हमारे पृथ्वी ग्रह के मामले में दस वर्ष का समय लगभग शून्य के बराबर है। इतने समय में तो उन चट्टानों की मोटाई में, जो छिछले समुद्र तल में मिट्टी के जमा होने से बढ़ती है, एक इंच के दसवें भाग के बराबर वृद्धि भी बड़ी मुश्किल से होती है। हम में से केवल सर्वाधिक तीक्ष्ण दृष्टि वाला व्यक्ति ही देख पाता है कि उसके जीवनकाल में, पृथ्वी के सबसे अधिक सक्रिय क्षेत्रों को छोड़कर उसमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं।

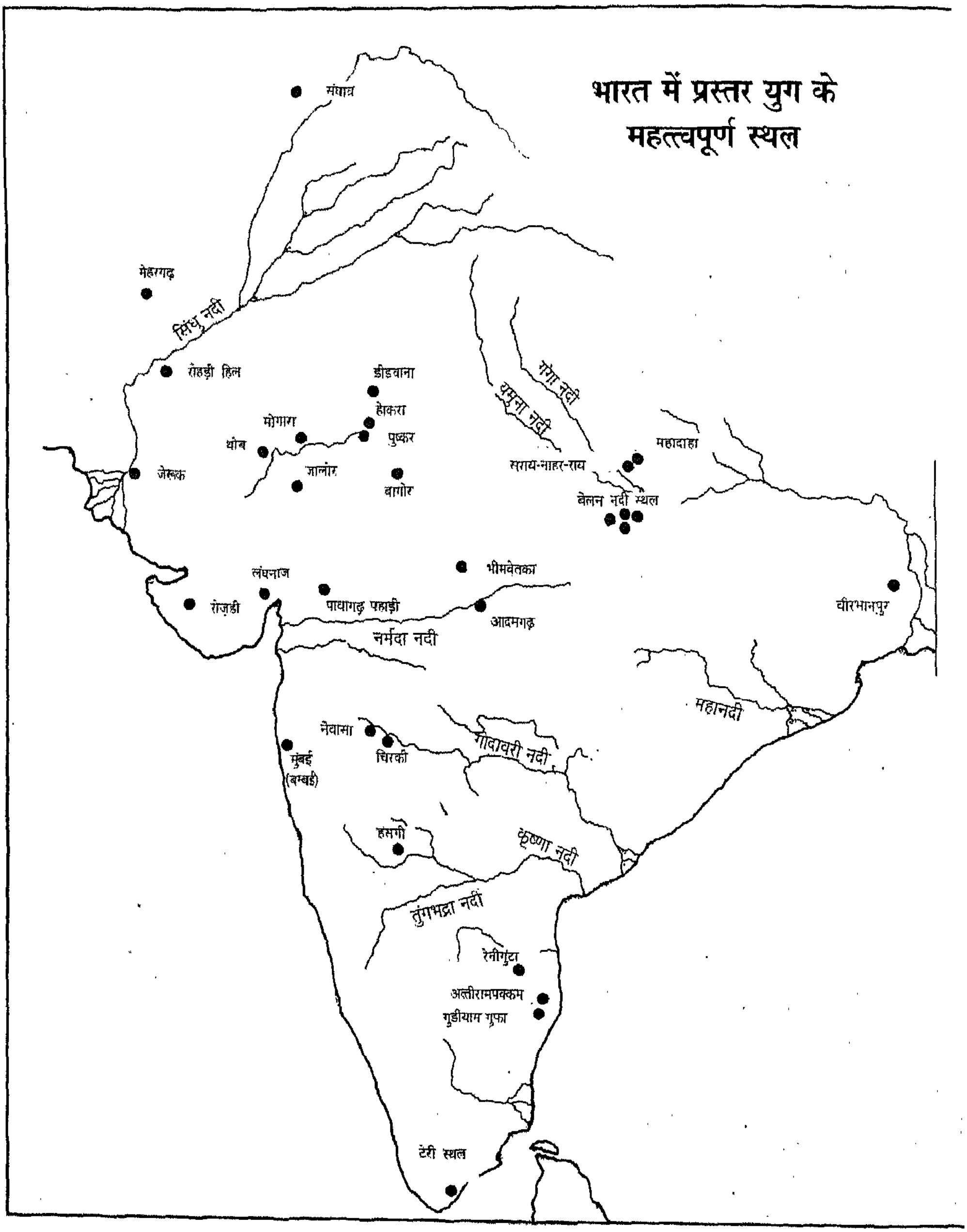
जीवाश्मों और चट्टानों की परमाण्विक संरचना की सूक्ष्मताओं की जाँच करके, भू-वैज्ञानिक पृथ्वी के इतिहास की घटनाओं की तारीखें, कुछ विश्वास के साथ निश्चित कर सकता है। अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी की आयु लगभग 4,600 मिलियन वर्ष (यानी 460 करोड़ वर्ष) है, अतः यदि हम अपनी जानी-पहचानी चीजों के साथ उसकी तुलना करेंगे तो वह बहुत ही अपर्याप्त एवं अनुपयुक्त होगी।

## पृथ्वी की आयु

पृथ्वी और उस पर विद्यमान सभी चीजों के बीच के संबंध को समझने का एक सबसे बढ़िया तरीका यह है कि हम कल्पना करें कि पृथ्वी की आयु 46 वर्ष की है और जब हम उसका इतिहास लिखने बैठते हैं तो पता चलता है कि हमें उसके जीवन के पहले सात वर्षों के बारे में कुछ पता नहीं है, लेकिन उसके बाद के बचपन के कार्यों को पुरानी चट्टानों में देखा जा सकता है (देखिए सारणी 1)।

हम आज पृथ्वी पर, ज़ीवन-तत्व सहित जो भी दृश्यप्रपंच देखते हैं, उसमें से अधिकांश की उत्पत्ति उसके जीवन के अंतिम छः वर्षों (अर्थात् 60 करोड़ वर्षों) में हुई है। पृथ्वी अपने जीवन के मध्य काल में पल्लवित-पुष्पित हुई। उसकी लगभग 42 वर्षों की आयु तक उसके महाद्वीप जीवन से लगभग शून्य थे और उसके 45 वर्षों के होने तक, अर्थात् लगभग एक वर्ष पहले तक, उस पर पुष्पों वाले पौधे प्रकट नहीं हुए थे। लगभग उसी समय डाइनोसौर जैसे विशालकाय सरीसृप अस्तित्व में आए और उसी समय इस विराट महाद्वीप के विखंडन की प्रक्रिया भी चल रही थी।

आठ महीने पहले डाइनोसौरों का अंत हो गया और उनका स्थान प्रारंभिक स्तनपायी प्राणियों ने ले लिया। पिछले सप्ताह के मध्य में, अफ्रीका में मनुष्यों जैसे कुछ वानरों का विकास, वानरों जैसे मनुष्यों के रूप में हुआ और सप्ताहांत के समय धरती माँ अत्यंत ठंडे हिम-युगों की सबसे अद्यतन शृंखला के शुरू होने पर ठिठुरने और कंपायमान होने लगी। अभी केवल चार घंटे पहले ही, *होमो-सेपियंस* (प्राज्ञ मानव) नामक एक नई प्रजाति अस्तित्व में आई, और सबसे अंतिम घंटे में इसने कृषि की खोज की और एक जगह पर टिक कर बैठ गई। लगभग 30 मिनट पहले हड़प्पा-पूर्व संस्कृति और प्रारंभिक हड़प्पा संस्कृति ने विकसित होना शुरू किया। लगभग 14 मिनट पहले बुद्ध ने सारनाथ में अपना पहला उपदेश दिया और लगभग 12 मिनट पहले मौर्य साम्राज्य फला-फूला। लगभग 7 मिनट पहले हर्ष ने प्रयाग में अपना सब कुछ दान कर दिया और अकबर ने लगभग दो मिनट पहले सूफी संत सलीम चिश्ती के पास जाने के लिए यात्रा की थी। मुश्किल से दो सेकंड पहले भारत एक गौरवशाली स्वतंत्र राष्ट्र बना (देखिए सारणी 1 और 2)।




*आकृति 5.1 भारत में प्रस्तर युग के महत्त्वपूर्ण स्थल*

| | |
|---|---|
| 0 आज से दस लाख वर्ष पूर्व – 600 | सामने की सारणी देखिये |
| 600 | प्रचुर जीवाश्मों का प्रारम्भ |
| 1000 | |
| | प्रमुख महाद्वीपीय टकराहटें |
| 2000 | |
| | प्रमुख महाद्वीपीय टकराहटें |
| 3000 | |
| 3300 | जीवन की अनुमानित उत्पत्ति |
| 3900 | |
| | प्राचीनतम ज्ञात चट्टानें |
| 4000 | |
| 4600 | पृथ्वी की उत्पत्ति |

***सारणी 1*** *पृथ्वी की आयु और जीवन की उत्पत्ति*

| वर्ष लाखों में | काल | युग | विकास | महाकल्प | वर्ष लाखों में |
|---|---|---|---|---|---|
| 2 | चतुर्थ मताकल्प | अभिनूतन | प्रथम मानव | | 0 |
| | टर्शियरी | अतिनूतन | मानव की तरह के कपि | नूतनजीव | |
| | | अल्पनूतन | | | |
| | | अधिनूतन | बंदर और कपि | | |
| | | आदिनूतन | | | |
| | | पुरानूतन | प्रथम नरवानर | | |
| 64 | क्रिटेशस | | प्रथम फूलों वाले पौधे | मध्यजीव | 100 |
| 136 | जुरेसिक | | प्रथम पक्षी | | |
| 190 | ट्राइएसिक | | प्रथम डाइनासोर<br>प्रथम स्तनधारी | | 200 |
| 225 | पर्मियन | | प्रथम शंकुधारी | | |
| 280 | कार्बोनिफेरस | | प्रथम सरीसृप | पुराजीव | 300 |
| 345 | डेवोनियन | | प्रथम कीट<br>प्रथम उभयचर पशु<br>प्रथम अस्थिमय मछली | | |
| 410 | सिल्यूरियन | | प्रथम जमीन पर उगने वाले पौधे<br>प्रथम जबड़े वाली मछली | | 400 |
| 440 | ऑर्डोविशियन | | प्रथम कशेरूकी<br>प्रथम कवचित मछली | | |
| 500 | केम्ब्रियन | | प्रथम ज्ञात अकशेरुकी<br>प्रथम कवचित प्राणी | | 500 |
| 600 | प्री-केम्ब्रियन | | प्रथम जीवित वस्तुएं<br>शैवाल<br>जीवाणु | | 600<br>700 |

**सारणी 2** पृथ्वी पर जीवन का विकास

पृथ्वी पर किसी भी रूप में जीवन के अस्तित्व में आने और विशेष रूप से मनुष्य जीवन प्रारंभ होने के समय के संदर्भ में पृथ्वी की आयु को समझने का एक अन्य तरीका यह है कि हम फोटोग्राफों की ऐसी श्रृंखला की कल्पना करें, जिसे एक फिल्म का रूप दिया गया हो। यदि हम यह मान लें कि हमारी पहली तस्वीर 50 करोड़ वर्ष पहले ली गई थी, जब जीवाश्ममय चट्टानों में पृष्ठवंशी और कवचित मछलियों के रूप में जीवन का प्रथम साक्ष्य दिखाई देता है और बाद के चित्र प्रत्येक 5,000 वर्षों के अंतराल से लिए गए थे, तो हमारे पास 1,00,000 (एक लाख) नेगेटिव होंगे और यह फिल्म एक घंटे तक चलेगी। इस अवधि में शैल-निर्माण का कम से कम आधा इतिहास बीत चुका होगा, जिसके दौरान समुद्र में लगभग 51 किलोमीटर मोटी तलछटी चट्टानें निर्मित हुई थीं और बाद में ऊँची उठी थीं। इस फिल्म में शामिल 50 करोड़ वर्षों के दौरान अन्य 34 किलोमीटर मोटी चट्टानों का निर्माण हुआ। जब रील शुरू होती है तो हम शंख, जैली मछली और केकड़े जैसे प्राणियों और समुद्री नलिनियों (लिली) को देखते हैं। एक के बाद एक चरण में, हम पहले मछलियों, बाद में उभयचर (जल-स्थलीय) प्राणियों, सरीसृपों और अंततः स्तनपायी प्राणियों को देखते हैं। अंतिम 3 सेकंडों में मानवप्राणी प्रकट होते हैं और अंतिम सेकंड के अंतिम दसवें भाग में सभ्य मनुष्य दृष्टिगोचर होता है।

## प्रारंभिक मानव

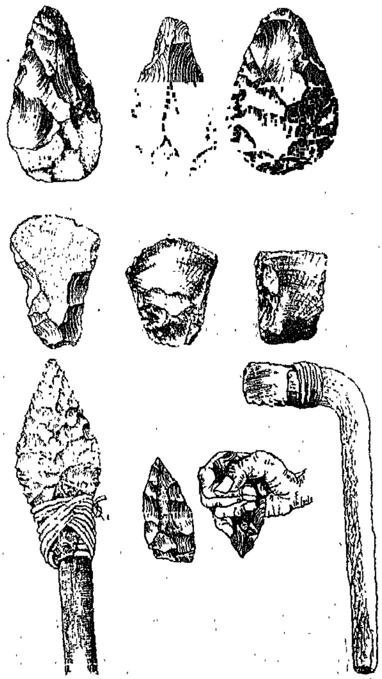
अब यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि अफ्रीका में पाए गए सबसे शुरू के मानवीय जीवाश्म लगभग 42 लाख वर्ष पुराने हैं। इन नमूनों से पता चलता है कि सबसे प्रारंभिक मानव कद में छोटे थे और उनका मस्तिष्क भी छोटा था। मनुष्यों का विकास इन 42 लाख वर्षों में हुआ और वह अपने वर्तमान रूप में लगभग 50,000 वर्ष पहले पहुँचा था। विभिन्न अवधियों और मानव के विकास के विभिन्न चरणों के जीवाश्म संसार के अनेक भागों; जैसे— अफ्रीका, चीन, जावा, सुमात्रा और दक्षिणी यूरोप में पाए गए हैं। दुर्भाग्यवश भारत में नर्मदा घाटी में हथनौरा में मिले एकमेव मानव-वंशी जीवाश्म को छोड़कर कोई अन्य मानवीय जीवाश्म नहीं मिले हैं, जिसका कारण यहाँ की जलवायु की स्थिति है। विशेषज्ञों के अनुसार, इस जीवाश्म की कपाल-क्षमता *होमो-इरेक्टस* की क्षमता के बराबर है। हालांकि कुछ विद्वानों का विचार है कि इसका संबंध *होमो-इरेक्टस* के अंतिम चरण अथवा आद्यप्राज्ञ मानव (*होमो-सेपियन*) से है।

## पुरापाषाण काल के प्रारंभिक औजार

मनुष्यों द्वारा औजारों के इस्तेमाल की शुरुआत एक अद्वितीय घटना है और यह कहा जा सकता है कि इससे मनुष्य के विभिन्न अध्यवसायों में उसकी सहायता के लिए औजारों और यंत्रों के इस्तेमाल के लिए विज्ञान की नींव स्थापित हुई। यह भली-भाँति प्रमाणित हो चुका है कि औजारों का नियमित प्रयोग अफ्रीका में 26 लाख वर्ष पहले शुरू हुआ और ये बहुत-से प्रारंभिक और परवर्ती मानवीय जीवाश्मों के साथ पाए गए हैं। इंडोनेशिया के मामले में, बहुत-से मानवीय अवशेषों का समय हाल में 16 से 18 लाख वर्ष पुराना निश्चित किया गया है। चीन में पत्थरों के प्रारंभिक औजार 17 से 19 लाख वर्ष पुराने मानवीय जीवाश्मों के साथ पाए गए हैं।

दुर्भाग्यवश भारत में प्रस्तर युग के औजारों के साथ कोई मानवीय जीवाश्म नहीं मिले हैं, किंतु हमें भू-वैज्ञानिक काल-निर्धारण से औजारों की पुरातनता के बारे में कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है।

शिवालिक पहाड़ियों के जिन विभिन्न स्तरों में पत्थरों के औजार पाए गए हैं, वे 12 लाख से 20 लाख वर्ष तक पुराने हैं। पत्थरों के प्रारंभिक औजारों की एक अन्य वैज्ञानिक तारीख महाराष्ट्र के पुणे जिले में बोरी नाम के पुरातत्वीय स्थल से प्राप्त हुई है, जो 13.8 लाख वर्ष पुरानी है। जब हम भारत में प्रारंभिक मानवीय आवास अथवा उपस्थिति के साक्ष्य का आकलन करते हैं तो हमें पता चलता है कि इसका काल अफ्रीका क्षेत्र के बाद का है, किंतु एशिया के शेष देशों का समकालीन है।



*आकृति 5.2 पूर्व पुरापाषाणयुगीन औजार*

## पुरापाषाणयुगीन संस्कृतियाँ

भारत में पुरापाषाण युग को, औजार-प्रौद्योगिकी के आधार पर तीन अवस्थाओं में बाँटा जाता है। ये अवस्थाएँ हैं :

(i) पूर्व पुरापाषाणयुग — हस्त कुठार (हैंड ऐक्स) और विदारणी (क्लीवर) उद्योग।

(ii) मध्य पुरापाषाणयुग — शल्क (फ्लेक) से बने औजार।

(iii) उत्तर पुरापाषाणयुग — शल्कों और फलकों (ब्लेड) पर बने औजार।

### *पूर्व पुरापाषाणयुगीन संस्कृति*

इस अवस्था में मुख्य किस्मों के औजार थे : हस्त कुठार अथवा कुल्हाड़ियाँ और विदारणियाँ (क्लीवर) और इनके अलावा एकमुखी खंडक (चोपर)। वे क्रोड (कोर) और शल्क (फ्लेक) दोनों पर बनाए जाते थे। पूर्व पुरापाषाणयुगीन स्थल कई किस्मों के हैं : आवास स्थल (शैलाश्रयों के नीचे अथवा खुले में); कच्ची सामग्रियों के स्रोतों से संबंधित कारखाना स्थल; ऐसे स्थल, जो इन दोनों कार्यों का सम्मिश्रण हैं; और बाद में इनमें से किसी एक श्रेणी के स्थल, खुले स्थान पर। पत्थरों के इन औजारों को बनाने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली कच्ची सामग्री में विभिन्न किस्मों के पत्थर; जैसे— बिल्लौर, चर्ट और कई बार स्फटिक और बेसाल्ट आदि शामिल हैं, जैसा कि नदियों और चबूतरों आदि में देखा गया है, ये औजार रेत, गाद आदि से ढके हुए पाए गए हैं। ये पूर्व पुरापाषाणयुगीन औजार सिंधु, सरस्वती, ब्रह्मपुत्र और गंगा के मैदानों को छोड़ कर, जहाँ पत्थरों के रूप में कच्ची सामग्री उपलब्ध नहीं थी, वास्तव में भारत भर में काफी बड़े क्षेत्र में पाए गए हैं।

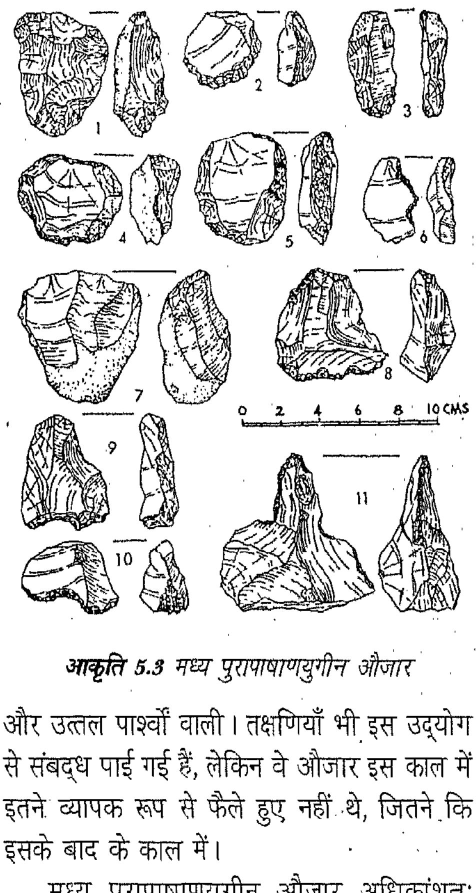
पूर्व पुरापाषाणयुगीन संस्कृतियों के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल ये हैं : कश्मीर में पहलगाम, इलाहाबाद जिले (उत्तर प्रदेश) में बेलन घाटी, होशंगाबाद जिले (मध्य प्रदेश) में भीमबेटका और आदमगढ़, नागौर जिले (राजस्थान) में 16 आर और सिंगी तालाब, अहमदनगर जिले (महाराष्ट्र) में नेबासा, गुलबर्गा जिले (कर्नाटक) में हुंसगी और अट्टिरामपक्कम (तमिलनाडु) का प्रसिद्ध स्थल।

ये स्थल कश्मीर और हिमाचल प्रदेश की शिवालिक पर्वतमाला, पंजाब, उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी, राजस्थान के पहाड़ी क्षेत्र और बेड़ाच बेसिन, और मध्य प्रदेश की नर्मदा और सोन घाटियों, कर्नाटक में मालप्रभा और घाटप्रभा के बेसिनों, महाराष्ट्र के अनेक क्षेत्रों, तमिलनाडु में चेन्नई के निकट के क्षेत्रों और छोटा नागपुर पठार, और उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में व्यापक रूप से फैले हुए हैं।

ऊपर जिन प्रारंभिक तिथियों का उल्लेख किया गया है, उनके अलावा पोतवार पठार, पश्चिमी राजस्थान, सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक के पुरापाषाणयुगीन स्थलों से उपलब्ध तिथियों से यह संकेत मिलता है कि 6,00,000 और 60,000 ई.पू. के बीच के काल में पूर्व पुरापाषाणयुगीन संस्कृति काफी व्यापक रूप से फैली हुई थी।

## *मध्य पुरापाषाणयुगीन संस्कृति*

मध्य पुरापाषाणयुगीन औजार प्रौद्योगिकी की बुनियादी विशेषता थी–शल्क-निर्मित औजार उद्योग। औजार शल्कों (पपड़ियों) पर बनाए गए थे, जो कंकरों अथवा बटिकाश्मों से प्राप्त की गई थीं। इन किस्मों के औजारों में छोटे और मध्यम आकार के हस्त-कुठार, विदारणियाँ और विभिन्न किस्मों की खुरचनियाँ, वेधनियाँ और छुरिकाएँ (चाकू) शामिल हैं। उपलब्ध कच्ची सामग्री, रूप और आकार दोनों दृष्टियों से इनमें क्षेत्रीय भेद भी पाए गए हैं। इन औजारों में वेधनियाँ और आरियाँ शामिल हैं, जो मोटी पपड़ियों को गहरा तराश कर बनाई गई हैं। खुरचनियाँ कई किस्मों की हैं; जैसे– सीधी, अवतल




***आकृति 5.3*** *मध्य पुरापाषाणयुगीन औजार*

और उत्तल पार्श्वों वाली। तक्षणियाँ भी इस उद्योग से संबद्ध पाई गई हैं, लेकिन वे औजार इस काल में इतने व्यापक रूप से फैले हुए नहीं थे, जितने कि इसके बाद के काल में।

मध्य पुरापाषाणयुगीन औजार अधिकांशतः मध्य भारत, दक्कन, राजस्थान, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक और उड़ीसा में पाए गए हैं। मध्य पुरापाषाणयुगीन उद्योग जहाँ कहीं पूर्व पुरापाषाणयुगीन

उद्योगों से विकसित हुए हैं, वहाँ उस स्थल पर निरंतर आवास कायम रहा था। मध्य पुरापाषाण युग के कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल ये हैं : भीमबेटका, नेवासा, पुष्कर, ऊपरी सिंध की रोहिरी पहाड़ियाँ और नर्मदा के किनारे स्थित समनापुर।

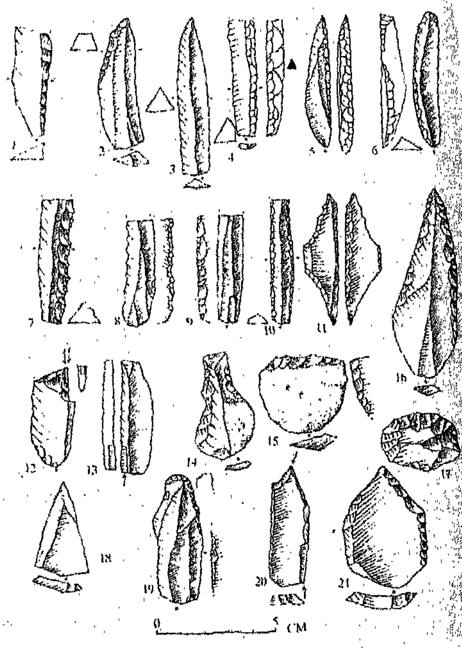
वैज्ञानिक काल-निर्धारण के आधार पर, मध्य पुरापाषाण युग का काल 1,50,000 ई.पू. और 40,000 ई.पू. के बीच अथवा उसके कुछ समय बाद ठहराया जा सकता है।

## *उत्तर पुरापाषाणयुगीन संस्कृति*

मध्य पुरापाषाणयुगीन संस्कृति धीरे-धीरे उत्तर पुरापाषाणयुगीन संस्कृति के रूप में विकसित हुई। उत्तर पुरापाषण युग का बुनियादी प्रौद्योगिकीय नवाचार है, ध्यानपूर्वक तैयार की गई क्रोड से समांतर पक्षीय फलक (पैरेलल साइडिड ब्लेड) बनाने का तरीका। इस प्रकार की एक अच्छी क्रोड एक बार बना लिए जाने से, बहुत-से समांतरपक्षीय फलक बिना किसी और तैयारी के अथवा बिल्कुल थोड़ी-सी तैयारी से बनाए जा सकते हैं।

उत्तर पुरापाषाणयुगीन औजार राजस्थान, गंगा और बेलन घाटियों के कुछ भागों, मध्य और पश्चिमी भारत, गुजरात, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में पाए गए हैं। मुख्य किस्मों के औजार हैं : खुरचनियाँ, बेधनियाँ, आरी, तक्षणियाँ, छेदनियाँ चाकू आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि मिले-जुले औजारों की अवधारणा इस सांस्कृतिक अवधि में विकसित होने लगी थी। फलक वाले औजार अपेक्षाकृत लंबे, कई बार 8 सेंटीमीटर तक लंबे पाए गए हैं।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र के विभिन्न स्थलों से उपलब्ध वैज्ञानिक तिथियों के आधार पर हम विश्वासपूर्वक यह कह



*आकृति 5.4 उत्तर पुरापाषाणयुगीन औजार*

सकते हैं कि उत्तर पुरापाषाण युग की अवधि 45,000 से 10,000 ई.पू. तक थी।

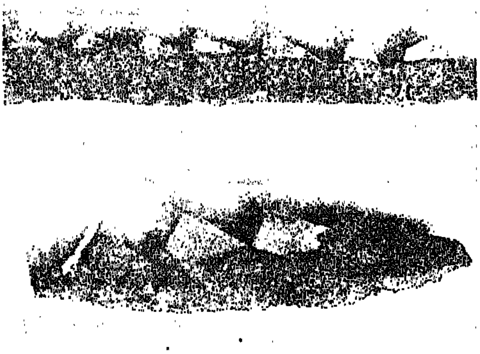
उत्तर पुरापाषाण युग की एक सर्वाधिक उल्लेखनीय खोज थी – रोड़ी मलबे (ढोंका चिनाई) से बना, लगभग 85 सेंटीमीटर व्यास वाला, स्थूल रूप से गोलाकार चबूतरा। रोड़ी मलबे से निर्मित इस चबूतरे के केंद्र में, इलाहाबाद और बर्कले विश्वविद्यालयों के उत्खननकर्ताओं ने प्राकृतिक पत्थर का एक तिकोना टुकड़ा (15 सेंटीमीटर ऊँचा, 6.5 सेंटीमीटर चौड़ा और लगभग 6.5 सेंटीमीटर मोटा) रखा हुआ पाया। उत्खननकर्ताओं के कथनानुसार, "... इसमें कोई संदेह नहीं कि इस अनुपम पत्थर वाला और रोड़ी मलबे से बना चबूतरा और इस स्थल के शेष समूचे भाग में पाए गए चर्ट की

कलात्मक वस्तुएँ समकालीन हैं और उत्तर पुरापाषाण युग के अंतिम आखेटक-संग्रहकर्ताओं के किसी समूह द्वारा निर्मित हैं।" चबूतरे के केंद्र में पाए गए प्राकृतिक पत्थर के टुकड़े के संबंध में बहुत अधिक दिलचस्पी उत्पन्न हुई। इस प्रकार के पत्थर निकटवर्ती कैमूर कगार पर पाए गए हैं और वे तिकोने अथवा दीर्घवृत्तीय पटलीकरण (एलिप्सोइडल लैमिनेशन) दर्शाते हैं, जिनका रंग कुछ पीलापन लिए हुए भूरा अथवा कुछ लालपन लिए हुए भूरा है। वे रोड़ी-मलबे से निर्मित चबूतरों पर रखे हुए हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी पूजा नारी अथवा मातृशक्ति के रूप में की जाती है और उन्हें देवी-माँ का एक अथवा दूसरा रूप माना जाता है। उत्तर पुरापाषाण युग के नमूने 9000-8000 ई.पू. काल के हैं, वे आकृति, आकार और स्वरूप में लगभग एक जैसे ही हैं और आजकल गाँवों के देवालयों में रखी मूर्तियों के समान हैं। यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

## मध्यपाषाणयुगीन संस्कृति

समय बीतने के साथ-साथ पत्थर के औजारों का आकार उल्लेखनीय रूप से घटना शुरू हो गया, जो मध्यपाषाण युग में अपनी परिणति पर पहुँच गया। भारत में इस काल को मध्यपाषाण युग, सूक्ष्मपाषाण युग अथवा परवर्ती प्रस्तर युग कहा जाता है। सूक्ष्मपाषाण युग के औजारों की विशेषता थी : चर्ट, कैलसिडोनी, स्फटिक, जैस्पर, कार्नेलियन, अगेट जैसी बढ़िया सामग्रियों की तैयार क्रोडों से निर्मित समांतरपक्षीय फलक। ये औजार आमतौर पर 1 से 5 सेंटीमीटर लंबे होते हैं और इनमें उत्तर पुरापाषाणयुगीन किस्मों के औजारों के अपेक्षाकृत छोटे रूप शामिल हैं; जैसे— बेधनी, खुरचनी, तक्षणी, आरी आदि, और इसके अलावा विभिन्न आकृतियों और आकारों के कुछ नई किस्मों के औजार; जैसे— अर्धचंद्राकार हँसिया (लुनेट), समलंब, तिकोना बाणाग्र आदि। उनके आकार से स्पष्ट होता है कि उनका उपयोग जुड़े हुए औजारों के रूप में किया जाता था और उन पर लकड़ी और हड्डियों आदि की मूठ लगी होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सूक्ष्मपाषाणयुगीन उद्योग मूलतः उत्तर पुरापाषाणयुगीन उद्योग से निकला है। यह अनुमान इन दो बातों से प्रमाणित होता है कि पुरातत्वीय स्तर विज्ञान (स्ट्रैटिग्राफी) का सातत्य उत्तर पुरापाषाण युग से मध्यपाषाण युग तक है और उत्तरोक्त श्रेणी का भौतिक विकास पूर्वोक्त से हुआ है।

गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, केरल और आंध्र प्रदेश, के विभिन्न पुरास्थलों से मध्यपाषाण युग के बारे में जो सी-14 तारीखें उपलब्ध हुई हैं, उनसे पता चलता है कि यह उद्योग लगभग 12000 ई.पू. के आस-पास शुरू हुआ और 2000 ई.पू. तक जीवित रहा। राजस्थान, गुजरात और उत्तर प्रदेश के पुरास्थलों से हमें पता चलता है कि ये समुदाय मूल रूप से आखेटक, खाद्य संग्राहक और मछुआरे थे, लेकिन वे किसी प्रकार की खेती भी करते थे। गंगा के मैदानों के महादहा और दमदमा जैसे कुछ पुरास्थलों से प्राप्त जानकारी से पता चलता है कि मौसम के अनुसार वे इनमें से कुछ स्थलों पर रहते थे। राजस्थान में बागोर के स्थल और गुजरात में लंघनाज स्थल से हमें पता चला है कि इन मध्यपाषाणयुगीन समुदायों का हड़प्पा और अन्य ताम्र पाषाणयुगीन संस्कृतियों के लोगों से संपर्क था और वे उनके साथ विभिन्न वस्तुओं का लेन-देन करते थे। बागोर से ताँबे के तीन बाणाग्र (तीर की नोक) मिले हैं, जो हड़प्पा की सभ्यता की किस्म के हैं।



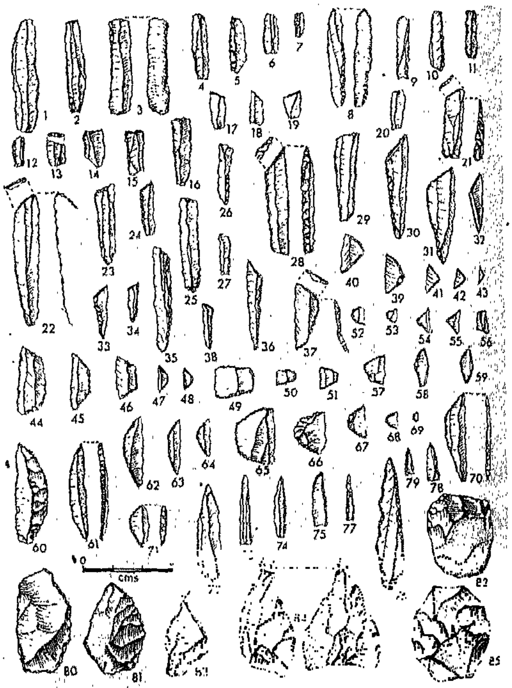
*आकृति 5.5 (क) मध्यपाषाण युग के मूठ लगे औजार*

मध्यपाषाणयुगीन संस्कृति के कुछ सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थल, जिनका विस्तृत अध्ययन किया गया है, ये हैं : राजस्थान में बागोर, गुजरात में लंघनाज, उत्तर प्रदेश में सराय नाहर राय, चोपानी मांडो, महदहा, दमदमा तथा मध्य प्रदेश में भीमबेटका और आदमगढ़।

बागोर और आदमगढ़ मे हमें छठी सहस्राब्दी ई.पू. के आस-पास मध्यपाषाणयुगीन लोगों द्वारा भेड़ें, बकरियाँ रखे जाने का साक्ष्य मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि उन्होंने संभवतः आंशिक रूप से स्थिर ज़ीवन-पद्धति अपना ली थी।

हमें इस बात से आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि मध्यपाषाणयुगीन संस्कृति और उन्नत हड़प्पा सभ्यता का अस्तित्व एक ही काल में रहा था। हमें याद रखना चाहिए कि भारत में सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकीय विकास के विभिन्न स्तरों वाले विशिष्ट, स्वतःपूर्ण सामाजिक समूहों का अस्तित्व इस शताब्दी तक बना हुआ था। इनमें आखेटक और खाद्य संग्राहक जनजातियाँ, पशुचारक यायावर, अस्थिर कृषक (शिफ्टिंग कल्टीवेटर), पारंपरिक स्थापित कृषक, आधुनिक विकसित कृषक और शहरी औद्योगिक समाज के अनेक स्तरों के लोग शामिल हैं, जो सह-अस्तित्वपूर्ण, आर्थिक रूप से स्वतंत्र और इसके साथ-साथ परस्पर-निर्भरतापूर्ण जीवन बिताते रहे हैं। इससे हमें अपनी अतीत की घटनाओं के बुनियादी स्वरूप की जानकारी मिलती है।

आधुनिक भारत के संदर्भ में हमें पता है कि आज भी हर वर्ष कृषि के कम काम-काज वाले मौसम के लगभग 2-3 महीनों में भूमिहीन श्रमिक, जनजातीय लोग और गरीब लोग, कम से कम आंशिक रूप से, खाद्य कंदमूल, पत्ते, बीज़ और फल इकट्ठा करके, जो देहाती इलाकों में प्राकृतिक रूप से उगते हैं, जीवन निर्वाह करते हैं। मध्यपाषाणयुगीन जीवन पद्धति का भारत में अभी



*आकृति 5.5 (ख) मध्यपाषाणयुगीन औजार*



*आकृति 5.6 मध्यपाषाणयुगीन शैल कला*

भी हमारे लिए उससे कहीं अधिक महत्त्व है, जितना कि हम मानने के लिए तैयार हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे कुछ आधुनिक पंथ और महत्वपूर्ण पंथ प्रतीकों की पृष्ठभूमि और कुल-परंपरा मध्यपाषाणयुगीन हो सकती है।

## प्रागैतिहासिक शैल कला

भारत के लगभग सभी शैल-आश्रयों में, जिनमें उत्तर पुरापाषाणयुगीन और मध्यपाषाणयुगीन लोग रहते थे और बहुत-से अन्य लोग भी रहते थे, अनेक शैल-चित्र हैं, जिनमें विविध प्रकार के विषयों का, मुख्य रूप से पशुओं का और ऐसे दृश्यों का चित्रांकन किया गया है, जिनमें पशु और मनुष्य दोनों शामिल हैं। इन शैल चित्रों के स्थान बहुत व्यापक क्षेत्रों में फैले हुए हैं। ये पश्चिमोत्तर पाकिस्तान में चारगुल से लेकर पूर्व में उड़ीसा तक, और उत्तर में कुमाऊँ की पहाड़ियों से लेकर दक्षिण में केरल तक पाए जाते हैं। शैल-चित्रों के कुछ महत्वपूर्ण स्थल ये हैं : उत्तर प्रदेश में मुरहाना पहाड़, मध्य प्रदेश में भीमबेटका, आदमगढ़, लाखा जुआर और कर्नाटक में कुपागल्लू। उत्तर पुरापाषाणयुगीन और मध्यपाषाणयुगीन काल के आवासीय मलबे में पाए गए हेमाटाइट टुकड़ों से निर्णायक रूप से यह सिद्ध होता है कि ये चित्र इन गुफाओं और आश्रयों में रहने वाले लोगों द्वारा बनाए गए थे। सबसे अधिक चित्रांकन पशुओं का अकेले अथवा बड़े और छोटे समूहों में किया गया है और उन्हें विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है। इसके अलावा, शिकार के भी कुछ दृश्य हैं, जिनमें आदमगढ़ की शैलाश्रय शृंखला के गैंडे के शिकार वाले चित्र से पता चलता है कि बड़े जानवरों का शिकार बहुत-से लोगों द्वारा मिलकर किया जाता था। पशुओं का चित्रांकन मोटी रेखाओं द्वारा किया गया है, और उनके शरीर को कई बार पूर्णतः अथवा अंशतः आड़ी रेखाओं से भरा गया है। इन तीनों तरीकों के उदाहरण उत्तर प्रदेश में मुरहाना पहाड़, मध्य प्रदेश में भीमबेटका, आदमगढ़ की गुफाओं और शैलाश्रयों में खींचे गए पशुओं के चित्रों में देखे जा सकते हैं। पशुओं के

अलावा, पक्षियों, मछलियों, आदि के चित्र भी अंकित किए गए हैं।

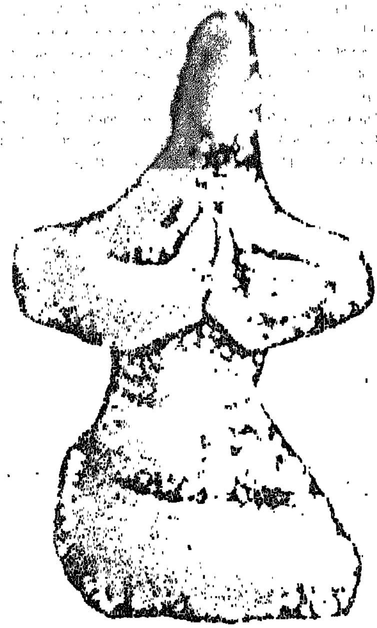
शैल चित्रों में मानव आकृतियों का चित्रांकन एक आम बात है। ये सादी रूपरेखा के रूप में भी हैं और तिरुरेखित जाली चित्रों के रूप में भी। मनुष्यों को विविध प्रकार के कार्य करते हुए; जैसे– नृत्य करते, भागते, शिकार करते, खेलते और युद्ध करते हुए दिखाया गया है। चित्र बनाने में गहरे लाल, हरे, सफेद और पीले रंगों का उपयोग किया गया है।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   जीवाश्म, होमो सेपिय न, होमो इरेक्टस, पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग, शैल कला।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) पृथ्वी और उस पर जीवन
   (ii) प्रारंभिक मानव
   (iii) पुरापाषाणयुगीन औजार
3. भारत की पुरापाषाणयुगीन संस्कृतियों का वर्णन करें।
4. भारत की मध्यपाषाणयुगीन संस्कृति का वर्णन करें और बताएँ कि यह पुरापाषाणयुगीन संस्कृतियों से किस प्रकार भिन्न थी।
5. प्रागैतिहासिक शैल कला पर एक निबंध लिखें।

**करने के लिए कार्य**

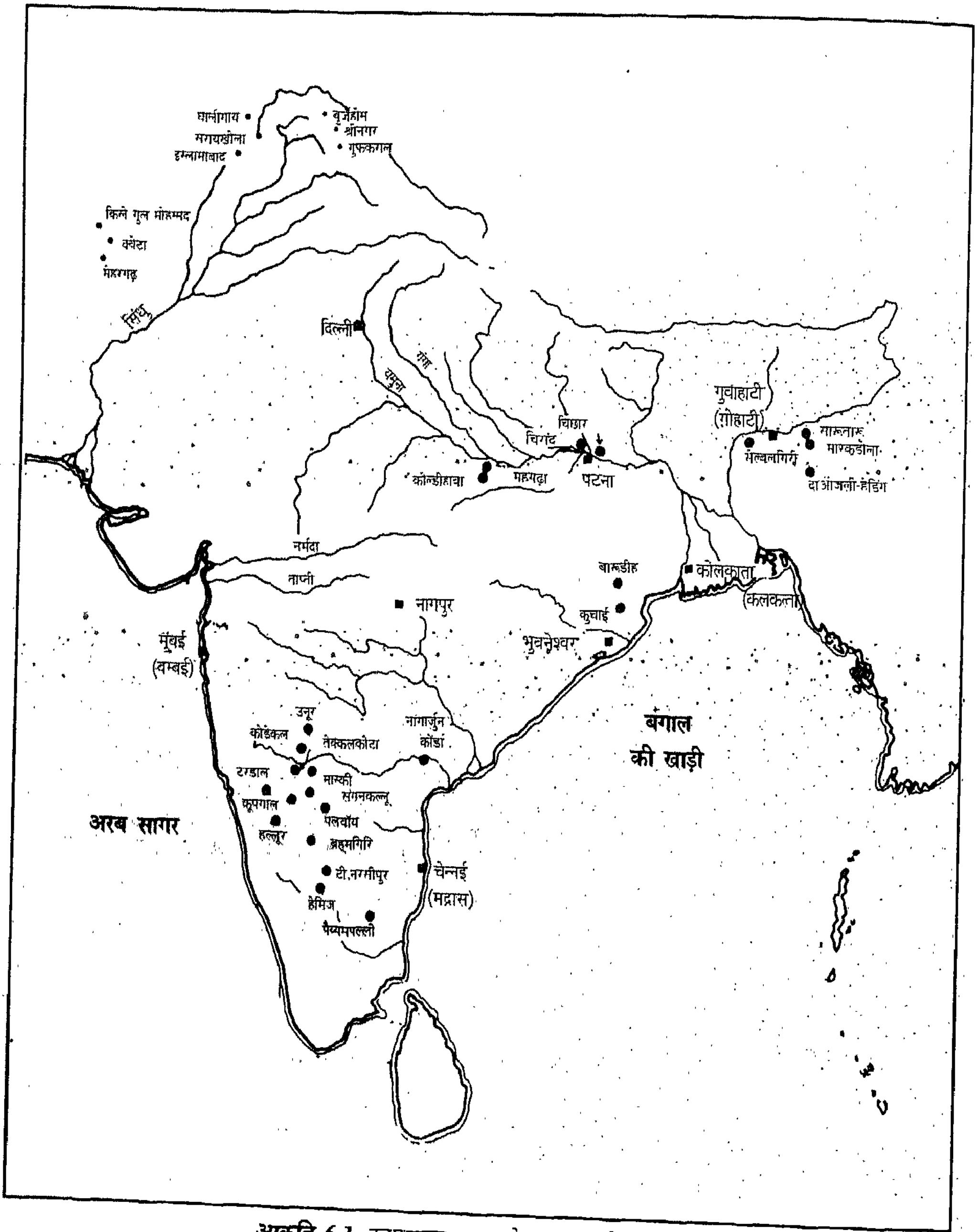
- संग्रहालय जाएँ, प्रारंभिक मानव द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले औजारों को देखें, विभिन्न प्रकार के औजारों के फोटोग्राफ एकत्र करें और एक समुच्चित चित्र अथवा रेखाचित्र बनाएँ।
- भारत का मानचित्र बनाएँ और उसमें कुछ महत्वपूर्ण पुरापाषाणयुगीन स्थल दिखाएँ।



अध्याय 6

# नवपाषाण काल : स्थायी जीवन का प्रारंभ

**संभवतः** सबसे आधारभूत प्रगति, जिसने मानव जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया, यह हुई कि मनुष्य ने पशुओं और पौधों को पालना-पोषना और उगाना शुरू कर दिया।




*आकृति 6.1* नवपाषाण काल के महत्वपूर्ण स्थल

**प्लाइस्टोसीन** यानी अत्यंत नूतन युग के अंत में, अब से लगभग 10,000 वर्ष पहले, पश्चिमी तथा दक्षिणी एशिया में जलवायु की स्थिति बहुत-कुछ आज-जैसी ही हो गई थी। इससे मनुष्य को पर्यावरण पर नियंत्रण करने की दिशा में प्रगति करने का अवसर मिला और कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके फलस्वरूप अंततः, कोई छः हजार वर्ष पहले उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों में प्रथम मानव-समाज के दर्शन हुए हैं। इस प्रकार मानव-समाज की उत्पत्ति के बाद सबसे आधारभूत प्रगति, जिसने मानव जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया, यह हुई कि मनुष्य ने अनेक प्रकार के पशुओं और पौधों को पालना-पोषना और उगाना शुरू कर दिया। वर्तमान साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि पश्चिम एशिया में गेहूँ और जौ उगाना 7000 ई.पू. में शुरू हो गया था। भारत में चावल/धान उगाना लगभग 7000 ई.पू. में शुरू हुआ जैसा कि बेलन घाटी में स्थित कोल्डिहवा पुरास्थल से प्राप्त साक्ष्य से पता चलता है। अनेक पुरास्थलों (विशेष रूप से अफगानिस्तान में अक् कुप्रुक) से प्राप्त साक्ष्य से पता चलता है कि पालतू बनाई गई भेड़ों, बकरियों और अन्य पशुओं की जंगली नस्लों का उपयोग भी मनुष्य लगभग 16,000 वर्ष पहले किया करता था। उस क्षेत्र में नवपाषाण संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था (10,000 ई.पू. से 7,000 ई.पू. तक) में भेड़-बकरियों की हड्डियों का लगातार बड़ी मात्रा में पाया जाना इस बात का द्योतक माना जाता है कि उस समय तक भेड़-बकरियों को पालतू बनाया जा चुका था।

विभिन्न प्रकार के पशुओं को पालतू बनाए जाने के फलस्वरूप उनके पालन-पोषण के लिए विशेष प्रकार के पशुपालक समुदायों का जन्म हुआ, जो आधुनिक समय में भी अस्तित्व में रहे और अपने पशुओं के साथ यायावर (खानाबदोश) या अर्ध-यायावर जीवन जीते रहे। दूसरी ओर, अनेक किस्म के जंगली पौधों को मनुष्यों द्वारा स्वयं लगाने और उनका सफलतापूर्वक उपयोग करने की प्रक्रिया ने उन्हें एक स्थान पर टिककर रहने और बसने को मजबूर कर दिया, और इसी के साथ आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का दौर प्रारंभ हो गया, जिसने आगे चलकर मनुष्य के जीवन में प्रमुखता प्राप्त कर ली।

भारत के संदर्भ में नवपाषाणकालीन कृषि पर आधारित क्षेत्रों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (i) सिंधु प्रणाली और उसका पश्चिमी सीमा-क्षेत्र; (ii) गंगा की घाटी; (iii) पश्चिमी भारत तथा उत्तरी दक्कन; और (iv) दक्षिणी दक्कन।

इन सभी प्रारंभिक नवपाषाणकालीन संस्कृतियों की अर्थव्यवस्था खेती और पशुपालन पर आधारित थी। खेती की अर्थव्यवस्था पर आधारित नवपाषाणकालीन संस्कृति का प्रारंभिक साक्ष्य भारत-पाक क्षेत्र के पश्चिमोत्तर भाग में — बुनियादी तौर पर क्वेटा घाटी में, लोरालाई और ज़ोब नदियों की घाटियों में प्राप्त होता है। किले गुलमोहम्मद, गुमला, राना घुंडई, अंजीरा, मुण्डीगाक और मेहरगढ़, जो कच्छी मैदान में स्थित हैं, के पुरातत्वीय स्थलों से 7000-5000 ई.पू. के समय का साक्ष्य मिलता है। इनमें से मेहरगढ़ की व्यापक रूप से जाँच की गई है। प्राप्त साक्ष्य से पता चलता है कि यहाँ लगभग 7000 ई.पू. में लोग बसने शुरू हो गए थे, लेकिन प्रारंभिक काल में वहाँ मिट्टी के बर्तनों का उपयोग शुरू हुआ नहीं दिखाई देता, किंतु ऐसा लगता है कि वहाँ उसके लगभग 1000 वर्ष बाद, 6000 ई.पू. में मिट्टी के बर्तनों, तवों-कड़ाहियों का इस्तेमाल होता था। पहले तो ये मृद्भांड हाथ से ही

बनाए जाते थे पर बाद में चाक पर बनाए जाने लगे। कई स्थानों पर की गई खुदाइयों में पूर्व-मृद्भांड काल के कुछ बिखरे हुए वर्गाकार या आयताकार घर मिले हैं, वे गारे की कच्ची ईंटों के बने हुए हैं। इन घरों के बीच में उन्हें एक-दूसरे से अलग करने के लिए खाली जगह पर कूड़े के ढेर मिले हैं और उन घरों के बीच में रास्ते भी हैं। यही उस काल के गाँव का नमूना है। उस समय के घर चार-पाँच कोठों यानी कमरों के होते थे, जिनमें से शायद एक-दो भंडारघर के काम आते थे।

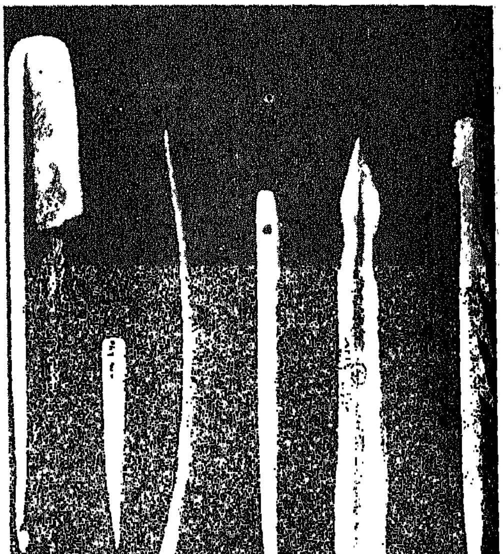
उस समय के लोग मुख्य रूप से शिकार और इधर-उधर से बटोरे गए भोजन पर निर्भर रहते थे। कुछ हद तक उदरपूर्ति खेती और पशुपालन से भी की जाती थी। उनकी बस्तियों के स्तर की खुदाई में मिले घरेलू अनाज में गेहूँ और जौ शामिल हैं। उन खुदाइयों में मिली पालतू जानवरों की हड्डियों में भेड़, बकरी तथा गाय-बैल की हड्डियाँ शामिल हैं।

छठी सहस्राब्दी प्रारंभ होते-होते, पहले हाथ के बने और बाद में (कुम्हार की) चाक पर बने मृद्भांड इस्तेमाल किए जाने लगे। हड्डी के अवशेषों से यह पता चलता है कि ककुदमान किस्म के (कूबड़ वाले) पशु भी पाले जाते थे। शवाधान अवशेषों से प्राप्त मनकों से यह स्पष्ट होता है कि लोग लाजवर्द मणि, कार्नेलियन, छापवाले गोमेद और सफेद कौड़ियों से बने मनकों का प्रयोग करते थे। एक अकेला ताँबे का मनका भी मिला है। सीपियों के कड़ों और लटबनों से ऐसा प्रतीत होता है कि दूरवर्ती स्थलों से व्यापार होता था।

संक्षेप में, मेहरगढ़ खुदाई स्थल से प्राप्त नवपाषाणयुगीन अवशेषों से पता चलता है कि प्रारंभिक खाद्य उत्पादक युग में सिंधु घाटी की अर्थव्यवस्था जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त थी और व्यापार तथा शिल्प का प्रारंभ हो रहा था। अगले 2,500 वर्षों में इन जन-समुदायों ने मृद्भांडों और मिट्टी की मूरतों, पत्थर तथा धातु के आभूषणों, औजारों तथा बर्तनों के उत्पादन के लिए नई प्रौद्योगिकी और वास्तु-शैली विकसित कर ली थी।

सिंधु घाटी के पूर्व में, गंगा की घाटी, असम और पूर्वोत्तर क्षेत्र में बड़ी संख्या में नवपाषाणकालीन स्थल मिले हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थलों में से कुछ हैं : गुफकराल और बुर्जहोम कश्मीर में, महगड़ा, चोपानी मांडो और कोल्डिहवा उत्तर प्रदेश की बेलन घाटी में और चिरांद बिहार में।

कोल्डिहवा से रेडियो कार्बन विधि से प्राप्त तीन तारीखों से इस बात का प्राचीनतम साक्ष्य मिलता है कि लगभग 6500 ई.पू. में धान की खेती की जाती

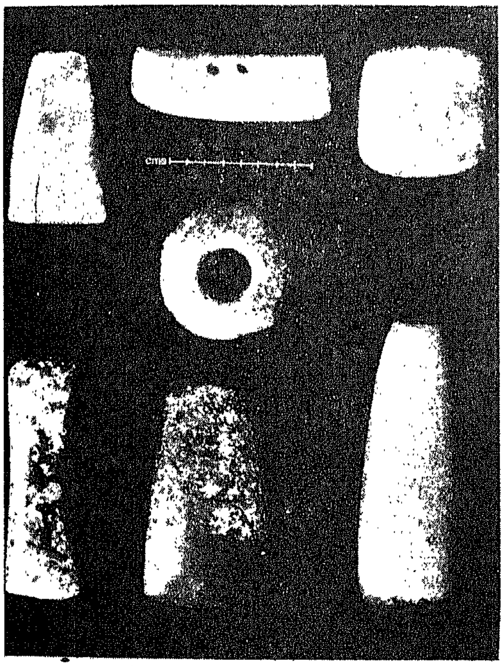


*आकृति 6.2 (क) नवपाषाणकालीन हड्डी के औजार*

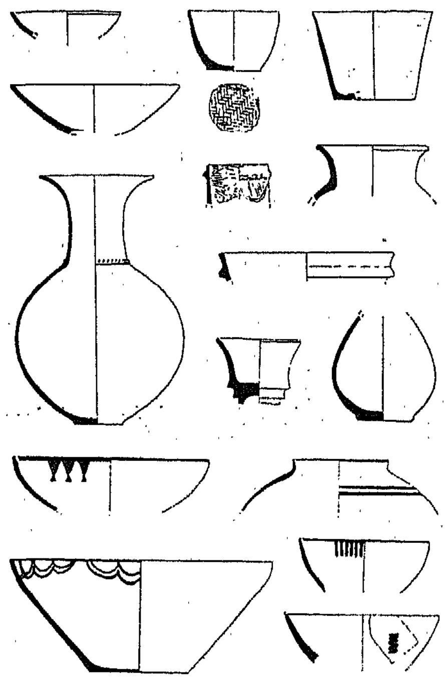
थी और यह विश्वभर में चावल धान की खेती का प्राचीनतम साक्ष्य है। इस प्रकार, इस बात की पूरी संभावना है कि बेलन घाटी में खेती लगभग 6500 ई.पू. के आसपास प्रारंभ हो चुकी थी। धान के अलावा महगड़ा में जौ की खेती का साक्ष्य भी मिलता है।

कोल्डिहवा और महगड़ा से प्राप्त हड्डियों के अवशेष यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में भेड़-बकरियाँ और मवेशी पाले जाते थे। महगड़ा में एक पशु-बाड़ा भी मिला है।

पश्चिमोत्तर में बुर्जहोम के प्रारंभिक नव-पाषाणकालीन बाशिंदे जमीन खोदकर बनाए गए खाईनुमा घरों में रहते थे, न कि जमीन पर बनाए गए घरों में।



**आकृति 6.2** *(ख) नवपाषाणकालीन पत्थर के औजार*



**आकृति 6.3** *नवपाषाणकालीन मृद्भांड*

बिहार में चिरांद में पाई गई बस्ती अपेक्षाकृत बाद की है। असम और उससे आगे के पूर्वोत्तर क्षेत्रों में छोटी पालिशदार नवपाषाणकालीन पत्थर की कुल्हाड़ियाँ कोचार पहाड़ियों, गारो पहाड़ियों और नागा पहाड़ियों से प्राप्त हुई हैं, लेकिन खेद का विषय है कि इन कुल्हाड़ियों के निर्माताओं के जीवन पर प्रकाश डालने वाली बहुत कम सामग्री मिली है और उनके काल-निर्धारण के बारे में साक्ष्य तो न के बराबर उपलब्ध है। गुवाहाटी के पास सारुतारु में की गई खुदाइयों से संबंधित आदिम कुल्हाड़ियों (सेल्ट) और गोलाकार मूठ वाले कुठारों के साथ अनगढ़ रज्जु-या-करंड अंकित मृद्भांड मिले हैं।

दक्षिण भारत में हमें जीवन-निर्वाह की नई पद्धतियों के बारे में सर्वाधिक निर्णायक साक्ष्य मिले हैं, जो हड़प्पा की संस्कृति के समकालीन थे। दक्षिण भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थलों में कुछ हैं : आंध्र प्रदेश में कोडेकल, उतनूर, नागार्जुनीकोंडा और पलावोय; कर्नाटक में तेक्कलकोटा, मास्की, टी. नरसीपुर, संगनकल्लू, हल्लूर और बह्मगिरि; और तमिलनाडु में पैयमपल्ली। दक्षिण के नवपाषाण काल का समय 2600 से 800 ई.पू. माना गया है। इसके तीन चरण बताए गए हैं। प्रथम चरण में धातु के औजार बिलकुल नहीं थे और दूसरे चरण में ताँबे और काँसे के औजार सीमित मात्रा में इस्तेमाल किए जाते थे। साक्ष्य मे पता चलता है कि लोग पशु, भेड़ और बकरियाँ पालते थे और कुछ खेती भी करते थे। हाथ से बने और चाक पर बनाए गए, दोनों प्रकार के मिट्टी के बर्तन इस्तेमाल किए जाते थे। वे नरकुल और मिट्टी मे घर बनाते थे। उनके घरों के फर्श दुरमच या थापी से कूट-कूट कर बनाए जाते थे। वे गाय, बैल, भेड़, बकरी पालते थे और कुलथी (घुड़चना), ज्वार-बाजरा (मिलेट) और रागी उगाते थे। तीसरे चरण में लोहा भी मिला बताया गया है।

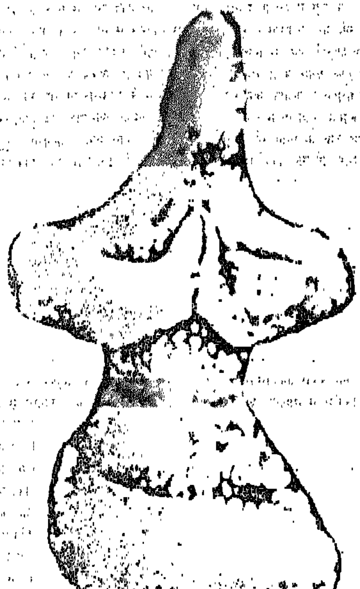
ऊपर चर्चित साक्ष्य से हम कुछ मोटे निष्कर्ष निकाल सकते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में आद्य नवपाषाणकालीन बस्तियाँ सर्वप्रथम सिंधु नदी के पश्चिम में विकसित हुई थीं। यहाँ मेहरगढ़ में नवपाषाणकालीन संस्कृति 8000 ई.पू. के आसपास शुरू हुई थी और यह जल्दी ही फैल गई। लोग मिट्टी के घरों में रहते थे, गेहूँ और जौ की खेती की जाती थी, और पशु/ढोर और भेड़-बकरियाँ पाली जाती थीं। कीमती माल के लिए लंबी दूरी से भी व्यापार किया जाता था। लगभग इसी समय बेलन घाटी में भी ऐसा ही विकास हुआ था। लगभग 3000 ई.पू. तक नवपाषाणकालीन संस्कृति का व्यापक रूप से प्रसार हो चुका था और यह भारतीय उप-महाद्वीप के बड़े भाग में फैल चुकी थी।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित का आशय स्पष्ट करें :
   पौधों और पशुओं को पालतू बनाना, भोजन बटोरना।
2. नवपाषाणकालीन संस्कृति क्या है, और इस संस्कृति के आद्यकालीन स्थल कौन-कौन से हैं?
3. नवपाषाणकालीन अर्थव्यवस्था का वर्णन करें; यह पुरापाषाण काल और मध्यपाषण काल की अर्थव्यवस्थाओं से किस प्रकार भिन्न थी?
4. नवपाषाणकालीन संस्कृति के कुछ महत्वपूर्ण स्थलों और वहाँ पाई गई महत्वपूर्ण वस्तुओं की चर्चा करें।
5. नवपाषण काल के लोगों के रहन-सहन और धार्मिक विश्वासों का वर्णन करें।

**करने के लिए कार्य**

- नवपाषाणकालीन औजारों के चित्र बनाएँ और उनका वर्णन करें।
- पुरापाषण काल के औजारों के चित्र बनाएँ।
- एक संग्रहालय में जाएँ और नवपाषाणकालीन, पुरापाषाणकालीन और मध्यपाषाणकालीन औजारों के बीच का अंतर लिखकर बताएँ।

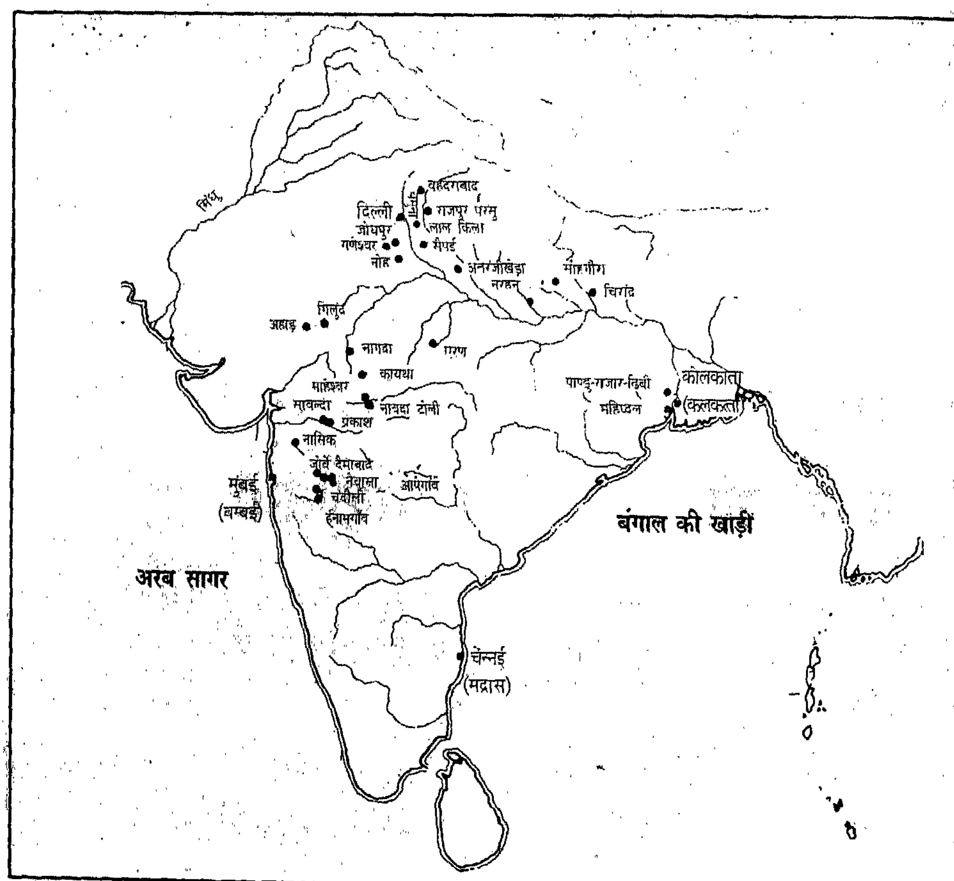


**अध्याय 7**

# भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ

**मध्य** भारत और दक्कन में एक अत्यंत भिन्न प्रकार की संस्कृति विकसित हुई, जिसमें यद्यपि धातु का प्रयोग होता था, पर वह नगर-संस्कृति के स्तर तक कभी नहीं पहुँची।

**नवपाषाण काल** की समाप्ति के बाद भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार का विकास हुआ। एक ओर जहाँ सिंधु और सरस्वती नदियों की घाटियों में धीरे-धीरे एक पूर्ण-विकसित सभ्यता का उद्‌भव एवं विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर मध्य भारत और दक्कन में एक अत्यंत भिन्न प्रकार की संस्कृति विकसित हुई, जिसमें यद्‌यपि धातु का प्रयोग होता था, पर वह नगर-संस्कृति के स्तर तक कभी नहीं पहुँची। इस संस्कृति को ताम्रपाषाण संस्कृति कहा गया। इनमें से कुछ संस्कृतियाँ हड़प्पा की संस्कृति की समकालीन थीं और कुछ अन्य संस्कृतियाँ निश्चित रूप से हड़प्पा की संस्कृति के बाद की थीं। इन संस्कृतियों की कुछ एक-जैसी विशेषताएँ थीं। इन सभी संस्कृतियों के लोग आमतौर पर लाल रंग पर काले रंग से चित्रित मिट्‌टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे; सिक्थस्फटिक (केल्सेडोनी) और चकमक पत्थर (चर्ट) जैसी सिलिकामय सामग्री के फलक (ब्लेड) और शल्क (फ्लेक) बनाने के उद्‌योग में



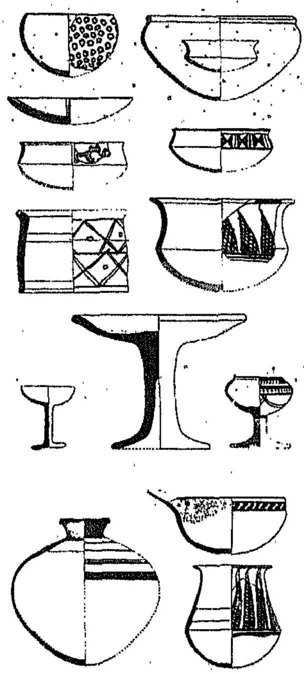

**आकृति 7.1** ताम्रपाषाण संस्कृति तथा ताम्र संचयों के महत्त्वपूर्ण स्थल

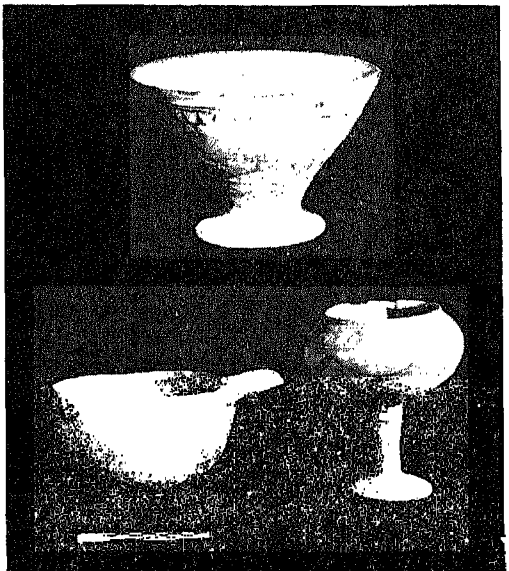
उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी; और ताँबे तथा कांसे के औजार भी बनाते थे, पर सीमित पैमाने पर। वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए खेती और पशुपालन पर निर्भर थे और साथ ही शिकार और मछली पकड़ने का धंधा भी करते थे।

कुछ महत्वपूर्ण ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ हैं :

| | | |
|---|---|---|
| अहार संस्कृति | : | लगभग 2800-1500 ई.पू. |
| कायथा संस्कृति | : | लगभग 2450-1700 ई.पू. |
| मालवा संस्कृति | : | लगभग 1900-1400 ई.पू. |
| सावलदा संस्कृति | : | लगभग 2300-2000 ई.पू. |
| जोरवे संस्कृति | : | लगभग 1500-900 ई.पू. |
| प्रभास संस्कृति | : | लगभग 2000-1400 ई.पू. |
| रंगपुर संस्कृति | : | लगभग 1700-1400 ई.पू. |

इन ताम्रपाषाण संस्कृतियों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनके विशिष्ट प्रकार के चित्रित मृद्भांड। कायथा संस्कृति अपने उन मजबूत लाल लेप वाले मृद्भांडों के लिए प्रसिद्ध है, जिन पर चाकलेटी रंग से तरह-तरह के चित्र बने हुए हैं। इस संस्कृति की एक अन्य विशेषता है लाल रंग से चित्रित पांडुभांड और उत्कर्ण नमूनों वाले कंकतितभांड। अहार संस्कृति वाले लोग काले-लाल रंग के बर्तन बनाते थे, जो सफेद डिजाइनों से सजे होते थे। मालवा के बर्तन बनावट में कुछ अनघड़ हैं, लेकिन उन पर मोटा लेप लगा है, जिसकी सतह पर लाल या काले रंग में डिजाइन बने होते हैं। प्रभास और रंगपुर के मिट्टी के बर्तन हड़प्पा संस्कृति से लिए हुए हैं, लेकिन उनकी सतह चमकदार है, जिसकी वजह से उन्हें चमकीले लालभांड भी कहा जाता है। जोरवे के भांड लाल पर काले रंग से रंजित हैं, लेकिन उनकी सतह धुंधली या खुरदरी है, जिस पर पतला जलरंग किया गया है। ये मृद्भांड नाना रूप वाले हैं, जिनमें अधिक प्रसिद्ध हैं : साधार तश्तरियाँ, टोंटीदार

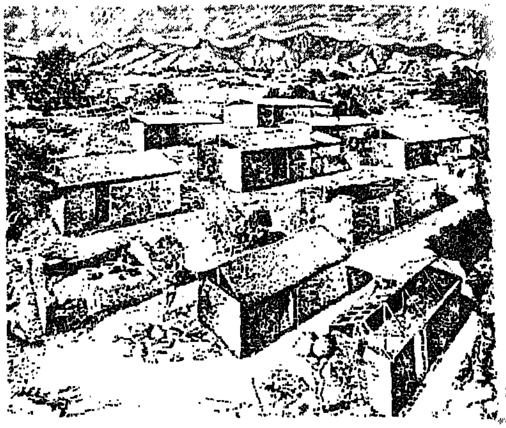




**आकृति 7.2** ताम्रपाषाण मृद्भांड, नवदाटोली में

कलश, डंडीदार चषक (प्याले), साधार कटोरे, बड़े संचय पात्र और टोंटीदार पात्र एवं कटोरे।

इन ताम्रपाषाण संस्कृतियों में से अधिकांश संस्कृतियाँ राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के अर्ध-शुष्क इलाकों में फली-फूली थीं। कायथा संस्कृति की बस्तियाँ संख्या की दृष्टि से बहुत कम हैं और अधिकतर चंबल और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में पाई गई हैं। ये बस्तियाँ क्षेत्रफल में अपेक्षाकृत छोटी हैं और उनमें से बड़ी से बड़ी बस्ती भी शायद दो हेक्टेयर से अधिक बड़ी न हो। दूसरी ओर, अहार संस्कृति की बस्तियाँ, कायथा बस्तियों के विपरीत काफी बड़ी हैं। उनमें से कम से कम तीन यानी अहार, बालाथल और गिलुंद, कई हेक्टेयर में बसी हैं। घर और अन्य मकान बनाने के लिए पत्थरों, कच्ची ईंटों और गारे का प्रयोग किया जाता था। खुदाइयों से पता चला है कि बालाथल एक परकोटे से घिरी बस्ती थी। मालवा संस्कृति के लोग अधिकतर नर्मदा और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में बसे थे। नवदाटोली, एरन और नागदा तीनों मालवा संस्कृति की सुविदित बस्तियाँ हैं। नवदाटोली का क्षेत्रफल लगभग 10 हेक्टेयर है और यह देश की सबसे बड़ी ताम्रपाषाण बस्तियों में से एक है। यह देखा गया है कि इनमें से कुछ बस्तियाँ प्राचीरयुक्त थीं और नागदा में तो एक कच्ची ईंटों से बना बुर्ज भी है। एरन के चारों ओर एक खाई के साथ-साथ परकोटा बना हुआ था। खेद का विषय है कि प्रभास संस्कृति की आधा दर्जन बस्तियों का ही पता चला है। रंगपुर संस्कृति के पुरास्थल अधिकतर गुजरात में घेलो और कालूभर नदियों के क्षेत्र में पाए गए हैं। जोरवे की बस्तियाँ संख्या की दृष्टि से अधिक हैं। महाराष्ट्र में 200 से अधिक बस्तियों का पता चला है। प्रकाश, दाइमाबाद और इनामगाँव इस संस्कृति की सुप्रसिद्ध बस्तियाँ हैं। इनमें सबसे बड़ी दाइमाबाद है, जिसका क्षेत्रफल लगभग 20 हेक्टेयर है।



***आकृति 7.3*** *खुदाई में मिला ताम्रपाषाणयुगीन गाँव (पुनः निर्मित) अहार, राजस्थान*

ताम्रपाषाण संस्कृति के लोग नरकुल और मिट्टी के गारे से आयताकार और वृत्ताकार घर बनाते थे। वृत्ताकार घर अधिकतर एक साथ समूहों में बने होते थे। इन घरों और झोंपड़ियों की छतें घास-फूस की बनी होती थीं और बाँस तथा शहतीरों के सहारे खड़ी रहती थीं। फर्श कूट-कूटकर चिकनी मिट्टी से बनाए जाते थे और झोंपड़ियों को भंडारघर के रूप में भी काम में लिया जाता था। लोग पशु पालते थे और बारी-बारी से खरीफ और रबी दोनों फसलें उगाते थे। गेहूँ और जौ की खेती मालवा क्षेत्र में की जाती थी। चावल इनामगाँव और अहार के खुदाई-स्थलों में पाया गया बताया गया है। ये लोग ज्वार और बाजरा भी उगाते थे और कुल्थी, रागी, हरे मटर, मसूर और हरे व काले चनों की खेती करते थे।

लगभग ये सभी ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ काली मिट्टी वाले प्रदेश में पनपीं और फली-फूली थीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तत्कालीन लोगों ने उपलब्ध प्रौद्योगिकी ज्ञान और साधनों के संदर्भ में अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया था। खेती के तरीकों के बारे में ऐसी ही समानता आज भी इन क्षेत्रों में पाई जाती है, जहाँ हम नमी बनाए रखने की क्षमता वाली मिट्टी को देखकर शुष्क खेती की प्रणाली अपना रहे हैं।

## व्यापार और वाणिज्य

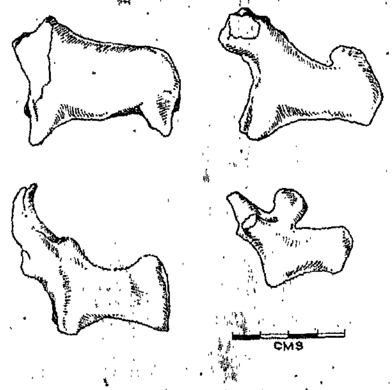
इस बात के प्रमाण मिले हैं कि ताम्रपाषाणयुगीन जनसमुदाय समकालीन अन्य समुदायों के साथ व्यापार करते थे और सामग्रियों का आदान-प्रदान करते थे। अहार, गिलुंद, नागदा, नवदाटोली, एरन, प्रभास, रंगपुर, प्रकाश, दाइमाबाद और इनामगाँव जैसी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ व्यापार और वस्तु-विनिमय की प्रमुख मंडियाँ थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि अहार के लोग तांबे के स्रोतों (खानों) के पास बसे हुए थे और मालवा तथा गुजरात के समकालीन समुदायों को तांबे के औजार तथा अन्य वस्तुएँ देते थे। यह अनुमान लगाया गया है कि मालवा, जोरवे और प्रभास संस्कृति क्षेत्रों में पाए गए अधिकांश तांबे के कुल्हाड़ों पर कुछ पहचान-चिह्न अंकित हैं, जो एक जैसे हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे उन शिल्पियों के व्यापार चिह्न (ट्रेडमार्क) थे, जिन्होंने उन औजारों का निर्माण किया था। कंगन-चूड़ियाँ बनाने के लिए सीपियाँ व कौड़ियाँ सौराष्ट्र के समुद्र-तट से व्यापार के जरिए अन्य ताम्रपाषाणीय क्षेत्रों को भेजी जाती थीं। इसी प्रकार, सोना और हाथी दाँत भी टेक्कलकोट्टा (कर्नाटक) से जोरवे संस्कृति वाले लोगों के पास आया होगा, जिन्होंने बदले में उपर्युक्त औजार अपनी समकालीन अन्य संस्कृति के लोगों को बेचे होंगे। इसी प्रकार, राजपिपला (गुजरात) से उपरत्नों का व्यापार भी विभिन्न क्षेत्रों के साथ होता था। यह जान लेना भी रुचिकर होगा कि जोरवे संस्कृति के लोग अपने मृद्भांडों का व्यापार भी दूर-दूर तक करते थे, क्योंकि इनामगाँव के मृद्भांड वहाँ से काफी दूरी पर स्थित अनेक पुरास्थलों पर पाए गए हैं। इसी संदर्भ में हमारा ध्यान एक बार फिर उत्तरी काली पालिश वाले मृद्भांडों की ओर जाता है जो प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में, गंगा के मैदान से दूर-दूर के क्षेत्रों में निर्यात किए जाते थे। अनेक मृद्भांडों पर पहियेदार बैलगाड़ियों के रेखाचित्र मिले हैं, इससे पता चलता है कि लंबी दूरी वाले व्यापार के लिए, नदी मार्ग से परिवहन के अलावा, इन गाड़ियों का भी इस्तेमाल किया जाता था।

## धार्मिक विश्वास

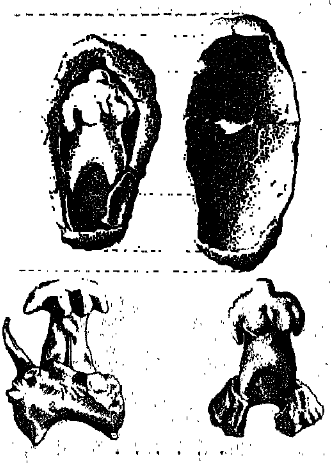
धर्म एक ऐसा पक्ष था जिसने सभी ताम्रपाषाण संस्कृतियों को आपस में जोड़ रखा था। उनमें मातृ-देवी और वृषभ की पूजा प्रचलित थी। अहार काल में, मालवा में, संभवतः वृषभ पूजा का बोलबाला था। ऐसे अनेक प्रकृतवादी और रीतिबद्ध लिंग अधिकांश पुरास्थलों में पाए गए हैं। प्रकृतवादी लिंग संभवतः मनौती के चढ़ावे के रूप में होंगे; लेकिन छोटे रीतिबद्ध लिंग शायद गर्दन के चारों ओर लटकाए जाते होंगे, जैसा कि आज भी लिंगायत पंथ के लोग लटकाते हैं।

मालवा संस्कृति के एक विशाल संचय पात्र पर मातृ-देवी की आकृति जड़ाऊ डिजाइन में अंकित है। उसके दाहिनी ओर एक स्त्री की और बाईं ओर एक मगरमच्छ की आकृति अंकित है तथा पास में एक पूजास्थल चित्रित है। इसी प्रकार बेला (फिडिल)

(क)



(ख)



***आकृति 7.4*** *धार्मिक विश्वासों से जुड़ी वस्तुएँ : (क) रीतिबद्ध वृषभ की लघु मूर्तियाँ कायथा से; (ख) इनामगाँव से मिट्टी की वस्तुएँ*

की आकृति वाली शायद *श्रीवत्स* जैसी है, जो कि धन की देवी लक्ष्मी का प्रतीक है; जिसकी, आगे चलकर ऐतिहासिक काल में मातृदेवी के रूप में पूजा की जाने लगी थी।

एक पात्र पर चित्रित डिजाइन में एक देवता को उसके अस्त-व्यस्त बालों के साथ दिखाया गया है जिससे परवर्ती काल के रुद्र का स्मरण हो आता है। दाइमाबाद से प्राप्त एक पात्र पर की गई चित्रकारी में एक देवता को बाघों जैसे जंतुओं और मोर जैसे पक्षियों से घिरा हुआ दिखाया गया है। कुछ विद्वान इसकी तुलना मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित *शिव पशुपति* के साथ करते हैं।

उत्तरकालीन जोरवे संस्कृति के स्थल इनामगाँव से प्राप्त दो छोटी मूर्तियों को गणेश का आद्यरूप माना गया है, जिसकी पूजा किसी भी उपक्रम को प्रारंभ करने से पहले सफलता के लिए की जाती है। इनामगाँव के पुरास्थल पर अनेक सिरकटी छोटी-छोटी मूर्तियाँ मिली हैं, उनकी तुलना *महाभारत* की देवी विशिरा से की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि ताम्रपाषाणयुगीन लोगों में अग्नि पूजा का व्यापक रूप से प्रचार था। अनेक ताम्रपाषाण स्थलों की खुदाई के दौरान अग्निकुंड बड़ी संख्या में मिले हैं।

मालवा और जोरवे संस्कृति के लोगों के शवाधानों के साथ बर्तन एवं अन्य अंत्येष्टि वस्तुएँ पाई गई हैं, जिनसे पता चलता है कि वे लोग मरणोपरांत जीवन में भी विश्वास करते थे।

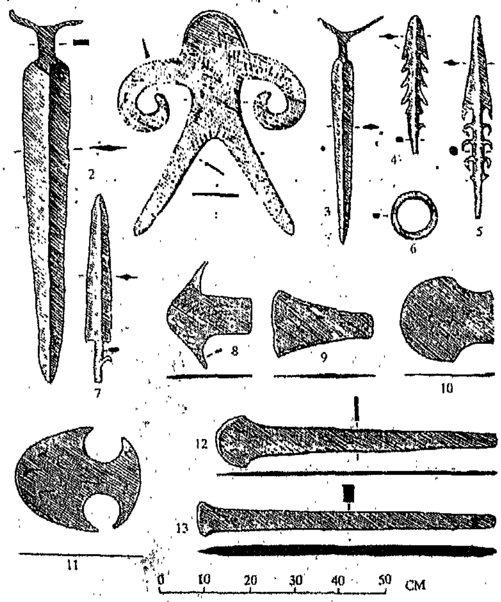
ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ ईसापूर्व तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में फली फूलीं। बाद में कायथा, प्रभास, अहार, बालाथल, प्रकाश और नेवासा जैसी बहुत-सी बस्तियाँ उजड़ गईं, लेकिन आगे चलकर चार-छः शताब्दियों के बाद फिर से बस गईं। ऐसा समझा जाता है कि ये संस्कृतियाँ वर्षा की कमी या बार-बार सूखा पड़ने के कारण उजड़ गई थीं, क्योंकि बिना वर्षा के खेतिहर समुदायों का जीवन दूभर हो गया था।

## प्रौद्योगिकी

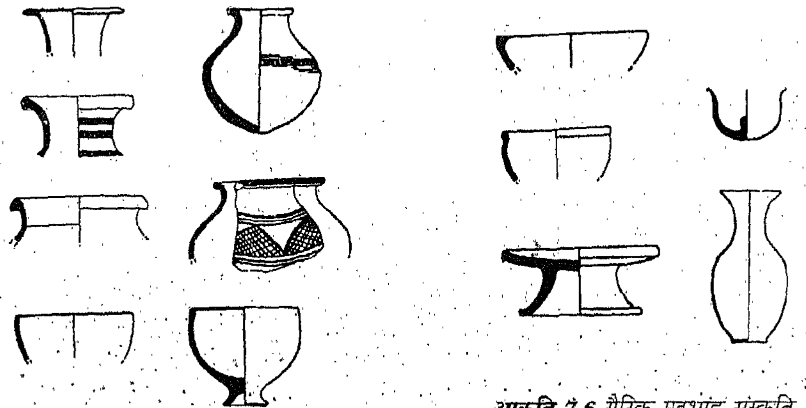
ताम्रपाषाणयुगीन कृषकों ने मिट्टी और धातु की प्रौद्योगिकी (शिल्प) में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। उनके द्वारा चित्रित भांड बहुत अच्छे बनाए और आग में पकाए जाते थे। उनके भट्ठे की आग का तापमान 500° से 700°C तक होता था। धातु के औजारों में हम कुल्हाड़ियाँ, छेनियाँ, कड़े (वलय), मनके, कांटे (आंकुड़े) आदि पाते हैं, जो अधिकतर तांबे के बने होते थे। तांबा संभवतः राजस्थान के खेतड़ी क्षेत्र की खानों से निकाला जाता था। सोने के आभूषण बहुत-ही दुर्लभ थे और केवल जोरवे संस्कृति में ही पाए गए हैं। एक कान का आभूषण प्रभास स्थल पर भी मिला है। इनामगाँव के पुरास्थल में ताँबे के चिमटों और कुठालियों (मूषा) का मिलना यह दर्शाता है कि वहाँ सोने के आभूषण बनाने का काम भी होता था। उपरत्नों के मनकों में छेद करने के लिए सिक्थस्फटिक (केल्सेडोनी) की बेधनियों (ड्रिल) का प्रयोग किया जाता था। कंकड़ से चूना तैयार किया जाता था जो घरों की पुताई और अन्न की धानियों की लेपाई आदि के काम आता था।

## ताम्र संचय संस्कृति

जब से 1822 में सर्वप्रथम कानपुर जिले के बिठूर स्थल से ताँबे के कांटेदार बरछे (हारपून) के पाए जाने की खबर मिली थी, तब से लेकर आज तक लगभग एक हजार ताँबे की वस्तुएँ भारत के विभिन्न भागों में लगभग 90 पुरास्थलों से प्राप्त हो चुकी हैं। चूँकि ये ताँबे की वस्तुएँ अधिकतर एक साथ कई वस्तुओं के समूह यानी संचय (होर्ड) के रूप में पाई गई हैं, इसलिए उन्हें ताम्र संचय (कॉपर होर्ड्स) कहा जाता है। सबसे बड़ा संचय गुंगेरिया (मध्य प्रदेश) से प्राप्त हुआ है, जिसमें तांबे की 424 वस्तुएँ और चाँदी की 102 पतली चादरें हैं। ये चीजें कई किस्मों या रूपों की हैं; जैसे— विभिन्न प्रकार की आदिम कुल्हाड़ियाँ (केल्ट), कांटेदार बरछे (हारपून), दुसिंगी तलवारें, छल्ले (वलय) और मानवाकृतियाँ (एंथ्रोपोमोर्फ्स)। हमने यह देखा है कि ये कांटेदार बरछे, दुसिंगी तलवारें और मानवाकृतियाँ बुनियादी तौर पर उत्तर प्रदेश के स्थलों तक ही सीमित हैं, जबकि आदिम कुल्हाड़ियाँ, छल्ले और अन्य वस्तुएँ अलग-अलग भौगोलिक इलाकों; जैसे— राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल




***आकृति 7.5** ताम्र संचय की वस्तुएँ*
*1. मानवाकृतियाँ, 2-3. दुसिंगी तलवारें, 4-5, 7. काँटेदार बरछे, 6. वलय, 8-11. आदिम कुल्हाड़ियाँ, 12-13. छड़दार आदिम कुल्हाड़ियाँ*



*आकृति 7.6* गैरिक मृदभांड संस्कृति

और महाराष्ट्र में भी पाई गई हैं। इन ताम्र वस्तुओं के वैज्ञानिक विश्लेपण से पता चला है कि वे खुले या बंद साँचों में ढालकर बनाई गई थीं। ये वस्तुएँ आमतौर पर शुद्ध ताँबें की बनी हुई हैं, हालांकि उनमें से कुछ में नगण्य मात्रा में अन्य धातुएँ भी मिली हुई पाई गई हैं। इन कांस्य संचयों का स्रोत संभवतः खेतड़ी क्षेत्र की तांबे की खानें और उत्तरांचल के अल्मोड़ा जिले के पहाड़ी क्षेत्र रहे होंगे।

इन ताम्र संचयों में हथियारों और औजारों के साथ-साथ पूजा की वस्तुएँ भी पाई गई हैं। कांटेदार बरछियों और दुसिंगी तलवारों का प्रयोग तो हथियारों के रूप में किया जाता होगा, जबकि आदिम कुल्हाड़ियों तथा कुठारों का इस्तेमाल औजारों के रूप में होता होगा। ऐसा लगता है कि छड़दार कुल्हाड़ियाँ खानों से खनिज खोदकर निकालने के काम आती थीं। पाई गई मानवाकृतियों में से कुछ तो काफी भारी और बड़ी हैं। उनका भार कुछ किलो तक और लंबाई 45 सेमी. तक और चौड़ाई 43 सेमी. तक है। संभवतः इन आकृतियों की पूजा की जाती थी। आज भी समस्त उत्तर भारत में ऐसी ही शनि देवता की मूर्तियों की पूजा की जाती है, ज़िनका आकार 4-10 सेमी. होता है।

यह बताना बहुत कठिन है कि इन ताम्र संचयों के निर्माता कौन थे। गंगा के मैदान में इन ताम्र संचयों की कुछ वस्तुएँ गैरिक मृद्भांडों (ओसीपी) के साथ पाई गई हैं, जिनके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे ।

## गैरिक मृद्भांड संस्कृति

हड़प्पा की परिपक्व सभ्यता के उत्तरकाल में, गंगा के मैदान के ऊपरी भागों में एक ऐसी संस्कृति फल-फूल रही थी, जो अपने चमकीले लाल लेप वाले और काले रंग से चित्रित मृद्भांडों के लिए पहचानी जाती है। ये मृद्भांड गंगा के मैदान के उत्तरी भागों में सर्वत्र पाए गए हैं। इस क्षेत्र में खुदाई के दौरान यह पाया गया है कि जिन पुरास्थलों से ये मृद्भांड मिले हैं, वहाँ कभी जोरदार बाढ़ें आई थीं। कुछ विद्वानों का विचार है कि गंगा का समस्त ऊपरी मैदान काफी लंबे समय तक पानी में डूबा रहा था। गैरिक मृद्भांड

संस्कृति के लोग ताँबे के औजारों का इस्तेमाल करते थे और चावल, जौ, चना और खेसरी की खेती करते थे। गैरिक मृद्भांडों और हड़प्पाई भांडों की आकृतियों में काफी समानता पाई जाती है।

उत्खनन कार्यों के दौरान, एटा जिले के सैपई स्थल पर ताम्र संचय की वस्तुएँ, गैरिक मृद्भांडों के साथ पाई गई थीं। इसी प्रकार, गंगा-यमुना दोआब में जहाँ-जहाँ ताम्र संचय मिले हैं, वहाँ लगभग सभी स्थलों पर गैरिक मृद्भांड भी पाए गए हैं। इसे देखते हुए कुछ विद्वानों का विचार है कि दोआब में, ताम्र संचयों का संबंध गैरिक मृद्भांड संस्कृति के लोगों से रहा है। लेकिन बिहार, बंगाल और उड़ीसा में उनका सांस्कृतिक साहचर्य स्पष्ट नहीं है। जैसा कि ऊपर ताम्रपाषाणीय संस्कृतियों से संबंधित अनुभाग में कहा गया है, ताम्र संचयों की कुछ चीजें प्रमुख रूप से आदिम कुल्हाड़ियाँ, ताम्रपाषाणीय लोगों से संबद्ध भी पाई गई हैं।

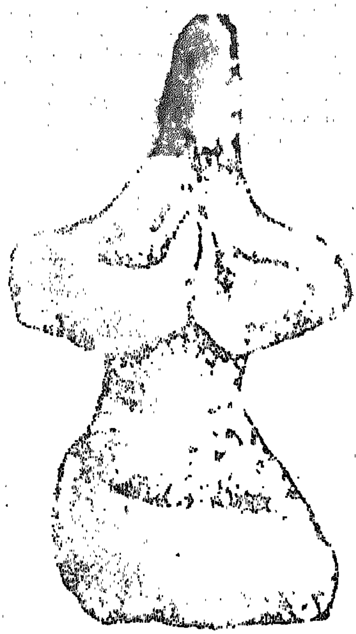
इसके अतिरिक्त, ऊपरी गंगा घाटी के कुछ अन्य स्थलों; जैसे— बहदराबाद, नसीरपुर (हरिद्वार), राजपुर-परशु (मेरठ), बिसौली (बदायूं) और बहेड़िया (शाहजहाँपुर) में पहले की खुदाइयों में ताम्र संचय पाए गए थे, वहीं बाद वाली खुदाइयों में गैरिक मृदभांडों के ठीकरे मिले हैं।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   ताम्रपाषाण संस्कृति, गैरिक मृद्भांड (ओ.सी.पी.), मानवाकृतियाँ, ताम्र संचय।
2. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) ताम्रपाषाणीय प्रौद्योगिकी
   (ii) महत्वपूर्ण ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ
   (iii) ताम्र संचय
3. ताम्रपाषाण संस्कृति नवपाषाण संस्कृति से कैसे भिन्न है?
4. ताम्रपाषाण संस्कृति के लोगों के धार्मिक विश्वासों का वर्णन करें।

**करने के लिए कार्य**

- भारत के बाह्य रेखा मानचित्र में कुछ महत्वपूर्ण ताम्रपाषाणिक स्थल दर्शाएँ।
- अपनी स्कैच बुक में गिलास, प्याले और कटोरे जैसे कुछ पात्रों के रेखाचित्र बनाएँ।

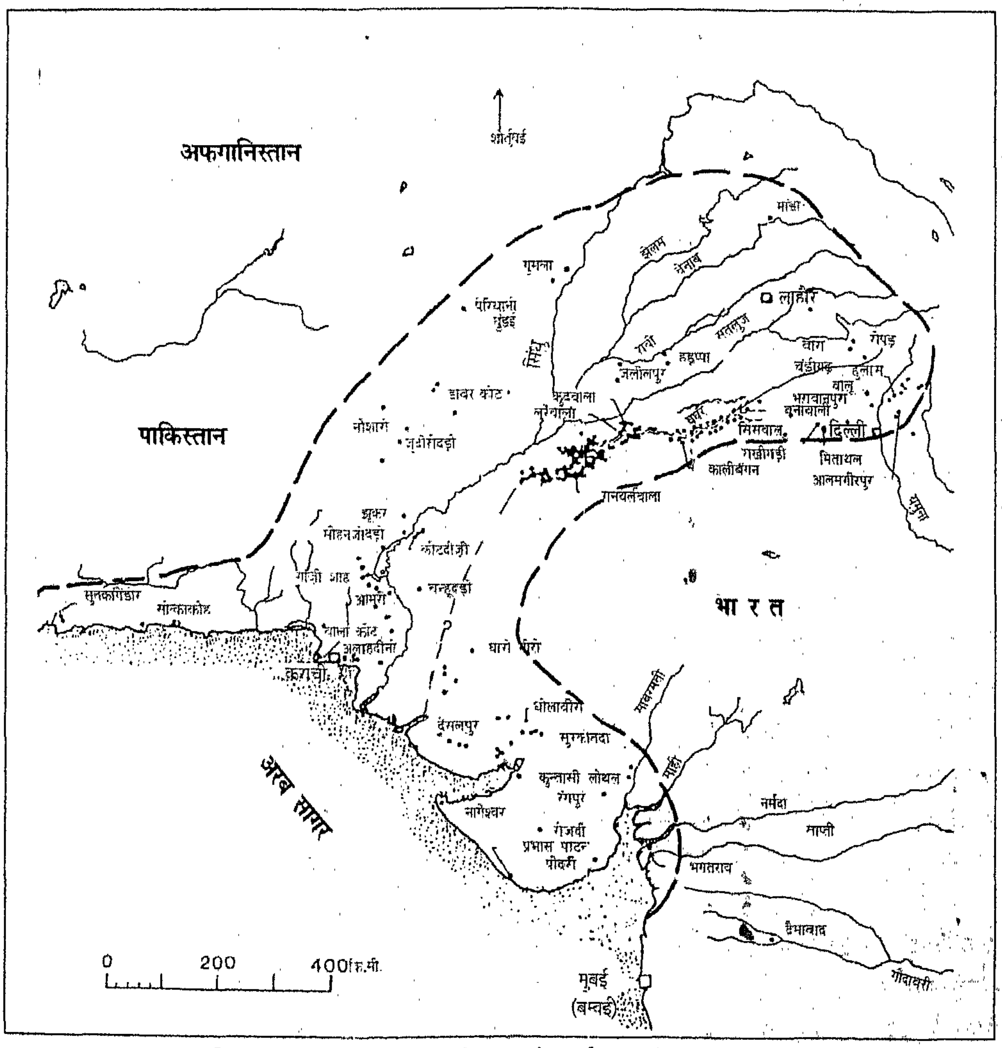


अध्याय 8

# हड़प्पा संस्कृति

सन् 1947 में भारत के विभाजन के समय तक इस सभ्यता से जुड़ी केवल 40 बस्तियों का ही पता चल पाया था। पिछले 50 वर्षों में किए गए अनुसंधान कार्यों ने इस स्थिति को पूरी तरह बदल दिया है।

**हड़प्पा** की सभ्यता की खोज मोहनजोदड़ो में आर.डी. बैनर्जी और हड़प्पा में डी.आर. साहनी द्वारा किए गए उत्खननों (खुदाइयों) के फलस्वरूप 1920-21 में हुई थी। चूँकि उस समय इस सभ्यता के अवशेष सिंधु घाटी में ही मिले थे, इसलिए इस सभ्यता को सिंधु घाटी सभ्यता कहा जाने लगा। संस्कृति का नामकरण उस पुरास्थल के आधार पर भी किया जा सकता है, जहाँ से वह पहली बार जानी गई हो। चूँकि इस सभ्यता के पुरावशेष सर्वप्रथम हड़प्पा में पाए गए थे, इसलिए इसे हड़प्पा की सभ्यता भी कहा जाता




*आकृति 8.1 हड़प्पा सभ्यता का विस्तार क्षेत्र और इसके महत्त्वपूर्ण पुरास्थल*

है। सन् 1947 में भारत के विभाजन के समय तक इस सभ्यता से जुड़ी केवल 40 बस्तियों का ही पता चल पाया था। पिछले 50 वर्षों में किए गए अनुसंधान कार्यों ने इस स्थिति को पूरी तरह बदल दिया है। अब इस संस्कृति के भिन्न-भिन्न चरणों से जुड़ी लगभग 1,400 बस्तियाँ भारत के भिन्न-भिन्न भागों में खोजी जा चुकी हैं। आज के विभाजित भारत की राजनीतिक सीमाओं के अनुसार, इन 1,400 बस्तियों में से लगभग 925 बस्तियाँ भारत में और 475 पाकिस्तान में हैं। भारत की इस प्राचीन सभ्यता का अध्ययन कुछ अन्य विषयों की तरह आज की राजनीतिक सीमाओं में बाँधकर करना उचित नहीं होगा। इसलिए भौगोलिक वितरण या प्रसार-क्षेत्र ही इसका आधार होना चाहिए।

अब तक खोजी गई 1,400 बस्तियाँ एक अत्यंत विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में फैली हुई हैं। पश्चिम में इस क्षेत्र की सीमा बलूचिस्तान स्थित सुतकागेंडोर तक, पूर्व में आलमगीरपुर (जिला मेरठ, उत्तर प्रदेश) तक, दक्षिण में दाइमाबाद (जिला अहमदनगर, महाराष्ट्र) तक और उत्तर में मांडा (जिला अखनूर, जम्मू-कश्मीर) तक बताई जाती है। यह क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तक लगभग 1,600 किलोमीटर लंबा और उत्तर से दक्षिण तक लगभग 1,400 किलोमीटर चौड़ा है। इस सभ्यता का कुल भौगोलिक क्षेत्र, मिस्र की सभ्यता के क्षेत्र से 20 गुना और मिस्र तथा मेसोपोटामिया दोनों ही सभ्यताओं के कुल सम्मिश्रित क्षेत्र से 12 गुना बड़ा है। इसका क्षेत्रफल लगभग 12,50,000 वर्ग किलोमीटर है। ये बस्तियाँअधिकतर नदियों के किनारे स्थित थीं।

यदि हम नदियों के अनुसार इन बस्तियों के वितरण/फैलाव पर विचार करें तो पाएंगे कि (i) केवल 40 बस्तियाँ ही सिंधु और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में पाई गई हैं, (ii) 1,100 (80 प्रतिशत) बस्तियाँ सिंधु तथा गंगा के बीच के मैदान में स्थित हैं, जहाँ कभी सरस्वती नदी बहती थी जो आज कल लुप्त-सी हो गई है; और (iii) लगभग 250 बस्तियाँ भारत में सरस्वती नदी प्रणाली-क्षेत्र से परे पाई गई हैं, जिनमें से कुछ गुजरात में और थोड़ी-सी महाराष्ट्र में हैं।

इन बस्तियों के फैलाव-क्षेत्र से स्पष्ट होता है कि हड़प्पा की सभ्यता का मुख्य क्षेत्र सिंधु घाटी नहीं बल्कि सरस्वती तथा उसकी सहायक नदियों का क्षेत्र था, जो सिंधु तथा गंगा के बीच में स्थित था। इसीलिए कुछ विद्वान इसे सिंधु-सरस्वती सभ्यता कहते हैं और कुछ लोग तो इसे सरस्वती सभ्यता के नाम से पुकारना अधिक पसंद करते हैं।

इस सभ्यता की 1,400 बस्तियों में से अधिकांश बस्तियों को छोटे गाँव (10 हेक्टेयर तक के) कहा जा सकता है, कुछ को बड़े नगर (कस्बे) और छोटे शहर (10 से 50 हेक्टेयर तक के) कह सकते हैं। कुछ बस्तियों; जैसे— मोहनजोदड़ो (+250 हेक्टेयर), हड़प्पा (+150 हेक्टेयर), गणवारीवाला (+80 हेक्टेयर) और राखीगढ़ी (+80 हेक्टेयर), कालिबंगन (+100 हेक्टेयर) और धौलावीरा (+100 हेक्टेयर) को आसानी से बड़े शहरों की गिनती में लाया जा सकता है। पहली पाँच बस्तियाँ अंतर्देशीय केंद्र कही जा सकती हैं, जो सिंधु तथा सरस्वती नदियों के मैदान में एक-दूसरे से लगभग समान दूरियों पर टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर स्थित हैं। अंतिम दो बस्तियाँ कच्छ के रण में स्थित हैं।

इसमें से प्रत्येक नगर ऐसी विस्तृत कृषि-भूमियों, नदियों और वनों से घिरा हुआ था, जहाँ कहीं-कहीं किसान और ग्वाल-समुदाय तथा कहीं शिकारी खाद्य संग्राहक रहते थे।

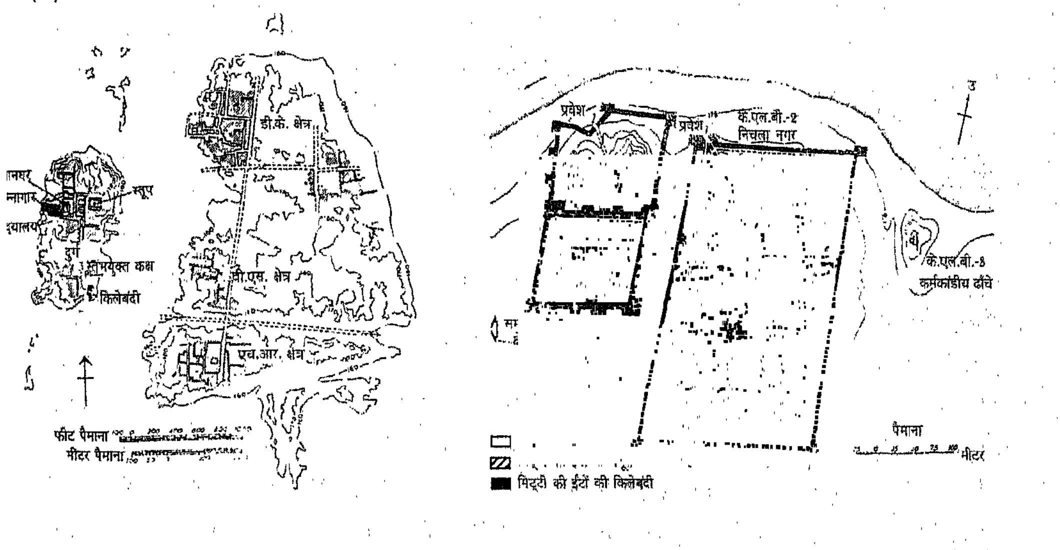
मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालिबंगन, लोथल, सुरकोतदा, धौलावीरा आदि पुरास्थलों पर की गई व्यापक खुदाइयों से हमें इस सभ्यता के विभिन्न पहलुओं; जैसे— नगर-योजना, अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिकी, धर्म आदि के बारे में काफी कुछ पता चलता है।

## नगर योजना

सिंधु-सरस्वती सभ्यता के नगरों के समग्र अभिन्यास (नक्शे) की असली पहचान या विशेषता यह है कि इसकी सड़कें व गलियाँ और उनके किनारे बनी इमारतों की पंक्तियाँ, एक-दूसरे को, पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण की ओर, समकोण बनाते हुए काटती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अभिन्यास के अनुसार नगर बसाने का विचार अचानक पहली बार इन नगरों के संबंध में ही नहीं आया होगा; संभवतः ऐसी योजना पहले से ही जानी-परखी हुई होगी और पूर्व-काल में प्रचलित होगी, जैसा कि कोटदीजी, कालिबंगन, हड़प्पा, रहमान ढेरी, नौशारो आदि पुरास्थलों से पता चलता है। इन सभी बस्तियों के बुनियादी नक्शे की विशेषता यही है कि इनकी बड़ी सड़कें एक जाल (ग्रिड) बनाती हुई उत्तर से दक्षिण की ओर और पूर्व से पश्चिम की ओर एक-दूसरे को काटती हुई बनी थीं और बस्ती चारों ओर एक परकोटे (प्राचीर) से घिरी थी।

पहले यह सोचा जाता था कि ये सभी नगर समान रूप से दो भागों में बंटे थे; इनमें पश्चिम की ओर ऊँचा दुर्ग था और पूर्व की ओर नगर का निचला

(क) (ख)




मोहनजोदड़ो : दुर्ग और निचला नगर

*आकृति 8.2 हड़प्पाई नगर अभिन्यास (नक्शा)*
*(क) मोहनजोदड़ो; (ख) कालीबंगन*

हिस्सा था। इससे यह प्रतीत होता था कि इन नगरों में शासकों के लिए अलग ऊँचा दुर्ग और साधारण लोगों यानी शिल्पियों, श्रमिकों आदि के लिए निचला हिस्सा होता था, जिसमें शिल्प-शालाएँ भी होती थीं, लेकिन ऐसा समझना सही नहीं है क्योंकि बड़े-बड़े सार्वजनिक भवन, बाजार, छोटे-बढ़े रिहायशी मकान और शिल्प-शालाएँ लगभग सभी इलाकों में पाई गई हैं।

प्रत्येक नगर में कई सेक्टर या टीले (माउंट) ऊँची दीवार से घिरे हुए थे जो अलग-अलग दिशाओं में बसे हुए थे। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालिबंगन में पश्चिम की ओर एक ऊँचा आयताकार टीला है और उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व की ओर विस्तृत टीला है। लेकिन धौलावीरा और बनावली स्थलों पर दीवार से घिरा एक ही टीला है, जो कि आंतरिक रूप से तीन या चार, दीवार से घिरे सेक्टरों में विभाजित है।

मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालिबंगन, सुरकोतदा जैसे हड़प्पाई नगर स्थलों की खुदाई से पता चला है कि नगर में प्रवेश करने के लिए बाहरी चार दीवारी यानी परकोटे में कई बड़े प्रवेश द्वार होते थे। आंतरिक चहारदीवारी या परकोटे में भी प्रवेश द्वार देखने को मिलते हैं। धौलावीरा में एक बड़ा उत्कीर्ण लेख संभवतः गिरा हुआ साइनबोर्ड, मुख्य प्रवेश द्वार के पास मिला था। इस लेख के वर्ण किसी भी हड़प्पाई नगर से अब तक प्राप्त लिखावट के सबसे बड़े नमूने हैं। यह लिखावट एक काठ की तख्ती पर खुदाई करके उसमें सफेद चूना (जिप्सम) भरकर तैयार की गई है। इसमें दस संकेताक्षर हैं, जिनमें से प्रत्येक की ऊँचाई 37 सेमी. और चौड़ाई 25 से 27 सेमी. है और उनके द्वारा कोई नाम या शीर्ष बताया गया है। जब यह नामपट्ट प्रवेश द्वार पर टँगा होता था, तो दूर से ही दिखाई देता होगा।

## इमारतों में इस्तेमाल की गई सामग्री

लोगों द्वारा घर-मकान बनाने के लिए जिन सामग्रियों का इस्तेमाल किया जाता था, वे भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थीं और निर्माण की शैली भी सर्वत्र एक-जैसी नहीं थी। जलोढ़ मिट्टी से बने इन मैदानों में, जहाँ अधिकांश बस्तियाँ पाई गई हैं, मकान आमतौर पर कच्ची ईंटों और भट्ठे में पकाई गई ईंटों, लकड़ी और सरकंडों से बनते थे, किंतु चट्टानों वाली तलहटियों में और कच्छ के द्वीपों तथा सौराष्ट्र में, जहाँ पत्थर आसानी से उपलब्ध था, ईंटों की जगह तराशा हुआ पत्थर काम में लिया जाता था। घरों को बनाने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली ईंटों का औसत आकार 7.5 × 15 × 30 सेमी. होता था, लेकिन परकोटे की दीवारों के निर्माण में प्रयुक्त ईंटों का आकार बड़ा यानी 10 × 20 × 40 सेमी. होता था। दोनों आकारों की ईंटों में मोटाई, चौड़ाई और लंबाई का अनुपात एक समान 1:2:4 होता था, अर्थात् चौड़ाई मोटाई से दोगुनी और लंबाई मोटाई से चार गुनी होती थी।

दरवाजे और खिड़कियाँ लकड़ी और चटाई (मैट) की बनी होती थीं। घरों के फर्श कड़ी मिट्टी को कूट-कूट कर बनाए जाते थे और आमतौर पर उन पर लेपाई भी की जाती थी। नहाने की जगह और नालियाँ पकी हुई ईंटों से या पत्थर से बनाई जाती थीं। कुछ कमरे का फर्श पकी ईंटों से या मिट्टी की पकी हुई टिक्कियों (केक) से बनाया जाता था। मकानों की छतों के वास्तविक टुकड़े बहुत कम मिले हैं। छतें संभवतः लकड़ी की बीमों/कड़ियों से बनाई जाती थीं और उन पर सरकंडे बिछाकर, चिकनी मिट्टी भरी जाती थी। कुछ ऐसे भी दुर्लभ उदाहरण मिले हैं, जहाँ इमारती लकड़ी

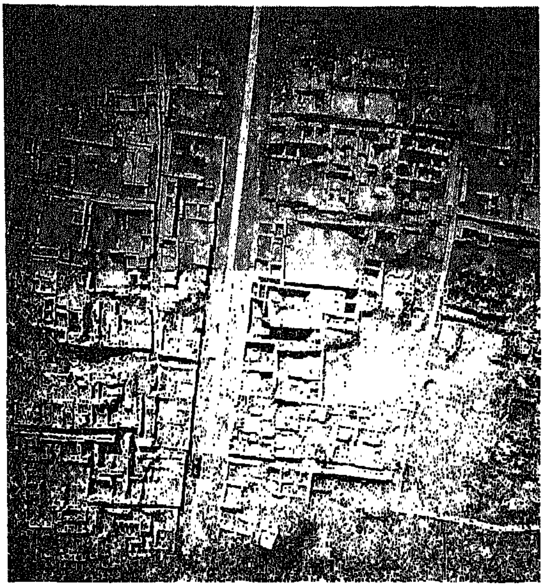
(टिंबर) का प्रयोग भी ढाँचा बनाने अथवा ईंटों के काम की मजबूती के लिए किया गया है।

## इमारतों/भवनों के प्रकार

खुदाइयों से पता चला है कि अनेक प्रकार के मकान और सार्वजनिक भवन, सभी छोटी-बड़ी बस्तियों में बनाए जाते थे। इन इमारतों को मोटे तौर पर कुछ अंतर के साथ तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : (i) निजी मकान/घर; (ii) बड़े मकान/घर, जिनके चारों ओर छोटे-छोटे घर बने होते थे; तथा *(iii)* बड़ी सार्वजनिक संरचनाएँ।

रहने के घरों के आकार और डिजाइन में काफी अंतर पाया गया है। कुछ घर तो एक कमरे वाले ही होते थे, जबकि कइयों में 12 तक कमरे और विशाल आँगन होते थे। मकानों के दरवाजे और खिड़कियाँ मुख्य सड़क की बजाय गली में अधिक खुलती थीं। सामने के मुख्यद्वार से घर के भीतर नहीं झाँका जा सकता था। इस ताका-झाँकी को रोकने के लिए एक दीवार बनी होती थी अथवा सामने के दरवाजे के चारों ओर एक कमरा यानी पोल बना होता था। इस व्यवस्था से बाहर गली में आते-जाते लोग भीतरी आँगन में क्या-कुछ हो रहा है, देख नहीं पाते थे। आज भी सिंधु-गंगा के संपूर्ण मैदानी क्षेत्र के पारंपरिक घर-मकानों में यह पद्धति अपनाई जाती है।

बहुत-से मकान दो-मंजिले होते थे और कुछ विद्वानों का विचार है कि कुछ मकान तीन मंजिले भी होते थे। कमरों में अंगीठी (हर्थ) आमतौर पर होती थी। प्रत्येक घर में एक स्नानघर होता था और कुछ घरों में तो पहली मंजिल पर स्नानघर होने का भी सबूत मिला है। काठ की चौखट वाले दरवाजे बनाए जाते थे और देहरी पर लगा हुआ ईंट का सॉकेट दरवाजे के चूल का काम देता था। कुछ दरवाजों पर रंगरोगन भी किया जाता था और संभवतः उन्हें साधारण नक्काशी से सुंदर भी बनाया जाता था। खिड़कियाँ पहली और दूसरी मंजिल पर छोटी होती थीं। पास-पास के घरों के बीच एक पतली-सी खाली जगह होती थी, जिस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं होता था। लगभग सभी बड़े घरों में आँगन के भीतर एक कुआँ होता था। कुएँ के ऊपरी सिरे पर लगी ईंटों के ऊपर पाए गए गहरे रगड़ के निशानों से पता चलता है कि कुएँ से पानी रस्सियों के सहारे काठ या चमड़े के डोल से खींचा जाता था।

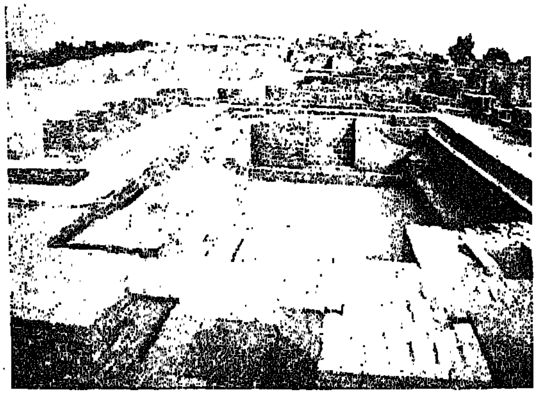


***आकृति 8.3*** *मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त उसके दुर्ग क्षेत्र का हवाई दृश्य*

## सार्वजनिक इमारतें

कुछ नगरों में बड़ी और अलग किस्म की संरचनाएँ (इमारतें) पाई गई हैं। उनके नक्शे और निर्माण में

कुछ विशिष्टता देखी जा सकती हैं। यहाँ हम कुछ खास संरचनाओं पर ही चर्चा करेंगे।



*आकृति 8.4 मोहनजोदड़ो का विशाल स्नानागार*

मोहनजोदड़ो के दुर्ग टीले का संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक स्थल है, वहाँ का विशाल स्नानागार। बढ़िया ईंटों से बना हुआ यह सुंदर जलाशय 12 मीटर लंबा, 7 मीटर चौड़ा और लगभग 3 मीटर गहरा है। इसके दोनों सिरों पर तल तक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। स्नानागार का फर्श तराशी गई ईंटों से बना है, जिनको चूने के गारे से जोड़ा गया है और ईंटों की भीतरी तथा बाहरी परतों के बीच में बिटुमिन (डोमर) की परत लगाई गई है। पास के कमरे में एक बड़ा कुआँ है। जाहिर है स्नानागार में पानी इसी कुएँ से निकालकर भरा जाता था। स्नानागार के एक कोने में पानी को बाहर निकालने का एक निर्गम-मुख है, जहाँ से पानी बहकर बड़े नाले से होता हुआ टीले के पश्चिम की ओर चला जाता था। स्नानागार के चारों ओर पोर्टिको एवं कमरे बने हुए हैं और पास ही एक जीना है, जिससे ऊपर की मंजिल पर चढ़ा जा सकता था। यह आमतौर पर स्वीकार किया जाता है कि यह विशाल स्नानागार किसी धर्मानुष्ठान संबंधी स्नान के लिए बना होगा, जो कि प्राचीन काल से आज तक भारतीयों के जीवन में एक आवश्यक कर्म रहा है।

मोहनजोदड़ो में विशाल स्नानागार के बिल्कुल पास ही पश्चिम की ओर ईंटों से बने हुए 27 खंड (ब्लॉक) हैं, जिनके बीच में संकरी गलियाँ हैं। इसकी कुल लंबाई पूर्व से पश्चिम तक 50 मीटर और चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक 27 मीटर है। ऐसी ही कुछ संरचनाएँ हड़प्पा, कालिबंगन और लोथल में भी पाई गई हैं। इन संरचनाओं को अन्नागार या कोठार के रूप में पहचाना गया है। इनका उपयोग खाद्यान्न रखने के लिए किया जाता था। हड़प्पा में इन अन्नागारों के पास काम करने के लिए अनेक प्लेटफार्म/चबूतरे बने हुए हैं। इनमें ईंटों के गोलाकार चबूतरों की कतारें हैं। खुदाई के दौरान इन गोलाकार चबूतरों में से एक चबूतरे के केंद्र भाग में काठ की एक बड़ी ओखली से बना निशान पाया गया था। काठ की ऐसी बड़ी ओखलियों का इस्तेमाल दुनिया के कई हिस्सों में धान से छिलका हटाने के लिए किया जाता है।

लोथल में पाई गई एक गोदी (डॉकयार्ड) एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संरचना है। इस विशाल संरचना की लंबाई 223 मीटर, चौड़ाई 35 मीटर और गहराई 8 मीटर है और इसमें पानी भरने के लिए पूर्वी दीवार में एक सरणी नहर (12.3 मीटर चौड़ी) बनी है और अधिक पानी हो जाने पर पानी बाहर निकालने के लिए अधिप्लावन मार्ग बना है। पानी को भीतर लाने वाली सरणी एक नदी से जुड़ी है। इसके पास एक घाट बना है, जिसकी लंबाई 240 मीटर और चौड़ाई 21.6 मीटर है। अधिकांश विद्वानों की राय में यह संरचना एक गोदी है, जहाँ छोटे-बड़े जहाज माल उतारने और लादने के लिए आते थे। इस गोदी के पास ही एक भंडारघर में बहुत-सी

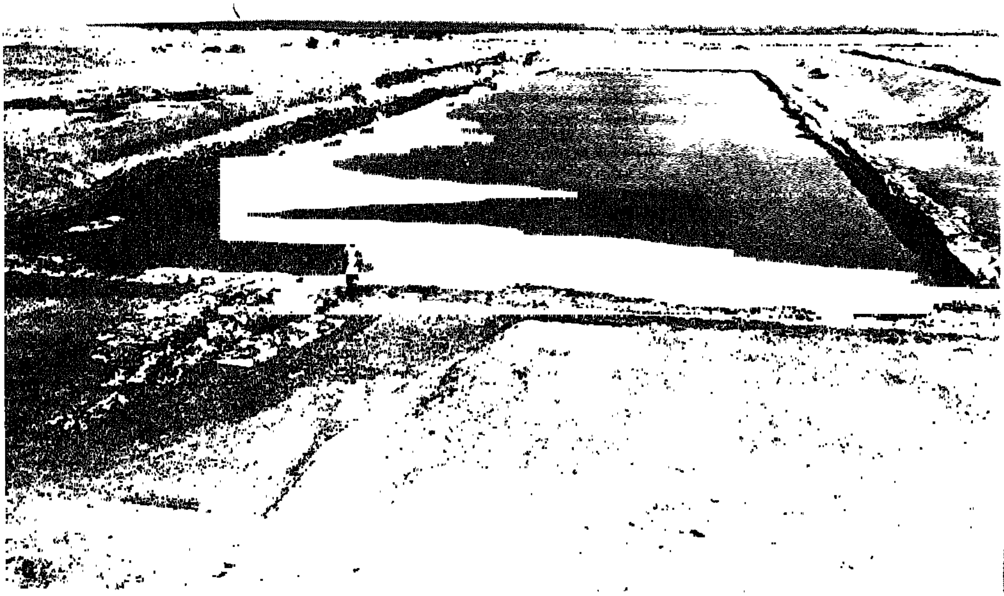
मुद्राएँ (सीलें) पाई गई हैं, जिन्हें देखकर विद्वान लोग ऐसा सोचते हैं कि लोथल हड़प्पा की सभ्यता का एक प्रमुख व्यापार केंद्र था।

## सड़कें और नालियाँ

हड़प्पा की सभ्यता की कुछ अन्य उल्लेखनीय विशिष्टताएँ हैं : अत्यंत सुव्यवस्थित सड़कें और गलियाँ, जिनके साथ-साथ जल की निकासी के लिए नालियाँ भी बनाई गई हैं।

नगर एक सुव्यवस्थित योजनाबद्ध रीति से बसाए जाते थे। उनकी सड़कें परस्पर समकोण बनाती हुई एक-दूसरे को काटती थीं। यहाँ तक कि इन सड़कों की चौड़ाई भी एक विशेष अनुपात में होती थी। जैसे, सबसे संकरी गली यदि एक निश्चित इकाई की चौड़ाई वाली हो तो अन्य गलियाँ, सड़कें उससे दोगुनी, तिगुनी आदि चौड़ाई की होंगी। इसके अलावा, इस सभ्यता के लोगों में नागरिक भावना इतनी गहरी थी कि इस सभ्यता की समृद्धि के दिनों में सड़कों पर कहीं भी अनधिकृत कब्जा नहीं दिखाई देता था। विद्वानों के मतानुसार ऐसी नगर-योजना तो उन्नीसवीं सदी के लंदन और पेरिस शहरों में भी नहीं थी।

छोटे कस्बों और गाँवों में भी मलजल निकासी की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। इससे यह पता चलता है कि लोगों में उच्चकोटि की नागरिकता की भावना और स्वास्थ्य तथा सफाई के प्रति जागरूकता पाई जाती थी। पकी ईंटों से बनी छोटी नालियाँ स्नान मंचों तथा शौचालयों से जुड़ी होती थीं, जो घर का गंदा पानी पास की गली में बनी हुई मध्यम आकार की निकास नालियों तक ले जाती थीं और मध्यम आकार वाली नालियाँ बड़ी सड़कों के साथ-साथ बने हुए बड़े नालों में मिलती थीं, और ये बड़े नाले ईंटों



*आकृति 8.5 लोथल में गोदी (डॉकयार्ड)*

से या तराशे गए पत्थरों से वाकायदा ढके हुए होते थे। टोडा-मेहराबदार नाले भी पाए गए हैं। उनमें से एक तो लगभग 6 फुट गहरा है, जो नगर के गंदे पानी को बाहर ले जाने वाला मुख्य नाला था। मलजल निकासी के मुख्य नालों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर आयताकार हौदियाँ बनी होती थीं, जिनमें गंदगी इकट्ठी होती रहती थी और फिर एक निश्चित समय पर नियमानुसार साफ कर दी जाती थी।

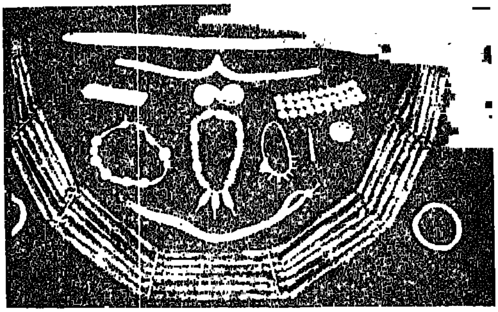
## शिल्प और उद्योग

यद्यपि हड़प्पा की सभ्यता को कांस्य युग की सभ्यता कहा जाता है, फिर भी उस समय औजार, बर्तन, हथियार आदि बनाने के लिए अधिकतर अमिश्रित/शुद्ध ताँबे का ही प्रयोग किया जाता था और कभी-कभार ताँबे में ही टिन (वंग) मिलाकर कांसा बनाया जाता था। औजार और हथियार रूप की दृष्टि से सरल किस्म के थे। उनमें चपटी कुल्हाड़ियाँ, छेनियाँ, वाणाग्र (तीर के सिरे), भाले, चाकू, आरियाँ, उस्तरे और मछली फँसाने के काँटे शामिल थे। लोग ताँबे और कांसे के पात्र भी बनाते थे। वे सीसे के बाट और छोटी-छोटी तश्तरियाँ बनाते थे। इसके अलावा सोने तथा चाँदी के आभूषण भी काफी सफाई से बनाए जाते थे।

हड़प्पाई सभ्यता के लोगों ने चकमक के फलक (चर्ट ब्लेड) वाले चाकू-छुरियों का इस्तेमाल करना नहीं छोड़ा। इनमें से कुछ फलक तो किसी प्राचीन संस्कृति के फलकों की तुलना में सर्वोत्तम पाए गए हैं। रत्नों और उपरत्नों के मनके व बाट बनाने में उस समय के लोगों को प्रवीणता एवं विशेषज्ञता प्राप्त थी। लंबे (10 सेमी. तक) ढोलकाकार इंद्रगोप मनके (कॉर्नेलियन बीड) उनकी कारीगरी के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

कई तरह की चीजें; जैसे— मोहरें, मनके, कंगन, बटन, पात्र आदि बनाने के लिए सेलखड़ी का इस्तेमाल किया जाता था लेकिन फायंस (एक तरह का कांच) बनाने में सेलखड़ी का प्रयोग विशेष रूप से ध्यातव्य तथ्य है। इस सामग्री से मनके, ताबीज, मुद्रांक और पशुओं की आकृतियाँ भी बनी मिली हैं।

हड़प्पा सभ्यता में सोने की वस्तुएँ लटकने वाले आभूषण (पेंडेंट), ताबीज, ब्रोच और अन्य छोटे-छोटे गहनों के रूप में मिलती हैं। हड़प्पाई आभूषणों में इस्तेमाल किया गया सोना कुछ हलके रंग का है।



*आकृति 8.6 आभूषण*

जिसका अर्थ यह हुआ कि उसमें चाँदी की मात्रा अधिक मिली हुई है। मिश्रधातुओं के आधार पर यह कहा गया है कि सोना कर्नाटक क्षेत्र से आया होगा। सोने की अपेक्षा चाँदी अधिक इस्तेमाल की जाती थी क्योंकि बड़े-बड़े पात्र और अन्य वस्तुएँ चाँदी से बनी पाई गई हैं।

परिपक्व हड़प्पाई मृद्भांडों में सरस्वती क्षेत्र और सिंधु क्षेत्र के पश्चिमी भाग की प्राक्-हड़प्पाई संस्कृति की मृत्तिका-परंपरा का सुंदर सम्मिश्रण पाया जाता है। मृद्भांड शिल्प काफी उन्नत था। अधिकांश बर्तन चाक (कुम्हार के) पर बनाए जाते थे। बड़े-बड़े संचय पात्र भी बनाए जाते थे। बर्तन चमकीली लाल सतह पर काले रंग से चित्रित किए

जाते थे। इन पर ज्यामितीय आकृतियों, पेड़-पौधों, जीव-जंतुओं के अलावा कहीं-कहीं कुछ कथाओं के दृश्य भी चित्रित किए गए हैं।

2,500 से अधिक मुद्राएँ (मोहरें) पाई गई हैं। ये सेलखड़ी की बनी हैं। इन पर अधिकांशतः एक पशुचित्रित होता है, जैसे एक शृंगी, साँड, हाथी, गैंडा आदि, लेकिन कुछ मुद्राओं पर पेड़, अर्ध-मानवीय और मानवीय आकृतियाँ भी चित्रित की गई हैं और कहीं-कहीं मनुष्यों को किसी अनुष्ठान में शामिल होते हुए दिखाया गया है।

शुक्ति-शिल्प भी एक अन्य फलता-फूलता उद्योग था। समुद्र के किनारे बसे हुए शिल्पी शुक्तियों, सीपियों, कौड़ियों आदि से तरह-तरह के आभूषण बनाते थे; जैसे— पेंडेंट, अंगूठियाँ, कंगन, जड़ाऊ गहने, मनके-मालाएँ आदि। इसके अलावा समुद्री चीजों से कटोरे, कलछियाँ और खेल की गोटियाँ तो बनाई ही जाती थीं।

## व्यापार और वाणिज्य

हड़प्पाई सभ्यता में समाज का ढाँचा अत्यंत सुव्यवस्थित और जीवन का स्तर अवश्य ही ऊँचा रहा होगा, क्योंकि उस समय की संचार-प्रणाली अत्यंत विकसित थी और अर्थव्यवस्था सुदृढ़ थी। अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में कृषि उत्पादन तथा बड़े पैमाने के व्यापार ने अवश्य ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी। प्रारंभ में तो व्यापार अंदरूनी यानी देश के आंतरिक अंचलों के बीच ही रहा होगा, लेकिन बाद में बाहरी व्यापार भी विकसित हो गया होगा। खेती की उपज और औद्योगिक कच्ची सामग्री; जैसे— ताम्रखनिज, रत्न, उपरत्न आदि का व्यापार किया जाता था। कच्ची सामग्रियों के अलावा, धातु की निर्मित वस्तुओं (पात्र, तवे-कड़ाहियाँ, हथियार आदि), रत्नों और उपरत्नों (मनके, पेंडेंट, ताबीज आदि), सोने तथा चाँदी के आभूषणों का भी विभिन्न क्षेत्रों के साथ व्यापार किया जाता था। ताँबा संभवतः राजस्थान में स्थित खेतड़ी की खानों से प्राप्त किया जाता था। चकमक के फलक सिंध की रोहड़ी की पहाड़ियों से, कार्नेलियन मनके गुजरात तथा सिंध से, सीसा दक्षिण भारत से, लाजवर्द मणियाँ कश्मीर और अफगानिस्तान से, फिरोजा और हरिताश्म (जेड) मध्य एशिया या ईरान से, अंबुमणि महाराष्ट्र से और गोमेद, सिक्थस्फटिक (केल्सेडोनी) और इंद्रगोप (कार्नेलियन) सौराष्ट्र से आता था।

परिपक्व हड़प्पाई सभ्यता की मुद्राओं (मोहरें) और अन्य मानवनिर्मित वस्तुओं का समकालीन मेसोपोटामियाई सभ्यता में पाया जाना और कुछ मेसोपोटामियाई तथा मिस्री वस्तुओं का हड़प्पाई सभ्यता में पाया जाना और मेसोपोटामियाई प्रलेखात्मक साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि हड़प्पाई लोगों का उन देशों के साथ व्यापारिक संबंध था।

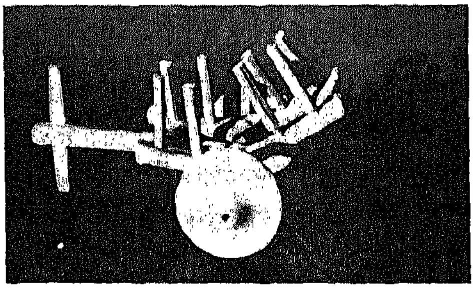
## माप - तौल

छोटी दूरी और लंबी दूरी के व्यापार का निहितार्थ यह है कि वस्तुओं के आदान-प्रदान तथा माप-तौल के संबंध में बाकायदा नियम-विनियम मौजूद थे। हड़प्पाई माप-तौल के बट्टे व अन्य साधन आकार में गोलाकार या घनाकार होते थे और वे चर्ट, जैस्पर या अगेट के बने होते थे। बाट एक शृंखला में क्रमशः बढ़ते जाते थे, पहले वे 1, 2, 4, 8 से 64 तक दोगुने होते जाते थे और उसके बाद 160 से आगे सोलह के दशमिक गुणजों में, 320, 640, 1,600, 6,400 (1,600 × 4), 8,000 (1,600 × 5) और 1,28,000 (यानी 1,6000 × 8) होते जाते थे। मजेदार बात तो यह है कि 16 या उसके गुणजों की परंपरा भारत में 1950 के दशक

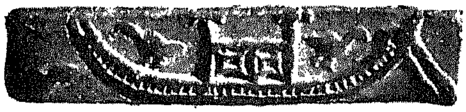
तक चलती रही है। सोलह छटांक का एक सेर होता था और 16 आने का एक रुपया। लंबाई का माप 37.6 सेमी. के एक फुट और 51.8 सेमी. से 53.6 सेमी. के *हाथ* (क्यूबिट) पर आधारित था।

## परिवहन और यात्रा

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त मृद्‌भांडों पर और कुछ मुद्राओं पर जहाजों तथा नौकाओं के चित्र पाए गए हैं। एक जलयान या नौका का एक मिट्टी का मॉडल लोथल से मिला है, जिसमें मस्तूल और पतवार लगाने के लिए छेद मौजूद हैं। मुद्राओं तथा मृद्‌भांडों पर चित्रित नौकाएँ वैसी ही हैं, जैसी कि आज सिंध और पंजाब के इलाकों में इस्तेमाल की जाती हैं। यात्रा और परिवहन जहाजों और नौकाओं के जरिए किया जाता था। जमीन पर परिवहन के लिए बैलगाड़ियों तथा भारवाही पशुओं; जैसे— बैल, ऊँट, गधे आदि का इस्तेमाल किया जाता था। विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त बैलगाड़ियों की मिट्टी की आकृतियों



*(क) बैलगाड़ी*



*(ख) मुद्रा पर अंकित नौका*

***आकृति 8.7*** *परिवहन के साधन*

तथा कई स्थलों पर सड़कों पर पाई गई गाड़ियों की लीकों से यह पता चलता है कि उन दिनों में इस्तेमाल की जाने वाली गाड़ियों का आकार और शक्ल लगभग वैसी ही थी जैसी कि आज की गाड़ियों की है।

## कृषि

कुछ हड़प्पाई नगरों में मिले अन्नागारों (कोठारों) से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि खाद्‌यान्न इतनी अधिक मात्रा में पैदा किए जाते थे कि उनसे लोगों की तात्कालिक आवश्यकता तो पूरी हो ही जाती थी, लेकिन बचे हुए अनाज को किसी भावी आपात स्थिति के लिए सुरक्षित भी रख लिया जाता था।



***आकृति 8.8*** *कालिबंगन की खुदाई में मिला जुता हुआ खेत*

ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य अनाज गेहूँ और जौ थे। चावल की भी जानकारी थी पर उसे बढ़िया अन्न माना जाता था। मोटे अनाजों (मिलेट्स) की ये छः किस्में उगाई जाती थीं : रागी, कोदों, सांवा, और ज्वार, मटर तथा फलियों की भी खेती की जाती थी। चावल के अवशेष मुख्य रूप से गुजरात तथा हरियाणा के पुरास्थलों से पाए गए हैं। अन्य फसलों में खजूर,

तरह-तरह की फलियाँ, तिल और सरसों शामिल हैं। मोहनजोदड़ो और अन्य स्थलों पर पाए गए सूती कपड़े के टुकड़ों से इस बात का पता चलता है कि कपास की खेती भी की जाती थी। इस सभ्यता की परिपक्वता के चरण से कम से कम 2,000 वर्ष पहले के मेहरगढ़ पुरास्थल पर कपास पाई गई है। यह संसार भर में कपास के अस्तित्व का प्राचीनतम साक्ष्य है।

खेती आमतौर पर नदियों के किनारे की जाती थी, जहाँ गरमियों तथा वर्षा के दिनों में बाढ़ का पानी बह आता था। पानी के इस बहाव से हर वर्ष नई उपजाऊ मिट्टी आकर जमा हो जाती थी और उसमें ऊपर से हल चलाने और खाद-पानी देने की जरूरत नहीं होती थी। कालिबंगन (प्रथम काल) की खुदाई में मिले बोए हुए खेत में हल से बनी आड़ी-तिरछी खुरों (कूंडों) के निशानों से पता चलता है कि एक साथ दो फसलें उगाई जाती थीं। राजस्थान, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आज भी यह तरीका अपनाया जाता है।

खेतों की जोताई के लिए, लकड़ी के हल का प्रयोग किया जाता था जिसके निचले सिरे पर ताँबे या लकड़ी की फाल लगी होती थी। मोहनजोदड़ो और बनावली में हल के मिट्टी के मॉडल पाए गए हैं। फसल की कटाई ताँबे के हँसिए से और लकड़ी के हत्थे पर लगी पत्थर के फलकों (ब्लेड)/गंड़ासों से की जाती थी।

हड़प्पाई लोग कई किस्म के पशु पालते थे। खुदाइयों में बहुत-से जानवरों की हड्डियाँ पाई गई हैं। अनेक पालतू जानवरों; जैसे— भेड़, बकरी, बैल, भैंस, हाथी, ऊँट, सूअर, कुत्ता और बिल्ली के कंकाल पाए गए हैं। मोहरों (मुद्राओं) पर अनेक जानवरों के चित्र अंकित किए हुए मिले हैं। इन जानवरों में भेड़ें, बकरियाँ, कूबड़वाले साँड, भैंस, हाथी आदि शामिल हैं। अनेक जंगली जानवरों; जैसे— चित्तीदार हिरन, साँभर, पाड़ा (होगडियर), जंगली सूअर आदि की हड्डियाँ मिली हैं, जिनका भोजन के लिए शिकार किया गया था। खाने के लिए अनेक प्रकार की मछलियाँ और चिड़ियाँ पकड़ी जाती थीं।

ऊँटों की हड्डियाँ भी अनेक पुरास्थलों से बड़ी संख्या में पाई गई हैं लेकिन किसी भी मुद्रा पर ऊँट का चित्र नहीं मिला है। घोड़े की हड्डियाँ लोथल, सुरकोतदा, कालिबंगन और अनेक अन्य स्थलों से मिली बताते हैं। घोड़े की मिट्टी की आकृतियाँ नौशारो और लोथल में पाई गई हैं, लेकिन घोड़े का कोई स्पष्ट चित्र किसी मुद्रा पर अभी तक नहीं मिला है।

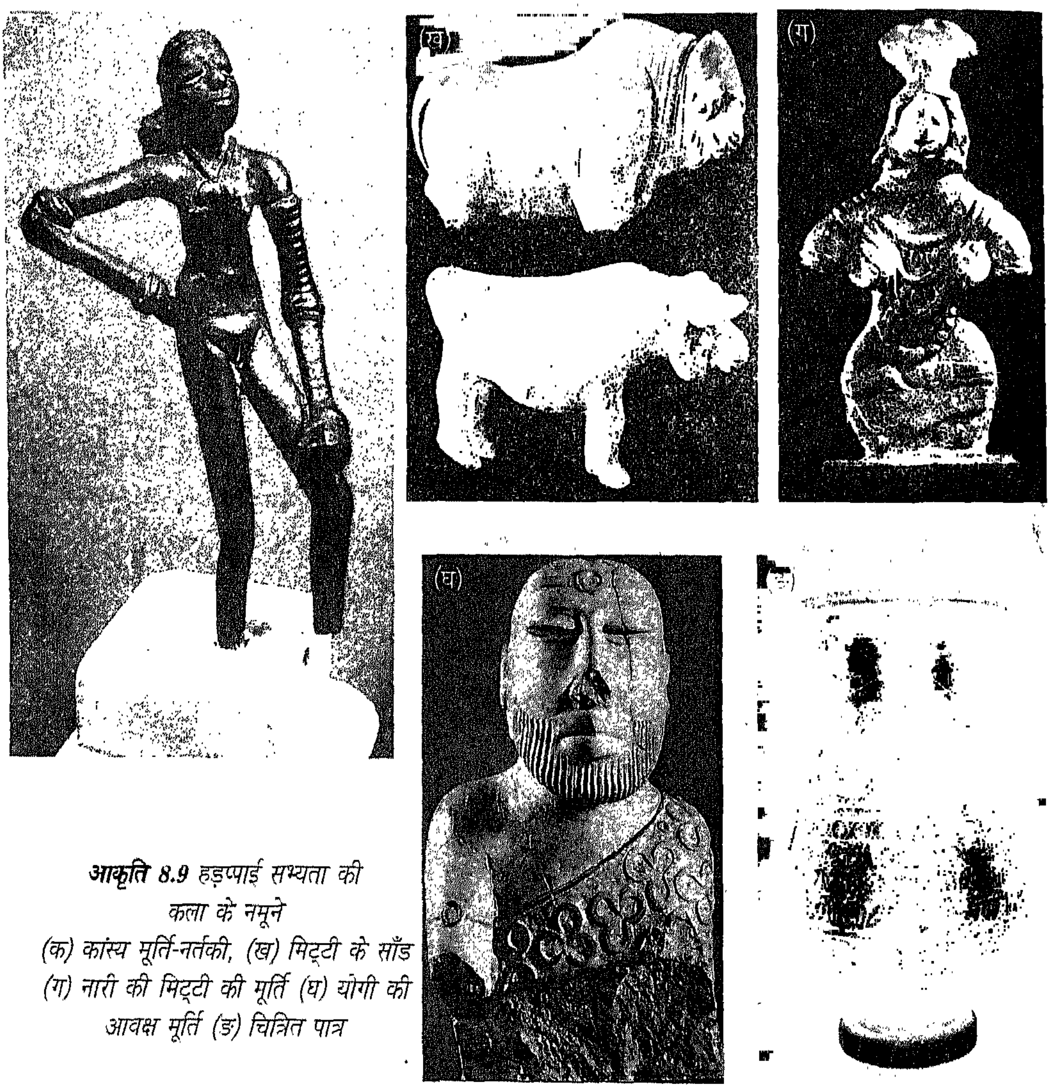
## कलाएँ

कई किस्मों की वस्तुएँ, जैसे – मुद्राएँ, पत्थर की मूर्तियाँ, मिट्टी की कलाकृतियाँ आदि कला-संबंधी कार्यकलापों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से जो कलाकृतियाँ सर्वश्रेष्ठ समझी गई हैं, उनमें एक है मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की आवक्ष मूर्ति और हड़प्पा से प्राप्त दो छोटी मूर्तियाँ। कांस्य मूर्तियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम पाई गई हैं। उनमें से एक सबसे प्रसिद्ध है मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक नर्तकी की छोटी मूर्ति, जिसकी ऊँचाई लगभग 11.5 सेमी. है। निश्चित रूप से, यह मूर्ति ढलाई की लुप्त सिक्थ विधि से बनाई गई है। दाइमाबाद से प्राप्त जानवरों की कांस्य मूर्तियों की कारीगरी संभवतः हड़प्पा काल की है। हड़प्पा में पाई गई लाल बलुई पत्थर की कबंध मूर्ति (धड़) अलग किए जा सकने वाले सिर और अंगों से बनी है, और धूसर पत्थर की कबंध मूर्ति शायद किसी नृत्यरत आकृति की है। ये दोनों मूर्तियाँ

इतनी अधिक वास्तविकता से परिपूर्ण हैं कि यदि वे पुरातात्त्विक खुदाइयों में न मिली होतीं तो कोई भी यह विश्वास नहीं करता कि वे हड़प्पा काल की हैं।

हड़प्पा के लोग मिट्टी की मूरतें भी बड़ी संख्या में बनाते थे; ये मूरतें हाथ से बनाई जाती थीं। इनमें आदमियों, जानवरों, पक्षियों, बंदरों, कुत्तों, भेड़ों और मवेशियों की मूरतें शामिल हैं। कूबड़ वाले और बिना कूबड़ वाले, दोनों प्रकार के साँडों/बैलों की मूरतें पाई गई हैं।

मुद्राओं में सबसे अधिक संख्या ऐसी मुद्राओं की हैं जिन पर एक शृंगी (पशु) चित्रित है। लेकिन कला की दृष्टि से सबसे बढ़िया मूरतें कूबड़ वाले साँडों की



***आकृति 8.9*** *हड़प्पाई सभ्यता की कला के नमूने*
*(क) कांस्य मूर्ति-नर्तकी, (ख) मिट्टी के साँड (ग) नारी की मिट्टी की मूर्ति (घ) योगी की आवक्ष मूर्ति (ङ) चित्रित पात्र*

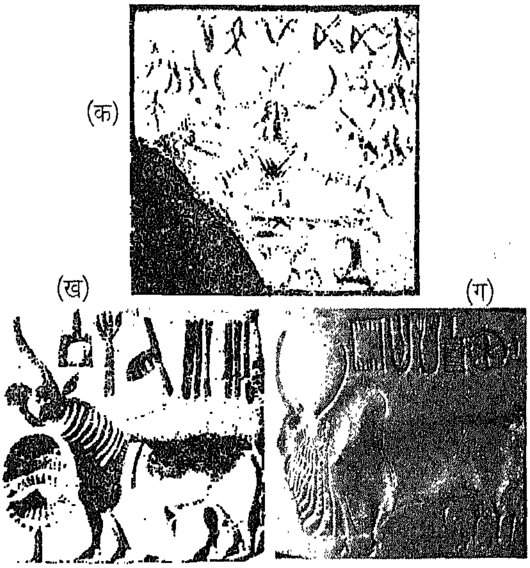
हैं। अन्य जानवर हैं : हाथी, बाघ, गैंडा, मेढ़ा आदि। कुछ मूरतें आदमियों की भी हैं।

जहाँ तक चित्रकला के साक्ष्य का प्रश्न है, हमें केवल मृद्भांडों पर ही चित्रकारियाँ मिली हैं। दुर्भाग्य से कोई भी भित्ति चित्र यदि था भी तो बचा नहीं है।

## लिपि

हड़प्पाई लोगों की भाषा का अभी तक पता नहीं चला है और यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि हड़प्पाई लिपि पढ़ी नहीं जाती। यद्यपि इस लिपि को पढ़ने के लिए अनेक प्रयास किए जा चुके हैं लेकिन कोई भी प्रयास सबके लिए विश्वासोत्पादक और स्वीकार्य नहीं है। कुछ विद्वान इसका संबंध द्रविड़ भाषाओं से जोड़ते हैं और कुछ अन्य भारतीय आर्य भाषा और संस्कृत से।

मुद्राओं और अन्य सामग्रियों; जैसे— ताम्रपट्टियों, कुल्हाड़ियों और मृद्भांडों पर हड़प्पाई लिपि के लगभग 400 नमूने पाए गए हैं। मुद्राओं पर पाए गए लेख अधिकतर बहुत छोटे, कुछ अक्षरों के ही हैं। कुछ में तो केवल एक ही संकेत-चिह्न हैं। हड़प्पाई लिपि में 400 से 500 तक संकेत-चिह्न हैं और आमतौर पर यह माना जाता है कि यह वर्णमाला वाली लिपि नहीं है। कुछ विद्वानों की राय है कि हड़प्पाई अभिलेख शब्दाक्षरित लेखन-प्रणाली प्रस्तुत करते हैं, जहाँ दो या अधिक संकेत-चिह्नों का अनुक्रम या तो एक पूर्णशब्द, अक्षर अथवा ध्वनि और कभी-कभी तो कई शब्दों और व्याकरण-सूचक चिह्न का द्योतक होता है। यह लिपि दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी। जब अभिलेख एक से अधिक पंक्तियों का होता था तो पहली पंक्ति दाईं से बाईं, और दूसरी बाईं से दाईं ओर लिखी जा सकती थी।



*आकृति 8.10 (क) आमतौर पर शिव पशुपति के नाम से जानी जानेवाली मुद्रा (ख) और (ग) हड़प्पाई लिपि की अन्य मुद्राएँ*

## धर्म

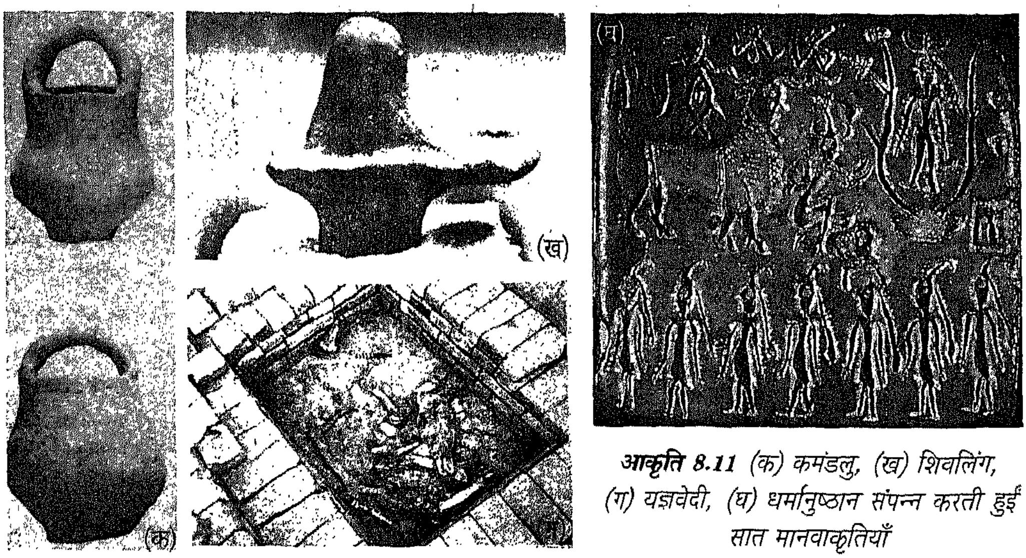
आमतौर पर धर्म के दो पहलू होते हैं : पहला संकल्पनात्मक या दार्शनिक, और दूसरा व्यावहारिक अथवा कर्मकांडीय। पहला रूप आध्यात्मिक अथवा तत्त्वमीमांसात्मक ग्रंथों में पाया जाता है, और दूसरा भौतिक अवशेषों के रूप में मिलता है। चूँकि हम हड़प्पाई लिपि को पढ़ नहीं पाए हैं, इसलिए उनके धर्म के आध्यात्मिक पहलू के बारे में कुछ भी बताना कठिन है, लेकिन भौतिक अवशेषों की प्रचुरता के कारण, हम हड़प्पा के लोगों के धर्म के दूसरे यानी कर्मकांडीय पक्ष के बारे में कुछ जान सकते हैं।

उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिंधु सभ्यता के लोगों के धर्म के तत्त्व

ये थे : (1) मातृ-देवी की पूजा; (2) एक पुरुष देव, संभवत: शिव की पूजा; (3) पशुओं, प्राकृतिक, अर्ध-मानवीय अथवा काल्पनिक प्राणियों की पूजा; (4) पेड़ों की उनकी प्राकृतिक दशा में अथवा उनके भीतर रहने वालीं आत्माओं के रूप में पूजा; (5) पत्थरों या अन्य वस्तुओं; जैसे— लिंग और योनि के प्रतीकों की पूजा; (6) क्रीमेथीइज्म, जिसका एक उदाहरण धूपदानों की पूजा है; (7) तांबीजों और तंत्र-मंत्र में विश्वास, उनकी *प्रेत-भीति* का सूचक है, और (8) योगाभ्यास। इन विशेषताओं से यह प्रतीत होता है कि यह धर्म मुख्य रूप से यहीं देश में ही पनपा, बढ़ा था और यह "हिंदू धर्म का ही एक पूर्व-प्रजनक है", क्योंकि हिंदूधर्म में भी इनमें से अधिकांश विशेषताएँ पाई जाती हैं।

हड़प्पा में मिट्टी की नारी-मूरतें बड़ी संख्या में मिली हैं। इनके विषय में यह मत स्वीकार किया गया है कि ये महामातृ-देवी की मूरतें हैं। हड़प्पा में मिली एक मूर्तिका में स्त्री के गर्भ से निकलता हुआ एक पौधा दिखाया गया है, यह संभवतः पृथ्वी माता की प्रतिमा है। एक मूर्तिका में एक पुरुष को हाथ में चाकू लिए हुए और स्त्री को हाथ उठाए हुए दिखाया गया है।

एक मुहर पर एक पुरुष देवता को तीन मुखों के साथ चित्रित किया गया है; वह एक योगी की मुद्रा में नीचे सिंहासन पर बैठा है और उसके दोनों ओर दो पशु दिखलाए गए— दाहिनी ओर हाथी तथा बाघ हैं और बाईं ओर गैंडा और भैंसा है, दो हिरन सिंहासन के नीचे खड़े हैं। "यह देव ऐतिहासिक शिव का आद्यरूप है।" इस मुहर में शिव का पशुपति रूप चित्रित किया गया है। इस मुहर में ऐतिहासिक शिव की अंतिम विशेषता भी दिखाई गई है, यानी उसके सिर पर दो सींग लगे हैं और बीच में एक उभाड़ है, जो शैवों के त्रिशूल जैसा प्रतीत होता है। एक अन्य मुहर में एक देवता को योग के उसी आसन में

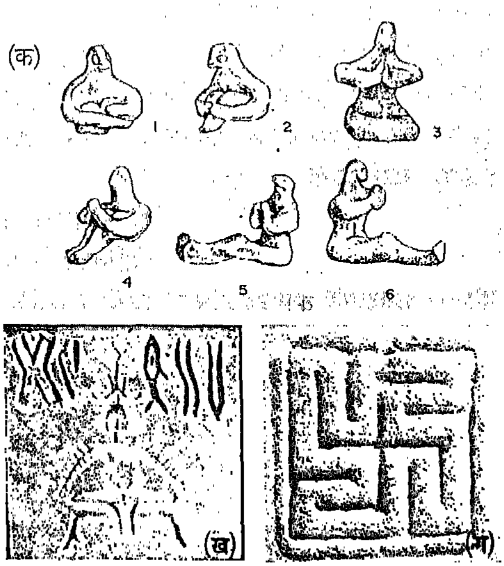



***आकृति 8.11*** *(क) कमंडलु, (ख) शिवलिंग, (ग) यज्ञवेदी, (घ) धर्मानुष्ठान संपन्न करती हुईं सात मानवाकृतियाँ*

दिखाया गया है और एक नाग दोनों ओर हाथ उठाकर उसके सामने घुटने टेककर प्रार्थना कर रहा है।

कुछ लिंग और योनि जैसी वस्तुएँ भी मिली हैं। कुछ विद्‌वानों की राय है कि ये लिंग या योनि नहीं हैं बल्कि खेलने की गोटियाँ/मोहरे हैं। किंतु, कालिबंगन में एक ऐसी मिट्‌टी की पट्‌टिका मिली है, जिसमें एक साथ लिंग और योनि के प्रतीक बने हुए हैं, जैसे कि ऐतिहासिक युग में पाए जाते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि ये पूजा के लिए बनाए गए लिंग और योनि के प्रतीक थे, लेकिन यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे स्वतंत्र रूप से पूजे जाते थे या शिव तथा शक्ति के प्रतीक के रूप में।

हड़प्पा संस्कृति में वृक्ष को दो रूपों में पूजे जाने का साक्ष्य भी मिलता है। एक रूप में वृक्ष को उसके अपने प्राकृतिक रूप में पूजा जाता था, और दूसरे रूप में वृक्ष की नहीं बल्कि वृक्ष में निवास करने वाली आत्मा की पूजा की जाती थी। मोहनजोदड़ो में पाई गई एक विशिष्ट मुहर में एक देवता को पीपल के वृक्ष की दो शाखाओं के बीच में खड़ा हुआ दिखाया गया है। सात मानव आकृतियाँ एक पंक्ति में खड़े होकर उसकी पूजा कर रही हैं और एक लंबे बालों वाली आकृति भक्ति-भाव से आधे घुटने टेककर नतमस्तक है, उसके पीछे एक बकरा/बकरी है, जिसका मुँह आदमी जैसा है। इस धार्मिक परंपरा का सातत्य भरहुत और साँची की प्रतिमाओं में पाया जाता है, जिनमें यक्षियों को वनदेवी के रूप में दिखाया गया है।




***आकृति 8.12*** *(क) विभिन्न योगासनों में मिट्‌टी की मूर्तियाँ; (ख) एक मुद्रा पर योगी का चित्र; (ग) स्वस्तिक*

पशु-पूजा प्रचलित होने का साक्ष्य मुद्राओं, मुद्रांकों, मिट्‌टी की प्रकाचित वस्तुओं और पत्थर की छोटी-छोटी मूर्तियों में भी पाया जाता है। प्रथमतः, अनेक प्रकार के मिथकीय और मिश्रित प्राणी चित्रित किए गए हैं; जैसे— मानव मुखवाला बकरा अथवा ऐसे प्राणी जिनका आधा शरीर मेढ़े का अथवा बकरे का हो, या साँड या हाथी का हो, तीन-सिरों वाला काल्पनिक प्राणी, आधे मनुष्य और आधे गाय के शरीर वाले प्राणी; दूसरे, बहुत-सी मुहरों पर एक-शृंगी पशु का चित्रण मिलता है, यह जानवर संभवतः मिथक कथाओं में पाया जाता है; तीसरे, प्राकृतिक जानवर हैं; जैसे— (i) पानी का भैंसा (जल महिष); (ii) गौर; (iii) भारतीय कूबड़वाला साँड या जेबू; (iv) गैंडा; (v) एक छोटे सींगों वाला बिना कूबड़ वाला साँड;

(vi) बाघ; और (vii) भारतीय हाथी। उत्तरवर्ती काल में इन जानवरों ने भिन्न-भिन्न हिंदू देवताओं के वाहन का रूप ले लिया; जैसे— शिव का वाहन नंदि (साँड), दुर्गा का वाहन सिंह, यम का वाहन भैंसा और इंद्र का वाहन हाथी।

गुजरात, राजस्थान और हरियाणा के पुरास्थलों से बहुत-सी अग्नि वेदियाँ अथवा अग्निकुंड पाए गए हैं। कालिबंगन, लोथल और बनावली में, अनेक ऐसी अग्नि-वेदिकाएँ पाई गई हैं, जिनका संभवतः यज्ञ-वेदिकाओं के रूप में प्रयोग किया जाता था। इसके अलावा स्वस्तिक जो हिंदुओं, बौद्धों और जैनों के लिए एक पवित्र प्रतीक है, मुहरों, चित्रकारियों तथा मृद्भांडों आदि पर चित्रित किया गया है।

हड़प्पाई लोगों का एक पक्ष और है, उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मिट्टी की बहुत-सी मूरतों के द्वारा भिन्न-भिन्न योगासन प्रस्तुत किए गए हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि हड़प्पाई लोग योगासन किया करते थे।

## सामाजिक स्तरीकरण एवं राजनीतिक ढांचा

हड़प्पाई समाज तीन वर्गों में बँटा हुआ प्रतीत होता है : पहला, विशिष्ट वर्ग; जो नगर-दुर्ग से जुड़ा था; दूसरा, खुशहाल मध्यम वर्ग, और तीसरा, अपेक्षाकृत कुछ कमजोर वर्ग; जो नगर के निचले हिस्से में रहता था। आमतौर पर ये तीनों हिस्से परकोटे से घिरे होते थे। कुछ शिल्पी और श्रमिक नगर के परकोटे से बाहर की बस्तियों में भी रहते थे। यह विभाजन केवल आर्थिक घटकों पर आधारित था अथवा इसका कोई सामाजिक-धार्मिक आधार भी था, यह आसानी से नहीं कहा जा सकता। कालिबंगन में ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित लोग दुर्ग के ऊपरी भाग में रहते थे और निचले भाग में स्थित अग्नि-वेदिकाओं पर धार्मिक अनुष्ठान संपन्न कराते थे।

हड़प्पा की सभ्यता के समय राजनीतिक ढाँचा कैसा था, यह निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। अकसर सिंधु साम्राज्य की चर्चा की जाती है, जिसका निहितार्थ यह हुआ कि संपूर्ण क्षेत्र एक राजधानी से प्रशासित होता था और उसके कुछ प्रादेशिक प्रशासन-केंद्र थे अथवा उसके प्रांतों की राजधानियाँ थीं। किंतु यह भी संभव है कि संपूर्ण क्षेत्र कई स्वतंत्र राज्यों, रजवाड़ों में बँटा हुआ था और उनमें से प्रत्येक की एक अलग राजधानी थी; जैसे— सिंध में मोहनजोदड़ो, पंजाब में हड़प्पा, राजस्थान में कालिबंगन, गुजरात में लोथल। स्मरण रहे कि ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्दी में, यद्यपि संपूर्ण उत्तर भारत में पुरातत्त्वीय संस्कृति लगभग एक समान थी, फिर भी संपूर्ण क्षेत्र सोलह स्वतंत्र महाजनपदों में विभाजित था, जिनकी अपनी-अपनी राजधानी थी।

## मृतकों का संस्कार

कई बड़े पुरास्थलों पर छितरी हुई शव-समाधियाँ और सुनियोजित शवाधान भूमियार कब्रिस्तान मिले हैं। बस्तियों के आकार और उनकी अनुमानित जनसंख्या की तुलना में कंकाल-अवशेष बहुत कम मिले हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शवदाह की पद्धति भी साथ-साथ चल रही थी। यह बात वहाँ अस्थि-कलशों अथवा मनुष्य की दग्ध हड्डियों के अन्य पात्रों की उपस्थिति से साबित होती है, जिनके पास मृतक के आगामी जीवन में प्रयोग के लिए भेंट किए हुए पात्र भी मिले हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कुछ समुदाय ही शवों को दफनाते थे। आम प्रथा यह थी कि नर कंकाल (शव) को, खोपड़ी को उत्तर की तरफ रखते हुए सीधी, विस्तारित-स्थिति में समाधि के फर्श पर रखा जाता था। अन्न आदि से

भरे हुए मिट्टी के पात्र कब्र में रखे जाते थे और कुछ मामलों में तो शव को आभूषणों के साथ ही दफ़ना दिया जाता था।

## कालानुक्रम

जब 1920 के दशक में सर्वप्रथम हड़प्पाई सभ्यता को पहचाना गया, तब उसका काल-निर्धारण प्रमुख रूप से मेसोपोटामिया में *उर* और *किश* स्थलों पर प्राप्त हड़प्पाई मुद्राओं के आधार पर किया गया। उस आधार पर मार्शल के विचार से हड़प्पाई सभ्यता ई.पू. 3250 से 2750 ई.पू. तक फलती-फूलती रही थी। व्हीलर ने इसका काल 2500-1500 ई.पू. माना। उसके बाद काल-निर्धारण की रेडियो कार्बन विधि का आविष्कार हो गया और इस विधि से इस सभ्यता का काल-निर्धारण इस प्रकार किया गया :

पूर्व हड़प्पाई चरण : लगभग 3500-2600 ई.पू.
परिपक्व हड़प्पाई चरण : लगभग 2600-1900 ई.पू.
उत्तर हड़प्पाई चरण : लगभग 1900-1300 ई.पू.

परिपक्व हड़प्पाई चरण को 700 वर्ष काल माना जाए तो यह बहुत अधिक लंबा समय होगा, जिसमें लगभग 30 पीढ़ियाँ गुजर जाएँगी। इतनी लंबी अवधि के दौरान तो सामाजिक संगठन, राजनीति, भाषा और यहाँ तक कि धर्म में भी बहुत-से परिवर्तन हो गए होंगे। हम जानते हैं कि समकालीन मिस्र और मेसोपोटामिया में तो 100 वर्षों की अवधि में ही बहुत-से राज्यों का उत्थान-पतन हो गया।

लगभग 1900 ई.पू. के बाद, हड़प्पाई सभ्यता की एकरूपता कमजोर हो गई और प्रादेशिक रूपांतर उत्पन्न होने लगे।

## पतन

जॉन मार्शल और अन्य अनेक विद्वानों ने सिंधु नदी क्षेत्र के पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर, यह महसूस किया कि इस सभ्यता का पतन पर्यावरण की खराबी के कारण हुआ। कृषि भूमि के लिए वनों की कटाई और ईंधन के लिए इमारती लकड़ी के इस्तेमाल और संसाधनों के अनाप-शनाप दुरूपयोग आदि के परिणामस्वरूप जमीन बंजर हो गई और नदियों में गाद भर गई। इन सब बातों के कारण, बाढ़, सूखे और अकाल की स्थितियाँ बार-बार उत्पन्न होने लगीं, जिससे अंततः इस सभ्यता का पतन हो गया। व्हीलर, जिसने इस सभ्यता का काल 2500 से 1500 ई.पू. माना था, के मतानुसार यह सभ्यता बर्बर आर्यों द्वारा नष्ट कर दी गई, जो भारत में 1500 ई.पू. के आस-पास आए थे। परवर्ती अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया कि व्हीलर की यह स्थापना/धारणा कि आर्य लोग हड़प्पाई सभ्यता का नाश करने वाले थे, मात्र एक मिथक थी। तथ्य यह है कि 5000 ई. पू. से 800 ई.पू. तक के समय में पश्चिमी या मध्य एशिया से सिंधु या सरस्वती की घाटियों में किसी आक्रमण अथवा सामूहिक आप्रवास का कोई पुरातात्विक जैविक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इस अवधि में पाए गए सभी नर कंकाल एक ही समूह के लोगों के थे।

हड़प्पाई सभ्यता एक बड़े क्षेत्र में फैली हुई थी और सभी प्रदेशों में उसके पतन के कारण एक-जैसे नहीं हो सकते। सारस्वत प्रदेश में तो इसका पतन मुख्य रूप से नदी धाराओं के बदलने अथवा स्थानांतरण के कारण हुआ, लेकिन सिंधु नदी के तटीय क्षेत्रों में बार-बार आने वाली बाढ़ों की वजह से अधिकतर इस सभ्यता का पतन हुआ। आमतौर

पर सर्वत्र वर्षा की कमी होती गई, जिससे खेती जो कि वहाँ का मुख्य आर्थिक संसाधन थी, प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुई। आर्थिक स्थिति में गिरावट आ जाने से शेष सभी संस्थाओं; जैसे— व्यापार एवं वाणिज्य, प्रशासनिक एवं राजनीतिक ढाँचा, नागरिक सुख-सुविधाओं आदि में धीरे-धीरे गिरावट आ गई।

फिर भी यह बता देना जरूरी होगा कि हड़प्पाई सभ्यता अचानक लुप्त नहीं हुई। पुरातात्त्विक साक्ष्य से पता चलता है कि पतन क्रमिक रूप से और धीरे-धीरे हुआ, जिससे अधःस्थिति को प्राप्त होने में लगभग 1900 से 1300 ई.पू. तक का 600 वर्षों का समय लग गया।

## उत्तर हड़प्पाई संस्कृतियाँ

जब एक बार हड़प्पाई सभ्यता का पतन शुरू हो गया तो इस सभ्यता के शहरी चरण की सभी विशेषताएँ एक-एक कर लुप्त होती चली गईं। नगर योजना, सड़कों का जाल (ग्रिड), मलजल निकासी की व्यवस्था, मानक माप-तौल की प्रणाली जैसी खूबियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो गईं और विशिष्ट प्रादेशिक रूपांतरों के साथ एक प्रकार की ग्रामीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। हड़प्पाई सभ्यता के संपूर्ण क्षेत्र को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (i) उत्तर भारतीय उत्तर-हड़प्पाई संस्कृति का क्षेत्र; जिसमें पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब के पाकिस्तानी हिस्से शामिल हैं; (ii) गुजरात तथा महाराष्ट्र; और (iii) बलूचिस्तान। ये संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की तत्कालीन ताम्रपाषाण संस्कृतियों के साथ परस्पर संपर्क एवं आदान-प्रदान करती रहीं।

इन तीनों क्षेत्रों में कुछ अवशिष्ट विशेषताएँ, जैसे— मृद्भांडों के कुछ रूप, कांस्य उपकरण, मनके और अन्य छोटी वस्तुएँ हड़प्पाई सभ्यता के साथ अपना संपर्क-संबंध दर्शाती हैं। यद्यपि हड़प्पाई सभ्यता 1300 ई.पू. के आसपास लुप्त हो चुकी थी, फिर भी इस सभ्यता में विकसित अनेक सांस्कृतिक विशेषताएँ हमारे दैनिक सांस्कृतिक और भौतिक जीवन में देखी जा सकती हैं; इस विषय पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे।

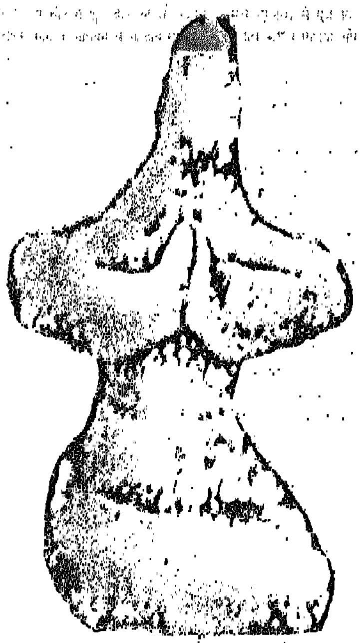
## अभ्यास

1. हड़प्पाई सभ्यता के विस्तार और उसकी बस्तियों के बारे में चर्चा करें। इसे हड़प्पाई सभ्यता क्यों कहा जाता है?
2. हड़प्पाई सभ्यता की नगर-योजना की विशेषताओं का वर्णन करें।
3. हड़प्पाई काल में शिल्प तथा उद्योग के क्षेत्र में हुए विकास का वर्णन करें।
4. हड़प्पाई सभ्यता के लोगों का समकालीन सभ्यताओं के साथ संपर्क के विषय में टिप्पणी लिखें।
5. हड़प्पाई लोगों की अर्थव्यवस्था की चर्चा करें।
6. हड़प्पाई काल के दौरान कला तथा स्थापत्य (वास्तु शिल्प) की स्थिति का वर्णन करें।
7. हड़प्पाई लोगों के धार्मिक विश्वासों का वर्णन करें। हड़प्पाई धर्म की ऐसी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करें जो आज भी मौजूद हैं।
8. हड़प्पाई सभ्यता के पतन के क्या-क्या कारण थे?

9. लघु टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) हड़प्पाई सभ्यता का कालानुक्रम
   (ii) उत्तर हड़प्पाई सभ्यता
   (iii) हड़प्पाई माप-तौल
   (iv) हड़प्पाई लिपि

**करने के लिए कार्य**

- भारत वर्ष के रेखा मानचित्र पर हड़प्पाई सभ्यता के विस्तार को दर्शाते हुए उसमें कुछ महत्वपूर्ण पुरास्थल दिखाएँ।
- मुद्राओं (मुहरों) के चित्र इकट्ठे करें और इन मुद्राओं के संकेतों और आकृतियों का चार्ट बनाएँ।



# अध्याय 9

# वैदिक सभ्यता

**वेद किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा रचित कोई धार्मिक कृति नहीं है और न ही वे किसी खास समय पर रची गई बहुत-सी पुस्तकों का संग्रह हैं अपितु वैदिक साहित्य कई शताब्दियों के दौरान विकसित हुआ है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से सौंपा जाता रहा है।**

**इससे** पहले कि हम वैदिक सभ्यता के विषय में चर्चा करें, यह अधिक उपयोगी होगा कि उसके स्रोत यानी वैदिक साहित्य पर कुछ विचार कर लें। सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत *वेद* हैं। वेद का अर्थ है "ज्ञान"। वेद किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित कोई धार्मिक कृति नहीं हैं और न ही वे किसी खास समय पर रची गई बहुत-सी पुस्तकों का संग्रह हैं अपितु वैदिक साहित्य कई शताब्दियों के दौरान विकसित हुआ है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से सौंपा जाता रहा है। ये साहित्यिक कृतियाँ उत्तरोत्तर तीन श्रेणियों में रची गई हैं। उनमें से अनेक रचनाएँ आज भी विद्यमान हैं, किंतु बहुत-सी रचनाएँ सदा-सर्वदा के लिए पूर्ण रूप से लुप्त हो चुकी हैं। इनकी तीन श्रेणियाँ हैं :

1. ***वेद :*** वेद सूक्तों, प्रार्थनाओं, स्तुतियों, मंत्र-तंत्रों और यज्ञ संबंधी सूत्रों के संग्रह हैं। वेद चार हैं, अर्थात् :
   - (i) ऋग्वेद *: यह सूक्तों का संग्रह है।*
   - (ii) *सामवेद :* यह गीतों का संग्रह है और इसके अधिकांश गीत ऋग्वेद से लिए गए हैं।
   - (iii) *यजुर्वेद :* यह यज्ञ संबंधी सूत्रों का संग्रह है।
   - (iv) *अथर्ववेद :* यह तंत्र-मंत्रों का संग्रह है।

   वेद वैदिक साहित्य के सबसे प्राचीन भाग हैं और चारों *वेदों* में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है।
2. ***ब्राह्मण ग्रंथ :*** ये गद्यबद्ध रचनाएँ हैं। इनमें वैदिक मंत्रों, सूक्तों का अर्थ स्पष्ट किया गया है, साथ ही उनके विनियोग और उत्पत्ति आदि की कथाएँ भी दी गई हैं। एक तरह से, इनमें कर्मकांड तथा दर्शन संबंधी जानकारी दी गई है।
3. ***आरण्यक और उपनिषद :*** इनमें से कुछ तो ब्राह्मण ग्रंथों में सम्मिलित या उनसे संबद्ध हैं और कुछ अन्य अलग कृतियों के रूप में विद्यमान हैं। इनमें आत्मा, ईश्वर, जगत आदि के विषय में मुनियों के दार्शनिक विचार संकलित हैं।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद चारों में से किसी-न-किसी वेद से संबद्ध हैं।

## वैदिक साहित्य का रचयिता?

वैसे तो प्रत्येक सूक्त एवं मंत्र का कोई-न-कोई ऋषि होता है, जो उस मंत्र का द्रष्टा होता है, लेकिन हिंदुओं ने सदा उनके दिव्य उद्गम पर बल दिया है। इसीलिए वेदों को *अपौरुषेय* (मनुष्य द्वारा रचित नहीं) और *नित्य* (शाश्वत) कहा जाता है। यह माना जाता है कि ऋषिगण तो अनुप्राणित मंत्र-द्रष्टा थे, जिन्होंने परमेश्वर से मंत्र प्राप्त किए थे।

## ऋग्वेद का काल

ऋग्वेद और संपूर्ण वैदिक साहित्य के काल-निर्धारण के विषय में लंबा और गहरा विवाद रहा है। सबसे पहले मैक्स मूलर ने वेदों का काल-निर्धारण करने का प्रयास किया। मैक्स मूलर ने बुद्ध के काल से पीछे की ओर चलते हुए वैदिक साहित्य की तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक को मनमाने ढंग से 200 वर्षों का समय दिया और यह निष्कर्ष निकाला कि ऋग्वेद की रचना *1200-1000* ई.पू. के आस-पास हुई होगी। जब डब्ल्यू.डी. ह्विटनी जैसे उसके समकालीन विद्वानों ने काल-निर्धारण के उसके मनमाने, अवैज्ञानिक और अशास्त्रीय तरीके की आलोचना करते हुए उसके निष्कर्ष पर अंगुली उठाई तो मैक्स मूलर ने स्वीकार किया कि वह तो ऐसे ही

अटकलबाजी कर रहा था और कहा कि "पृथ्वी पर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो यह निश्चित रूप से बता सके कि वैदिक मंत्रों की रचना 1000, 1500, 2000 अथवा 3000 ई.पू. हुई थी।" यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि एक सच्चे ईसाई की तरह मैक्स मूलर बाइबिल की सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी कथाओं में विश्वास करता था, जिनके अनुसार जगत की रचना 4004 ई.पू. में की गई थी। हमने अध्याय 5 में हिसाब लगाया था कि पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग 460 करोड़ वर्ष पहले और उस पर मनुष्य की उत्पत्ति लगभग 42 लाख वर्ष पहले हुई थी।

इसी प्रकार अवेस्ता की भाषा के सादृश्य को देखते हुए कुछ विद्वानों की राय यह है कि ऋग्वेद का समय 1000 ई.पू. माना जा सकता है। लेकिन 1400 ई.पू. के *बोगाज-कोई* (एशिया माइनर) के अभिलेख में कुछ वैदिक देवताओं अर्थात् इंद्र, वरुण, मित्र और दो नासत्यों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि ऋग्वेद उस समय से काफी पहले विद्यमान था। *बोगाज-कोई* के अभिलेख में हिट्टाइट और मितन्नी राजाओं के बीच हुई एक संधि को दर्ज किया गया है और उसमें इन देवताओं का साक्षी के रूप में उल्लेख है, ठीक वैसे ही जैसे आजकल भी किसी न्यायालय में बयान देते समय अथवा किसी सार्वजनिक पद (मंत्री आदि) को ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ ली जाती है।

बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिष की गणना के आधार पर ऋग्वेद का काल 6000 ई.पू. माना है। हरमॉन जैकोबी के अनुसार, वैदिक सभ्यता 4500 ई.पू. से 2500 ई.पू. तक फलती-फूलती रही थी और *संहिताओं* की रचना इस अवधि के उत्तरार्ध में हुई थी। सुप्रसिद्ध संस्कृतविद् विंटरनित्ज के अनुसार, ऋग्वेद की रचना संभवतः 3000 ई.पू. में की गई थी। आर.के. मुकर्जी ने अपनी राय व्यक्त करते हुए कहा है कि "साधारण से साधारण गणना करें तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ऋग्वेद का काल कम से कम 2500 ई.पू. तो था ही।" जी.सी. पांडे भी ऋग्वेद का काल 3000 ई.पू. या उससे भी पहले का मानते हैं।

**ऋग्वैदिक भूगोल** : ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों, पहाड़ों और प्रदेशों के नामों से हमें उस भौगोलिक क्षेत्र की स्पष्ट जानकारी मिलती है, जिसमें ऋग्वैदिक लोग, जो अपने आपको आर्य कहते थे, रहते थे। ऋग्वेद के *नदी सूक्त* में 21 नदियों का उल्लेख है, जिनमें पूर्व में गंगा और पश्चिम में कुभा (काबुल) नदी शामिल हैं। यमुना, सरस्वती, सतलज, रावी, झेलम और सिंधु जैसी सभी नदियाँ गंगा और काबुल के बीच बहती हुई बताई गई हैं और इन नदियों का उल्लेख मनमाने ढंग से नहीं बल्कि क्रमिक रूप से पूर्व में गंगा से लेकर पश्चिम में कुभा तक सही-सही किया गया है। ऋग्वेद के उल्लेखानुसार उत्तर में हिमालय और मूजवंत पर्वत श्रेणियाँ हैं। सिंधु तथा सरस्वती नदियों के संदर्भ में यह बताया गया है कि ये दोनों नदियाँ समुद्र में गिरती हैं। विदेश व्यापार के संदर्भ में भी समुद्र का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ऋग्वैदिक भूगोल में आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, संपूर्ण पाकिस्तान और दक्षिणी अफगानिस्तान का समावेश है।

**ऋग्वैदिक राज्यः** वैदिक लोगों को जिस राज्य क्षेत्र की जानकारी थी, वह कई राज्यों में विभक्त था। उनमें से कुछ राज्य गणतंत्रात्मक थे तो कुछ राजतंत्रात्मक। दाशराज्ञ युद्ध के संदर्भ में उन दस राजाओं के नाम दिए गए हैं, जिन्होंने राजा सुदास के

विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। सुदास त्रित्सु कुल का भरतवंशी राजा था, और उसके विरुद्ध लड़ने वाले दस राजा पुरू, यदु, तुर्वस, अणु, द्रुह्यु, अलिन, पख्त, भालन, शिबि और विशानिन् राज्यों के थे। यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के किनारे लड़ा गया था और उसमें सुदास की जीत हुई थी। सुदास के एक अन्य युद्ध के संदर्भ में, ऋग्वेद में अजिय, सिगरू, यक्षु आदि जनों एवं राजाओं का उल्लेख मिलता है। भरत कुल के लोग जिनके नाम पर संपूर्ण देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, ऋग्वैदिक काल में सबसे महत्त्वपूर्ण थे। वे सरस्वती और यमुना के बीच के प्रदेश पर बसे हुए थे। इसी प्रकार, ऋग्वेद में अन्य जनों के निवास-क्षेत्रों का भी उल्लेख है; जैसे— पुरु कुरुक्षेत्र प्रदेश में, त्रित्सु रावी के पूर्व में, अलिन, पख्त, भालन और शिबि सिंधु नदी के पश्चिम में काबुल नदी तक बसे हुए थे।

विभिन्न राजाओं तथा गणराज्य-प्रमुखों के बीच प्रभुसत्ता के लिए संघर्ष चलता रहता था, जो कि एक विशाल राजनीतिक सत्ता की स्थापना की ओर बढ़ती हुई विकास की प्रक्रिया का एक अंग था।

## राज्य-व्यवस्था और प्रशासन

ऋग्वैदिक भारत का राजनीतिक ढाँचा आरोही क्रम से इन पाँच भागों में बँटा था :

(i) कुल;
(ii) ग्राम;
(iii) विश्;
(iv) जन, और
(v) राष्ट्र।

इनमें *कुल* सबसे छोटी इकाई थी। इसमें एक घर में, एक छत के नीचे, रहने वाले सभी लोग शामिल थे। कई कुलों का समूह आज की तरह, *ग्राम* होता था और उसका मुखिया *ग्रामिणी* कहलाता था। उससे बड़ा समूह *विश्* था, जिसका प्रधान विशपति कहा जाता था। *जन* विश् से बड़ा होता था। जनों के संदर्भ में हमें *पंचजनाः* और यदु (*यद्वजनाः*) तथा भरत (*भरतजनाः*) लोगों का उल्लेख मिलता है। राजा को जनरक्षक भी कहा जाता था। कई जनों से मिलकर *राष्ट्र* यानी देश बनता था।

राजा का पद सामान्यतः आनुवंशिक होता था, लेकिन कहीं-कहीं चुने गए राजा का उल्लेख भी मिलता है। हमें ऐसे गण-प्रमुखों का भी उल्लेख मिलता है जो जन-सभा द्वारा लोकतंत्रात्मक पद्धति से चुने गए थे।

राष्ट्र आमतौर पर छोटे-छोटे राज्य होते थे, जिनका शासक राजन् (राजा) कहलाता था। लेकिन *सम्राट* शब्द के प्रयोग से यह पता चलता है कि कुछ राजा अधिक बड़े होते थे। उनके अधीन कई छोट-छोटे राज्य होते थे और उनका प्रभुत्व अन्य राजाओं की तुलना में अधिक होता था। राजा पुरोहित तथा अन्य पदाधिकारियों की सहायता से न्याय-प्रशासन चलाता था। राजा को उसकी सेवाओं के बदले *बलि* (राजस्व या भेंट) दी जाती थी। राजा को *बलि* अपनी प्रजा से तथा विजित जनों से भी प्राप्त होती थी। मुख्य अपराध थे : चोरी, सेंधमारी, लूट-खसोट, पशु उठा ले जाना आदि। इन अपराधों के लिए प्रशासन द्वारा कठोर दंड दिया जाता था।

राजा के पदाधिकारियों में मुख्य थे : पुरोहित, जो पौरोहित्य कर्म के अलावा मंत्री का कार्य भी करता था, सेनानी (सेना का प्रधान) और ग्रामिणी

(गाँव का मुखिया)। हम दूतों और गुप्तचरों (स्पश) का भी उल्लेख पाते हैं, और भी अनेक राज-कर्मचारी रहे होंगे, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं मिलता।

ऋग्वेद में प्रमुख रूप से दो निकायों को अधिक महत्त्व दिया गया है, जिन्हें *सभा* और *समिति* कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सभा और समिति शासन के प्रमुख अंग थे। हमें उन दोनों की संरचना तथा उनके पारस्परिक अंतर के विषय में निश्चित रूप से कोई जानकारी नहीं मिलती। अधिक संभावना इसी बात की है कि समिति मुख्य रूप से नीति विषयक निर्णय लेती थी और राजनीतिक कार्य-व्यापार निपटाती थी और आम लोग इसके सदस्य होते थे, जबकि सभा का स्वरूप राजनीतिक कम होता था और उसके सदस्य कुछ चुने हुए वृद्ध अथवा कुलीन जन होते थे।

इन दो परिषदों के माध्यम से राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण मामलों में जनता की राय ली जाती थी।

**समाज** : ऋग्वैदिक समाज चार वर्णों में विभक्त था। ये वर्ण थे : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। समाज का यह वर्गीकरण व्यक्तियों के व्यवसाय यानी काम पर आधारित था। अध्यापकों और पुरोहितों को ब्राह्मण; शासकों तथा प्रशासकों को क्षत्रिय; कृषकों, वणिकों और साहूकारों को वैश्य; और शिल्पियों, कारीगरों तथा श्रमिकों को शूद्र कहा जाता था। लोगों द्वारा ये व्यवसाय अपनी योग्यता तथा पसंद के अनुसार अपनाए जाते थे, न कि जन्म या आनुवंशिक रूप से, जैसे कि आगे चलकर अपनाए जाने लगे थे। एक ही परिवार के लोग इच्छानुसार अलग-अलग पेशा या व्यवसाय अपनाते थे और अलग-अलग वर्णों के सदस्य बन जाते थे, जैसा कि ऋग्वेद के एक सूक्त (ix . 112) से प्रकट होता है। इस सूक्त में एक व्यक्ति कहता है :

*मैं कवि/गायक हूँ;*
*मेरे पिता वैद्य हैं;*
*मेरी माता चक्की चलाने वाली है;*
*भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते*
*हुए हम एक साथ रहते हैं;*
*जैसे पशु (अपने बाड़े में) रहते हैं।*

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यवसाय अपनाने के मामले में तब पूरी स्वतंत्रता थी और एक ही कुल या परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपना लेते थे या अपनी इच्छानुसार बदल लेते थे। तत्कालीन समाज में वंश परंपरा के अनुसार कोई व्यवसाय या पेशा अपनाने का बंधन नहीं था।

परिवार समाज की इकाई होती थी। समाज प्रमुख रूप से *पितृसत्तात्मक* होता था और एक विवाह प्रथा प्रचलित थी। बालविवाह की परिपाटी नहीं थी। विवाह के लिए वरण की स्वतंत्रता का भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। विधवा अपने मृतक पति के छोटे भाई (देवर) से विवाह कर सकती थी। सभी धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में पत्नी पति की भागीदार बनती थी। पिता की संपत्ति उत्तराधिकार में पुत्र को प्राप्त होती थी। यह संपत्ति बेटी को तभी मिलती थी, यदि वह अपने माता-पिता की एकमात्र संतान होती थी। संपत्ति का अधिकार पशुधन, घोड़े, स्वर्ण और आभूषण जैसी चल वस्तुओं और भूमि तथा मकान जैसी अचल संपत्ति पर माना जाता था।

**शिक्षा** : गुरु का घर ही विद्यालय होता था, जहाँ वह अपने शिष्यों को कुछ विशेष पवित्र पाठ पढ़ाता था। शिष्यों द्वारा पाठ बार-बार बोलकर कंठस्थ किया जाता था। मौखिक पठन-पाठन एवं उच्चारण को

विशेष महत्त्व दिया जाता था। शिष्यों को मौखिक परंपरा में स्मरण तथा विशुद्ध उच्चारण पर अत्यंत बल दिया जाता था। इसी शिक्षण-प्रशिक्षण की मौखिक परंपरा के बल पर ही इतना विशाल वैदिक साहित्य सुरक्षित रखा जा सका।

**खाद्य एवं पेय :** दूध और उससे बने पदार्थ— दही, मक्खन, घी आदि आहार के मुख्य भाग थे। दूध में पके हुए अन्न (क्षीर-पाकमोदनम्) का भी उल्लेख मिलता है। गेहूँ और जौ की रोटी (चपाती) घी से चुपड़कर या घी में मिलाकर खाई जाती थी। मछली, पक्षी और वन्य-जंतु; जैसे सूअर, हिरन, गौर आदि भी खाए जाते थे। इसके अलावा यज्ञ में बलिदान किए गए पशुओं; जैसे— भेड़-बकरी, गौर आदि का मांस भी खाया जाता था। गाय को तो पहले ही *अघ्न्या*— न मारे जाने योग्य पशु की श्रेणी में रखा जा चुका था। गाय की हत्या करने वाले या उसे घायल करने वाले के लिए वेदों में मृत्युदंड अथवा देश निकाले की व्यवस्था दी गई है। *सुरा* और *सोम* जैसे मद्यपेय पिए जाते थे, हालांकि मद्यपान की निंदा की गई है क्योंकि उनके नशे में लोग कभी-कभी सभा में झगड़ पड़ते थे।

**आर्थिक जीवन :** ऋग्वैदिक काल में आर्थिक जन-जीवन कृषि, पशुपालन और वाणिज्य एवं व्यापार पर निर्भर था। हल जोतने और गाड़ी खींचने में बैलों का उपयोग किया जाता था और रथ खींचने में घोड़े इस्तेमाल किए जाते थे। अन्य घरेलू पशु थे : गायें, भेड़-बकरियाँ, गधे, कुत्ते, भैंसे आदि।

ऋग्वेद खेती को बहुत अधिक महत्त्व देता है। हल में कभी-कभी, एक साथ छः, आठ या बारह बैल भी जोते जाते थे। फसल को हँसिए या दराँती से काटा जाता था। खाद का भी प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के कई प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि सिंचाई की प्रथा भी थी; अतिवृष्टि और सूखे से फसल को हानि पहुँचने का भी उल्लेख है। खाद्यान्नों को सामूहिक रूप से *यव* और *धान्य* कहा जाता था। वैदिक साहित्य के परवर्ती ग्रंथों में दस प्रकार के अन्न उगाए जाने का उल्लेख है।

अन्य व्यवसायों में मिट्टी के बर्तन बनाना, बुनाई, बढ़ईगीरी, धातु का काम, चमड़े का काम आदि उल्लेखनीय हैं। ऋग्वैदिक काल में केवल ताँबे का ही इस्तेमाल होता था, जिसके लिए *अयस्* शब्द का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है। बाद में जब लोहे का भी इस्तेमाल किया जाने लगा, तब ताँबे को *लोहित अयस्* और लोहे को *श्याम अयस्* कहा जाने लगा।

ऋग्वैदिक काल में वाणिज्य-व्यापार होता था और व्यापारियों को *वणिक्* कहा जाता था। लेन-देन में वस्तु-विनिमय की प्रणाली प्रचलित थी। एक ऐसा प्रसंग आया है जहाँ इंद्र की प्रतिमा की कीमत दस गायें बताई गई हैं। 100 निष्क के दान के उल्लेख में मुद्रा की संकल्पना भी खोजी जा सकती है। साहूकारी यानी ब्याज पर धन उधार देने की प्रणाली भी प्रचलित थी। एक ऐसा प्रसंग आया है जहाँ ब्याज के रूप में मूलधन का आठवाँ या सोलहवाँ भाग चुकाने का उल्लेख मिलता है। व्यापार के संदर्भ में समुद्र का और समुद्र से निकलने वाले मोतियों, मूंगों, कौड़ियों आदि का उल्लेख है।

**धर्म और दर्शन :** ऋग्वैदिक काल में साधारणतया प्राकृतिक शक्तियों की ही विभिन्न देवताओं के रूप में पूजा की जाती थी। वैदिक देवताओं को स्थान के अनुसार इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा

सकता है। पृथिवी-स्थानीय देवगण, अंतरिक्ष-स्थानीय देवगण और द्यु-स्थानीय देवगण। पृथिवी, अग्नि, सोम, बृहस्पति और नदियाँ प्रथम श्रेणी में आती हैं; इंद्र, अपाम्-नपात, रुद्र, वायु-वात, पर्जन्य और आपः द्वितीय श्रेणी के देवगण हैं; और द्यौस् वरुण, मित्र, सूर्य, सावित्री, पूषन्, विष्णु, आदित्य, उषस् और अश्विन् तृतीय श्रेणी में आते हैं। इंद्र और वरुण को इन देवगणों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, वे बाकी सबसे बड़े माने गए हैं। अग्नि और सोम भी लोकप्रिय देव हैं। अग्नि को पृथ्वी और स्वर्ग के बीच संदेशवाहक के रूप में आदर दिया जाता है। इसके अलावा, अग्नि ही ऐसा देवता है जो देवताओं की तीनों श्रेणियों में विद्यमान माना जाता है।

देवताओं की उत्पत्ति तो मानी गई है, फिर भी वे अमर हैं, अर्थात् उनकी मृत्यु नहीं होती। उनका रूप मनुष्य जैसा होता है, हालांकि कुछ देवताओं को पशुरूप में भी माना जाता है; जैसे— द्यौस् को वृषभ के रूप में और सूर्य को तेज घोड़े के रूप में। मनुष्य का भोजन; जैसे दूध, अन्न, मांस आदि उस समय देवताओं का भोजन बन जाता है, जब उसे यज्ञ में उन्हें भेंट चढ़ा दिया जाता है। कुल मिलाकर, देवता हितकारी या उपकारी ही होते हैं, लेकिन कुछ देवताओं; जैसे— रुद्र और मरुत में अपकारी या अहितकारी प्रवृत्ति भी होती है। तेज, बल, ज्ञान, स्वत्व और सत्य आदि देवताओं के सामान्य गुण माने गए हैं।

सुख-समृद्धि एवं भौतिक लाभों के लिए और सद्बुद्धि प्रज्ञा तथा ज्ञान के लिए भी देवताओं की पूजा की जाती थी और उन्हें भेंट चढ़ाई जाती थी। उदाहरण के लिए, सबसे अधिक लोकप्रिय और सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र आज भी धर्मप्रेमी हिंदुओं द्वारा दैनिक प्रार्थना में बोला जाता है।

धर्म के कर्मकांडीय पक्ष के अलावा, दर्शन के गूढ़ तत्त्व भी वेदों में पाए जाते हैं। देवताओं की बहुलता पर खुलकर प्रश्न उठाया गया है और विश्व की परम एकता पर बल दिया गया है, जो एक परमेश्वर द्वारा रची गई सृष्टि है। भले ही उस परमेश्वर को भिन्न-भिन्न रूपों में पूजा जाता हो। यह संपूर्ण सृष्टि विराट् पुरुष द्वारा संपन्न किए गए यज्ञ से उत्पन्न मानी गई है। यह भी कहा गया है कि जल के रूप में अभिव्यक्त असत् (अभाव) से सृष्टि का विकास हुआ है। यह भी उल्लेख है कि अप्रकेत एवं सर्वव्यापी जल से हिरण्यगर्भ निकला और जल में लहरें उत्पन्न हुईं, फिर जीव-जगत की उत्पत्ति हुई। विश्वकर्मा को समर्पित यह *सूक्त* हमें यह बताता है कि आद्य जीवाणु-हिरण्यगर्भ जल से ही उत्पन्न हुआ और उस हिरण्यगर्भ से विश्वकर्मा का उद्भव हुआ जो (उस परब्रह्म परमात्मा की) प्रथम कृति है और वह ही इस जगत का कर्ता-धर्ता है। अब विज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि कर दी है कि जीवन का विकास सर्वप्रथम जल में हुआ। ऋग्वेद के एक *सूक्त* में स्पष्ट रूप से कहा गया है : "सत् एक है (*एकम् सत्*), जिसका वर्णन ऋषिगण (*विप्राः*) अलग-अलग रूपों में करते हैं, कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम अथवा मातरिश्वन्।"

## आर्यों के आक्रमण का प्रश्न

इटली के फ्लोरेन्स नगर का एक सौदागर फिलिप्पो सस्सेत्ती गोवा में पाँच वर्ष यानी सन् 1583 से 1588 ई. तक रहा। उसने यहाँ संस्कृत का अध्ययन किया और पाया कि संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं, विशेषतः लैटिन और ग्रीक, में बहुत-सी समानताएँ हैं। बाद में सर विलियम जोन्स और ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में रत अन्य अनेक विद्वानों ने इस बात को और

आगे प्रतिपादित किया। यूरोपीय और भारतीय भाषाओं में पाई जाने वाली समानताओं का कारण बताने के लिए कुछ विद्वानों ने यह मान लिया कि भारतीयों और यूरोपवासियों के पूर्वज किसी समय एक ही प्रदेश में साथ-साथ रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे। उन्होंने इस भाषा को भारोपीय (हिंद-यूरोपीय) भाषा का नाम दिया और उनके साझे प्रदेश को भारोपीय मूल निवास-स्थान कहा। विद्वान लोग इन सभी भाषायी तर्कों या प्रस्थापनाओं से पूरी तरह सहमत नहीं हैं। फिर भी आर्यों के मूल निवास-स्थान की समस्या अब भी एक विवाद का विषय बना हुआ है और इस पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने आर्यों का मूल निवास भिन्न-भिन्न स्थानों पर माना है; जैसे— मध्य एशिया के घास के मैदान (स्टेपी प्रदेश), दक्षिणी रूस, दक्षिणी यूरोप, जर्मनी, चीनी तुर्किस्तान अथवा भू-मध्यसागरीय; क्षेत्र जैसे — फिलिस्तीन और इजराइल भी, जहाँ भारत को छोड़कर लगभग सर्वत्र वैदिक भाषा और साहित्य की सबसे लंबी अवधि तक पूर्ण अभिव्यक्ति होती रही है। विभिन्न क्षेत्रों; जैसे— भारत, यूरेशिया, पश्चिमी एशिया और यूरोप में आर्यों के आगमन के बारे में भी विद्वानों का अलग-अलग मत है। कुछ लोगों की राय है कि आर्य लोग नवपाषाणयुगीन सभ्यता के साथ-साथ (लगभग 9,000 वर्ष पहले) फैले, जबकि कुछ अन्य विद्वान उनके स्थानांतरण एवं फैलाव को कांस्य युग की सभ्यता के प्रसार के साथ जोड़ते हैं।

आर्यों के प्राचीनतम उपलब्ध अभिलेख ऋग्वेद के रूप में पाए जाते हैं। ऋग्वेद कहीं भी यह लेशमात्र संकेत नहीं देता कि आर्य कहीं बाहर से आकर बसे थे। उसमें ऐसे प्रव्रजन या स्थानांतरण की हलकी-सी याद का भी जिक्र नहीं मिलता। ऋग्वेद में प्राचीन भारत की ज्ञात सीमाओं से परे के भूगोल की भी कोई जानकारी नहीं दी गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य लोग 1500 ई.पू. के आस-पास भारत में आए थे। मैक्स मूलर के विचार से तो इस घटना का समय 1200 या 1000 ई.पू. भी माना जा सकता है। मैक्स मूलर के इस काल-निर्धारण का कारण यह था; वह एक सच्चा ईसाई था और इसलिए सृष्टि की रचना के बारे में बाइबिल में दी गई कहानी में अटल विश्वास रखता था, जिसमें कहा गया है कि संसार की रचना 23 अक्तूबर 4004 ई.पू. को की गई थी और इसलिए संपूर्ण मानव इतिहास को उसे 6,000 वर्षों के भीतर किसी-न-किसी तरह फिट बैठाना था।

बहुत-से विद्वानों का मत है कि आर्य लोग मूल रूप से भारत के ही निवासी थे और वे कहीं बाहर से यहाँ नहीं आए थे। इन विद्वानों ने अपने मत के समर्थन में यह तर्क दिया है कि ऐसा पुरातात्त्विक या जीव-वैज्ञानिक साक्ष्य (प्रमाण) नहीं है, जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि 5000 ई. पू. से 800 ई.पू. के बीच कोई नया जन-समुदाय यहाँ आया था। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि आर्य लोग अथवा और भी किसी जाति-समुदाय के लोग भारत में आकर बसे तो उनका आगमन कम-से-कम आठ-नौ हजार वर्ष पहले अथवा 800 ई.पू. के बाद हुआ होगा, लेकिन इन दोनों समय-सीमाओं के बारे में भी कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि नर कंकालों के जो अवशेष विभिन्न हड़प्पाई स्थलों से प्राप्त हुए हैं, वे उसी भौगोलिक क्षेत्र के आधुनिक निवासियों के कंकालों से मिलते-जुलते हैं।

## हड़प्पाई सभ्यता और ऋग्वेद

जब से हड़प्पा की सभ्यता की खोज हुई है, अनेक विद्वानों ने एक ओर उसे भारत की लंबी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा से और दूसरी ओर आर्यों से जोड़ने का प्रयास किया है। इसकी खोज के प्रथम दशक में ही कुछ इतिहासकारों तथा पुरातत्वविदों ने सोचा था कि हड़प्पा की सभ्यता वैदिक सभ्यता का ही प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन इस सिद्धांत का विरोध करने वालों का मुख्य तर्क यह था कि इस संबंध में पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। पिछले 50 वर्षों में किए गए अनुसंधानों से कुछ नए साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं और उससे स्थिति काफी बदल गई है।

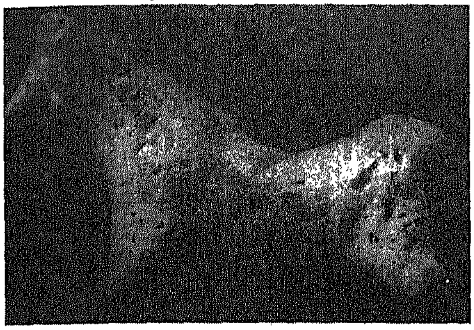
यदि हम ऋग्वेद के साक्ष्य का आलोचनात्मक अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि इसमें जिन लोगों तथा उनकी सभ्यता के संदर्भ मिलते हैं, वे हड़प्पा की सभ्यता के संदर्भ माने जा सकते हैं। ईसापूर्व चौदहवीं शताब्दी के *बोगाज-कोई* के अभिलेख में ऋग्वैदिक देवताओं का जो उल्लेख मिलता है, उससे पता चलता है कि ऋग्वेद पहले से ही विद्यमान था और उस प्राचीन काल में संस्कृति भारत से एशिया माइनर में फैली थी। जैसा कि इससे पहले इसी अध्याय में स्पष्ट किया गया है, अपने अंतिम रूप में ऋग्वेद का काल लगभग 3000 ई.पू. से बाद का नहीं माना जाना चाहिए। अगले पृष्ठों में हम ऋग्वैदिक और हड़प्पाई सभ्यताओं की समानताओं और उनके बीच पाए गए अंतरों के बारे में चर्चा करेंगे।

हड़प्पाई स्थलों के भौगोलिक वितरण को ऋग्वैदिक भूगोल के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। जैसा कि हम पहले अनुभाग में देख चुके हैं, ऋग्वैदिक भूगोल उत्तर में अफगानिस्तान से दक्षिण में गुजरात तक और पूर्व में गंगा से पश्चिम में कुभा (कावुल), पाकिस्तान तक फैला हुआ था। ऋग्वेद में उल्लिखित सभी नदियों में सरस्वती सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा पवित्र मानी जाती थी और सरस्वती एवं उसकी सहायक नदियों के आस-पास का क्षेत्र प्रमुख सांस्कृतिक क्षेत्र था। जैसा कि हमने पहले देखा है, हड़प्पा संस्कृति का मुख्य क्षेत्र सरस्वती की घाटी है, जहाँ 80 प्रतिशत से अधिक हड़प्पाई बस्तियाँ बसी हुई थीं। इस प्रकार, ऋग्वैदिक और हड़प्पाई भूगोल एक ही हैं।

ऋग्वेद में सैकड़ों नगरों, कस्बों और ऐसे दुर्गों का उल्लेख है जो लंबे (पृथिवी) और चौड़े (उर्वी) हैं, गायों से भरे (गोमती), 100 खंभों वाले (शतभुजी) तथा पत्थरों से बने हुए (अश्ममयी) हैं। उसमें *शारदी* किलों का भी उल्लेख है जो बाढ़ के समय शरण देते थे। इंद्र को *पुरंदर* यानी नगरों का स्वामी कहा गया है। ऋग्वेद में व्यापार और वाणिज्य से जुड़े लोगों का उल्लेख है, जिन्हें वहाँ *वणिक्* और *पणि* कहा गया है, और समुद्र से आने वाले तुर्वस और यदु जैसे वैदिक लोगों की भी चर्चा है।

सिंधु सभ्यता के लोगों को जो पशु ज्ञात थे उनमें से अधिकांश पशुओं; जैसे— भेड़, कुत्ता, महिष, वृषभ आदि से ऋग्वैदिक लोग भी परिचित थे। ऋग्वैदिक लोगों के लिए शिकार के जानवर थे : हिरन, सूअर, गौर, शेर और हाथी; सिंधु सभ्यता के लोग भी इनमें से अधिकांश से परिचित थे। वैदिक काल में घोड़ा एक महत्वपूर्ण जानवर था। कुछ हड़प्पाई स्थलों पर भी घोड़े की हड्डियाँ और उसकी मिट्टी से बनी मूर्तियाँ पाई गई हैं।

हड़प्पा के लोगों में जो धार्मिक रीति-रिवाज प्रचलित थे, उनमें से कुछ आज भी हिंदुओं में पाए



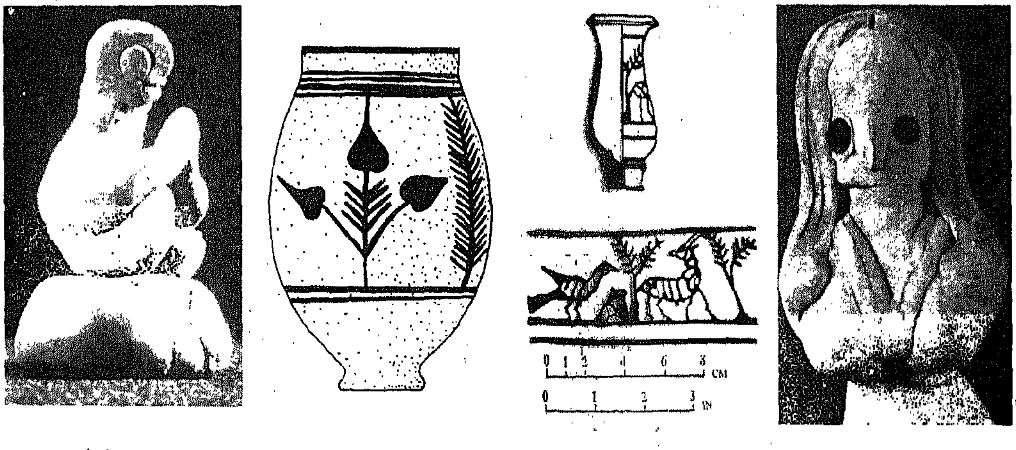
*आकृति 9.1 लोथल से प्राप्त मिट्टी से बनी घोड़े की मूर्ति*

जाते हैं। पीपल के पेड़, साँड (नंदि), शिवलिंग की पूजा किए जाने के प्रमाण हड़प्पाई सभ्यता में पाए गए हैं। *कमंडलु* भी जिसे आजकल साधु-संन्यासी लोग पवित्र पात्र के रूप में अपने पास रखते हैं, हड़प्पा की सभ्यता में पाया गया है। बहुत-सी छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी योगासन की भिन्न-भिन्न मुद्राओं में पाई गई हैं। नौशारो स्थान पर स्त्रियों की कुछ मिट्टी की ऐसी मूर्तियाँ पाई गई हैं, जिनकी मांग में अब भी सिंदूर भरा हुआ है। मांग में सिंदूर भरना विवाहित हिंदू स्त्रियों के लिए सुहाग का प्रतीक है। हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी की पट्टी पर एक महिष यज्ञ का दृश्य चित्रित है, जो हमें महिषासुर-मर्दिनी की याद दिलाता है।

*चालाक लोमड़ी* और *प्यासे कौए* की कहानियाँ हड़प्पा के कलशों पर चित्रित पाई गई हैं। हिंदुओं का पवित्र चिह्न स्वस्तिक मुद्राओं और चित्रकारियों में पाया गया है। हवन-कुंडों के रूप में काम में ली जाने वाली अग्नि-वेदिकाएँ भी हड़प्पा की सभ्यता का अभिन्न अंग हैं।

जहाँ तक धातुओं का संबंध है, ऋग्वेद में सोने (हिरण्य) के आभूषणों का उल्लेख है। उस समय कानों में बालियाँ, हाथों में कंगन, पैरों में पायल, गले में हार, मालाएँ और अन्य आभूषण पहनने का रिवाज था। हमने देखा है कि इनमें से अधिकांश आभूषण हड़प्पा के लोगों द्वारा भी पहने जाते थे।

सोने के अलावा ऋग्वेद में एक अन्य धातु *अयस्* का भी उल्लेख है, जिससे पात्र बनाए जाते थे।



(क) (ख) (ग) (घ)

***आकृति 9.2*** *(क) नमस्कार मुद्रा में मिट्टी की एक लघु मूर्ति, (ख) पीपल का पेड़, (ग) प्यासे कौए की कहानी को चित्रित करने वाली चित्रकारी, (घ) एक स्त्री की मिट्टी की लघु मूर्ति, जिसकी मांग में सिंदूर भरा हुआ दिखाया गया है*



*आकृति 9.3 कालिबंगन की खुदाई में एक पंक्ति में मिले सात हवन-कुंड*

ऋग्वेद में *अयस्* का प्रयोग सामान्य रूप से धातुओं के लिए किया गया है, लेकिन अथर्ववेद में हमें *लोहित अयस्* और *श्याम अयस्* का उल्लेख मिलता है। इनमें से लोहित अयस् ताँबे को और श्याम अयस् लोहे को कहा जाता था। विद्वान लोग इस बारे में एकमत हैं कि ऋग्वैदिक काल में केवल ताँबे की ही जानकारी थी इसलिए वहाँ अयस् का प्रयोग ताँबे के लिए हुआ है। ऋग्वेद में पत्थर के औजारों; जैसे— गोफन, गुलेल आदि का भी उल्लेख है।

पुरुषों तथा स्त्रियों द्वारा किए जाने वाले केशोपचार का भी ऋग्वेद में उल्लेख है। हड़प्पा के लोगों में भी लगभग वैसा ही रिवाज था। ऋग्वैदिक काल में बालों में तेल लगाया जाता था और उन्हें कंघी से संवारा जाता था। ऋग्वेद में एक ऐसी कुमारी का उल्लेख है, जो अपने बालों की चार वेणियाँ बनाती थी। पुरुष भी कुंडलियाँ बनाकर अपने बालों को सजाते थे और दाढ़ी रखते थे। ऐसी ही केश सज्जा हड़प्पाई सभ्यता की मिट्टी की मूरतों (लघु मूर्तियों) में देखने को मिलती हैं।

ऋग्वेद में बुनकर और कपड़ा बुनने के लिए उसके करघे, ढरकी और ताने-बाने का उल्लेख है। कुछ हड़प्पाई स्थलों पर भी कपड़े के अवशेष मिले हैं और वहाँ पाई गई कुछ लघु मूर्तियाँ कपड़ा पहने हुए दिखाई गई है।

ऋग्वैदिक सभ्यता और हड़प्पाई सभ्यता में पाई गई उपर्युक्त तथा अन्य अनेक समानताओं के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हड़प्पाई सभ्यता और वैदिक सभ्यता एक ही हैं और आर्य लोग भारत में बाहर से नहीं आए थे। तथापि कुछ अन्य विद्वान वैदिक संस्कृति को हड़प्पाई सभ्यता से अलग मानते हैं।

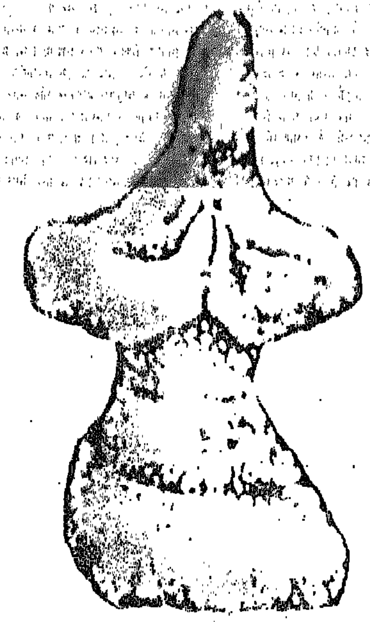
सुप्रसिद्ध मानवविज्ञानी और कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एडमंड लीच ने आर्यों के आक्रमण के सिद्धांत के संपूर्ण प्रश्न पर भलीभाँति विचार करके अत्यंत उपयुक्त ढंग से अपना निष्कर्ष निकाला है। सन् 1990 में *कल्चर थ्रू टाइम : एंथ्रोपोलॉजिकल ऐप्रोचिज़* नामक पुस्तक में प्रकाशित

अपने प्रसिद्ध लेख *आर्यन इनवेसंज़ ओवर फोर मिलेनिया* में प्रो. लीच ने लिखा है :

"विचारशील विद्वान अब भी यह विश्वास क्यों करते हैं कि आर्यों का आक्रमण हुआ था? (...) इस प्रकार की कल्पना अब भी आकर्षक क्यों है? इसे कौन आकर्षक पाता है? प्रारंभिक संस्कृत के विकास को आर्यों के आक्रमण के साथ जोड़ने की हठधर्मी क्यों बरती जा रही है? (...) इस सिद्धांत के ब्योरे तो नस्लवाद की चौखट में ही फिट बैठते हैं। (...) ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी मिथक ने भारतीय सिविल सेवा के प्रबुद्ध प्रशासकों को स्वयं यह बता दिया कि वे एक ऐसे देश में *विशुद्ध* सभ्यता ला रहे हैं, जहाँ अत्यंत परिष्कृत कोटि की सभ्यता लगभग 6,000 वर्ष पहले से ही विद्यमान थी। यहाँ मैं यह बता देना चाहूँगा कि ब्रिटेन के मध्यम वर्ग की कल्पना इस मिथक से इतनी अधिक अभिभूत है कि आज जबकि हिटलर को मरे 44 वर्ष बीत चुके हैं और दो स्वतंत्र देशों के रूप में भारत तथा पाकिस्तान का उदय हुए 43 साल गुजर चुके हैं, ईसा से दो सहस्राब्दी पूर्व हुए आर्यों के तथाकथित आक्रमणों को अब भी प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में माना जा रहा है (...) सच मानिए, आर्यों के आक्रमण तो कभी हुए ही नहीं।"

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद, ग्रामिणी, बलि, सभा, समिति, हिरण्यगर्भ, कुल, राष्ट्र।
2. वैदिक साहित्य का वर्णन करें।
3. नदियों और पहाड़ों के संदर्भ में ऋग्वैदिक भूगोल का वर्णन करें।
4. ऋग्वैदिक राज्यों और उनके राजनीतिक ढाँचे का वर्णन करें।
5. ऋग्वैदिक समाज और अर्थव्यवस्था की चर्चा करें।
6. ऋग्वैदिक काल के धर्म तथा दर्शन की चर्चा करें।
7. हड़प्पाई और ऋग्वैदिक संस्कृतियों की पारस्परिक समानताओं को दर्शाने वाले साक्ष्य की चर्चा करें।
8. आर्यों के स्थानांतरण के प्रश्न और ऋग्वेद के काल पर चर्चा करें।



# अध्याय 10

# उत्तर वैदिक काल

## चार वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों का विकास हुआ

**हम** पहले देख चुके हैं कि वैदिक साहित्य की भिन्न-भिन्न शाखाएँ एक-दूसरे से किस प्रकार विकसित हुई थीं। चार *वेदों* के बाद ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों का विकास हुआ। *ब्राह्मण* गद्य रूप में आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञों एवं अनुष्ठानों और उनके उद्भव का ब्योरा दिया गया है। *आरण्यक* ब्राह्मण ग्रंथों के अंतिम भाग हैं और उन्हें आरण्यक इसलिए कहा गया है, क्योंकि उनकी विषयवस्तु के दार्शनिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप को देखते हुए उनका अध्ययन एकांत में अरण्य यानी वनों के शांत वातावरण में किया जाना चाहिए। आरण्यकों की दार्शनिक परंपरा की परिणति उपनिषदों में होती है जो वैदिक साहित्य का अंतिम चरण है। ऋग्वेद की विषयवस्तु कर्मकांडीय और दार्शनिक दोनों प्रकार की है। ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मकांडीय पक्ष का और उपनिषदों में दार्शनिक पक्ष का विशद विवेचन किया गया है। उपनिषद यज्ञों द्वारा धन-धान्य एवं समृद्धि प्राप्त करने में विश्वास नहीं रखते, बल्कि वे ऐसा ज्ञान प्राप्त करने पर बल देते हैं, जिसके माध्यम से आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाए और संसार के आवागमन के चक्र से मुक्ति मिल जाए। दो सबसे प्राचीन एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपनिषद हैं : *छांदोग्य* और *बृहदारण्यक*। अन्य महत्त्वपूर्ण उपनिषदों में *कठ, ईश, मुंडक, प्रश्न* आदि को शामिल किया जाता है।

**भूगोल और नए राजनीतिक राज्य :** हम पहले पढ़ चुके हैं कि ऋग्वैदिक लोगों का मुख्य आवास सिंधु तथा सरस्वती नदियों का घाटी-प्रदेश था। परवर्ती *संहिताओं* तथा ब्राह्मण ग्रंथों के काल में वे वस्तुतः संपूर्ण उत्तर भारत में फैल चुके थे। अब सभ्यता सरस्वती क्षेत्र से स्थानांतरित होकर गंगा के क्षेत्र में फैल चुकी थी, जिसे अब भारत की सबसे पवित्र तथा पूज्य नदी माना जाता है। इस प्रगति के साथ-साथ एक उल्लेखनीय विकास यह भी हुआ कि *विश* का शनैः शनैः विस्तार होता गया और उसकी स्थिति सुदृढ़ होती गई। ऋग्वैदिक काल के प्रसिद्ध जन; जैसे— भरत, पुरू, त्रित्सु और तुर्वस अब धीरे-धीरे अन्य *जनों* में विलीन होकर राजनीतिक मंच से लुप्त होते जा रहे थे। इस प्रकार कुछ राज्यों की स्थिति मजबूत हो रही थी और उनके क्षेत्र का विस्तार हो रहा था। ऋग्वैदिक काल में कुछ जन जो अपेक्षाकृत छोटी श्रेणी के थे; जैसे— पुरू, पहले से अधिक शक्तिशाली बन गए और अधिक प्रभावशाली भूमिका अदा करने लगे। अब हम अनु, द्रुह्यु, तुर्वस, क्रिवि आदि जनों के बारे में नहीं सुनते। इनके अलावा, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के क्षेत्रों में कुछ अन्य राज्य भी विकसित हो गए; जैसे— काशी, कोसल, विदेह, मगध और अंग, किंतु दक्षिण भारत के क्षेत्रों के बारे में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है। अब राजनीतिक जीवन अधिक सुस्पष्ट हो चला था और भिन्न-भिन्न राज्यों के बीच प्रभुत्व पाने के लिए संघर्ष एक आम घटना हो गई थी। एकछत्र साम्राज्य का आदर्श भी अब हावी होने लगा था।

लोगों का पूर्व की ओर विस्तार *शतपथ* ब्राह्मण की एक कथा से प्रकट होता है। उसमें बताया गया है कि विदेह माधव किस प्रकार सरस्वती प्रदेश जो कि वैदिक संस्कृति का गढ़ था, से कोसल की पूर्वी सीमा, सदानीरा (आधुनिक गंडक नदी) को पार करते हुए विदेह के राज्य (आधुनिक तिरहुत) में पहुँचा था। ग्रंथों से पता चलता है कि कोसल, काशी और विदेह नामक तीन राज्यों का विकास हो चुका था। ध्यान रहे कि सन् 1950 तक हमें ऐसा कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य

उपलब्ध नहीं था, जिसके आधार पर हम गंगा की घाटी की संस्कृतियों को छठी शताब्दी ई.पू. से पहले ले जा सकें। उसके बाद हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा और कई अन्य स्थलों पर हुई खुदाई से ऐसे तथ्य सामने आए हैं, जिनसे 2000 ई.पू. से बाद की संस्कृतियों की जानकारी मिली है। हाल में सोनभद्र जिले में राजा नल के टीले और अन्य स्थलों पर हुई खुदाई से पता चला है कि उसके निकटवर्ती क्षेत्र प्राचीन काशी और आज के वाराणसी जिले में लोहे का इस्तेमाल 1500 ई.पू. में होता था। उत्तर-हड़प्पा-काल के कुछ विशिष्ट मृद्‌भांड हैं : गैरिक मृद्‌भांड (2000-1500 ई.पू.), काले और लाल मृद्‌भांड, चित्रित धूसर मृद्‌भांड (1200-600 ई.पू.) आदि। लगभग सातवीं शताब्दी ई.पू. तक आते-आते, उत्तरी काले पालिशदार मृद्‌भांड बनाए जाने लगे थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि भौगोलिक दृष्टि से तत्कालीन कुरु-पांचाल प्रदेश वही था जो आजकल पश्चिमी तथा मध्यवर्ती उत्तर प्रदेश कहलाता है। उपनिषदों में कुरु-पांचाल प्रदेश को संस्कृति तथा समृद्‌धि का गढ़ माना गया है। ऐसा उल्लेख है कि पांचाल नरेश प्रवहण जैवालि प्रतिदिन *पांचाल परिषद्* में उपस्थित होता था। तत्कालीन ग्रंथों से प्रमाणित होता है कि कोसल, काशी और विदेह के तीन राज्य वैदिक सभ्यता के प्रमुख क्षेत्र थे। अथर्ववेद में मगध और अंग का उल्लेख सुदूरवर्ती प्रदेशों के रूप में किया गया है। ऋग्वैदिक *किकात* और मगध को एक ही माना गया है। मत्स्य जनपद का भी उल्लेख है। दक्षिण में, विदर्भ (महाराष्ट्र) का उल्लेख मिलता है। मद्र पंजाब क्षेत्र में स्थित था, उससे आगे पश्चिम की ओर, बाह्लीक केशिन्, केकाय और कंबोज *जनों* के प्रदेश थे।

**राज्य-व्यवस्था और प्रशासन :** हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों बड़े राज्य विकसित होते गए, त्यों-त्यों राजनीतिक और प्रशासनिक ढाँचा भी विकसित और विस्तृत होता गया। राज्य संख्या और आकार दोनों, में बढ़ते जा रहे थे और राजतंत्र अपनी जड़ें मजबूत करता जा रहा था। राजा को दैवी उत्पत्ति की प्रतिष्ठा दी जाने लगी थी। उसे ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा था। साथ ही राजाओं के राजा की संकल्पना अस्तित्व में आने लगी थी। अधिकांश पाठों में *अधिराज, राजाधिराज, सम्राट* और *एकराट* जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद *एकराट* शब्द की परिभाषा सर्वोपरिसत्ताधारी शासक के रूप में करता है। राजाओं के राज्याभिषेक के लिए विशेष प्रकार के यज्ञों; जैसे— *वाजपेय, राजसूय* और *अश्वमेध* का आयोजन किया जाने लगा था।

यद्‌यपि राजतंत्र ने अपने आपको सुदृढ़ नींव पर स्थापित कर लिया था लेकिन राजा की सत्ता निरंकुश नहीं थी, बल्कि उस पर कई प्रकार की परिसीमाएँ लगी हुई थीं। राजतंत्र की परिधि के भीतर कई प्रकार के लोकतंत्रात्मक तत्व सक्रिय थे। उदाहरणार्थ, **(i)** जनता को राजा चुनने का अधिकार था; **(ii)** राजा के अधिकारों तथा कर्तव्यों पर कई शर्तें लगी हुई थीं; **(iii)** राजा अपनी मंत्रिपरिषद् की सलाह पर निर्भर रहता था और जन-संस्थाएँ, सभा और समिति राजा की तानाशाही पर अंकुश रखती थीं।

किसी भी परिस्थिति में राजा को राज्य का एकमात्र स्वामी नहीं समझा जाता था और न ही राज्य की संपूर्ण धन-संपत्ति पर उसका एकाधिकार था। संपूर्ण राज्य को एक *न्यास* (ट्रस्ट) और राजा को उसका *न्यासी* (ट्रस्टी) माना जाता था। इस राज्य रूपी न्यास को वह इसी शर्त पर धारण करता

था कि वह प्रजा की भलाई और प्रगति के लिए काम करेगा। मंत्रियों और पदाधिकारियों के अलावा, प्रशासन के कार्य में सभा और समिति नाम की संस्थाएँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। सभा एक संसद के रूप में कार्य करती थी और वाद-विवाद तथा चर्चा के द्वारा राज-काज निपटाती थी। सभा का प्रधान सभापति कहलाता था, उसके रक्षकों को सभापाल और उसके सदस्यों को *सभेय, सभाषद्* या *सभासीन* कहा जाता था।

सभा के संचालन के विषय में बाकायदा नियम बने हुए थे और *वाजसनेयी संहिता* में कहा गया है कि गलती करने वाले सदस्यों की भर्त्सना की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सभा न्यायालय की तरह भी काम करती थी। यह कहा गया है कि "जो सभा में उपस्थित होता है, वह न्यायालय की तरह न्याय (धर्म) प्रदान करने के लिए ही बैठता है।"

समिति कार्य और गठन दोनों ही दृष्टियों से सभा से भिन्न थी। सभा एक छोटा प्रवर निकाय थी और वह निचले न्यायालय की तरह भी काम करती थी, जबकि समिति जनता की बड़ी सामान्य सभा होती थी। इसीलिए समिति को *विश* (जन-साधारण) की आवाज अभिव्यक्त करने वाली संस्था कहा गया है। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि एक अवसर पर तो समिति राजा को चुनती है और दूसरे अवसर पर वह राजा के कुकृत्यों और अत्याचार के कारण अपनी उस पसंद को वापस लेकर राजा को राजपद से हटा देती है।

किंतु ज्यों-ज्यों समाज तथा राजनीतिक ढाँचे में जटिलता बढ़ती गई, त्यों-त्यों राज्य के अमले में भी बढ़ोतरी होती गई। हम अनेक नए राजकर्मचारियों का उल्लेख पाते हैं; जैसे— *सूत* (रथ हाँकने वाला), *संग्रहित्री* (खजांची), *भागदुघ* (कर-समाहर्ता), *ग्रामिणी* (गाँव का मुखिया), *स्थपति* (मुख्य न्यायाधीश), *तक्षण* (बढ़ई), *क्षत्री* (कंचुकी) और कई अन्य जिनके कार्यों का निश्चित रूप से अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। सभी से स्पष्ट है कि प्रशासनिक तंत्र अत्यंत सुगठित था और एक बड़े राज्य पर शासन करने का सर्वथा कुशल साधन था।

उस युग की उदार भावना निम्नलिखित परामर्श में परिलक्षित होती है, जो यजुर्वेद के अनुसार, राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को पुरोहित द्वारा दी जाती थी : "शासक के रूप में, आज से तुम्हें संबलों और निर्बलों को निष्पक्ष भाव से उचित न्याय प्रदान करना होगा। लोगों की भलाई के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना होगा और सर्वोपरि बात तो यह है कि तुम्हें देश को सभी प्रकार की विपत्तियों से बचाना होगा।"

हम यह भी पाते हैं कि वैध/कानूनी संस्थाओं पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाने लगा था। राजा न्याय प्रदान करता था और अपराधियों को दंड देता था। अपराधों में चोरी, लूट-खसोट, परस्त्रीगमन, अगम्यागमन, अपहरण और नरहत्या जैसे अपराध प्रमुख थे। गोहत्या, ब्रह्महत्या, मद्यपान, विश्वासघात आदि के लिए मृत्युदंड का विधान था। छोटे-मोटे अपराधों का निपटारा ग्राम न्यायाधीश (पंच) किया करते थे। साक्ष्य के लिए, प्रत्यक्षदर्शी साक्षी (चश्मदीद गवाह) को सूचना देने वाले की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता था। अपराधों के लिए दंड काफी कठोर होते थे। संपत्ति के उत्तराधिकार, भूमि के स्वामित्व आदि के मामले में कानून बहुत ही स्पष्ट था। पिता की संपत्ति उत्तराधिकार में बेटों को ही मिलती थी। बेटियों को यह तभी मिलती थी यदि पिता का कोई बेटा (पुरुष

संतान) नहीं होता था अथवा बेटी ही उसकी अकेली संतान होती थी।

**सामाजिक व्यवस्था :** उत्तर वैदिक काल में जो राजनीतिक विकास हो रहा था वह अकेला ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटक नहीं था। उससे भी अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन समाज तथा धर्म के क्षेत्र में धीरे-धीरे होते जा रहे थे। ऋग्वैदिक काल में समाज चार वर्णों में विभाजित था। ये वर्ण कर्म यानी व्यवसाय पर आधारित थे, और एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न सदस्य अलग-अलग वर्णों का व्यवसाय अपना सकते थे। उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवसाय की बजाय जन्म के आधार पर निर्धारित होने लगे थे। अब काम-धंधे भी कई तरह के हो चले थे, उनके अनुसार अलग-अलग जातियाँ बनने लगी थीं। लेकिन अभी तक जाति-व्यवस्था में वैसी कठोरता नहीं आई जैसी की आगे चलकर सूत्रकाल में आ गई थी। यह अवस्था ऋग्वैदिक लचीले समाज और सूत्रकाल के कठोर समाज के बीच की स्थिति थी। जाति की उत्पत्ति उस युग में एक अत्यंत असामान्य घटना तो थी, पर शायद इसे असंभव नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में विश्वामित्र को एक ऋषि बताया गया है, लेकिन ऐतरेय ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय बताता है। इसी ब्राह्मण ग्रंथ में हम देखते हैं कि जाति के मामले में कठोरता आने लगी थी। चौथे वर्ण यानी शूद्रों की स्थिति दयनीय बना दी गई थी, क्योंकि उन्हें यज्ञ करने, पवित्र ग्रंथों को पढ़ने और यहाँ तक कि अचल संपत्ति के स्वामित्व के अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। जाति- प्रथा की सबसे घृणित बुराई, यानी अस्पृश्यता की अवधारणा ने अभी अपना सिर नहीं उठाया था। कवश, वत्स और सत्यकाम जाबाल जैसे व्यक्तियों के कुछ उदाहरण हैं, जो ब्राह्मणेतर जातियों में उत्पन्न हुए थे, लेकिन उन्हें महान ब्राह्मण माना जाने लगा था। कुल मिलाकर देखें तो अभी तक जाति-प्रथा में अधिक कठोरता नहीं आई थी और उसमें ये तीन तत्त्व, अर्थात् परस्पर-भोजन और परस्पर-विवाह का निषेध और वंश से वर्ण का निर्धारण, कठोर आधार पर अभी तक स्थापित नहीं हुए थे।

**आर्थिक जीवन :** कृषकों, पशुपालकों, व्यापारियों आदि की सफलता एवं समृद्धि के लिए अथर्ववेद में दी गई अनेक प्रार्थनाओं से तत्कालीन आर्थिक समृद्धि के विकास का पता चलता है। ऐसी प्रार्थनाएँ खेत की जोताई, बीजों की बोआई, वर्षा, पशुधन और संपत्ति में बढ़ोतरी और हानि पहुँचाने वाले जीव-जंतुओं, जंगली जानवरों, डाकू-लुटेरों और ऐसे ही अन्य हानिकारक तत्त्वों को दूर भगाने या उनसे बचने के लिए की जाती थीं। हल को *सिरा* और हलरेखा को *सीता* कहा जाता था। गोबर का खाद के रूप में प्रयोग किया जाता था। हल में छः, आठ और यहाँ तक कि चौबीस बैल जोते जाने का उल्लेख है। अनेक प्रकार के खाद्यान्न; जैसे— चावल, जौ, फलियाँ और तिल उगाए जाते थे। उनके लिए उपयुक्त ऋतुओं का भी उल्लेख है; जैसे— जौ सर्दियों में उगाया जाता था और गर्मियों में पकने पर काटा जाता था; चावल/धान वर्षा ऋतु में बोया जाता था और शरद ऋतु में काटा जाता था। *शतपथ* ब्राह्मण में कृषि की कई क्रियाओं; जैसे— जोताई, बोआई, कटाई और गहाई आदि को गिनाया गया था।

खेती को नुकसान पहुँचाने वाले कई जीव-जंतुओं का भी उल्लेख मिलता है; जैसे— छछूंदर बीज को नष्ट कर देते थे और अन्य जीव कोमल अंकुरों को काट डालते थे। अथर्ववेद में कहा गया है कि सूखे

तथा अतिवृष्टि से खेती को हानि पहुँचती है। पशु-धन को बहुत महत्त्व दिया जाता था और अथर्ववेद का एक काफी लंबा मंत्र यह दर्शाता है कि गायों को पूज्य माना जाता था और गोहत्या के लिए मृत्युदंड की व्यवस्था थी।

अनेक संदर्भों में धनी वणिकों एवं व्यापारियों का उल्लेख मिलता है। ब्याज पर ऋण दिया जाता था। तौल और माप की विशिष्ट इकाइयों का भी प्रयोग होता था। *निष्क* और *शतमान* मुद्रा की इकाइयाँ थीं, लेकिन उत्तर वैदिक काल में किसी खास भार, आकृति और मूल्य के सिक्कों के चलन का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। बाजार में मोल-भाव करने का रिवाज ऋग्वैदिक काल से ही चला आ रहा था। समुद्री मार्ग से भी व्यापार की जानकारी थी और *ऐतरेय* ब्राह्मण में अथाह, अनंत जलधि और पृथ्वी को घेरने वाले समुद्र का उल्लेख है।

*बलि* पहले राजा या मुखिया को स्वेच्छा से भेंट के रूप में दी जाती थी, लेकिन अब उसने नियमित *कर* का रूप धारण कर लिया था और उसे राजनीतिक तथा प्रशासनिक ढाँचे के रख-रखाव के लिए बाकायदा वसूल किया जाने लगा था।

उद्योग और काम-धंधों में अब उल्लेखनीय विकास हो चुका था। इस काल में हम मछुआरों, वनपालों, धोबियों, नाइयों, कसाइयों, हाथी पालकों, महावतों, पदातियों, संदेशवाहक, आभूषण, टोकरियाँ, रस्सियाँ, रंग, रथ, धनुष आदि बनाने वालों, सुनारों, लोहारों, कुम्हारों आदि का उल्लेख पाते हैं। व्यापारियों, वणिक श्रेणियों, सार्थवाहों और समुद्री व्यापार का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। शिल्पियों की श्रेणियाँ भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। श्रेणी (गिल्ड) के मुखिया *श्रेष्ठि* का भी अनेक प्रसंगों में उल्लेख मिलता है।

ऋग्वैदिक काल में हम *अयस्* का ही उल्लेख पाते हैं, जिसका अर्थ ताँबा/कांसा लगाया गया है। इस युग में नए धातु अर्थात् लोहे के आविष्कार से हम *श्याम अयस्* (लोहा) और *लोहित अयस्* (ताँबा) शब्द का भी उल्लेख पाते हैं। इनके अलावा, सोने, सीसे, और वंग (राँगे) का भी उल्लेख पाया जाता है। लोहे का इस्तेमाल हथियार और नहरने, हथौड़े, चिमटे, हल की फाल आदि वस्तुएँ बनाने के लिए किया जाता था। ताँबे से बर्तन बनाए जाते थे। सोने और चाँदी का उपयोग आभूषण तथा प्लेटें आदि बनाने के लिए किया जाता था।

**शिक्षा :** इस काल में तरह-तरह के साहित्य की व्यापक रूप से वृद्धि हुई। उपनिषदों में बौद्धिक उपलब्धियों का उच्चतम स्तर देखने को मिलता है। उपनिषद, निस्संदेह, तत्कालीन बौद्धिक क्रियाकलाप एवं चिंतन की परम परिणति हैं। शिक्षा का आरंभ उपनयन संस्कार से होता था, जो बच्चे का दूसरा जन्म समझा जाता था। इसलिए इस संस्कार के बाद बच्चे को *द्विज* की संज्ञा दी जाती थी। विद्या का लक्ष्य धर्मनिष्ठा, ज्ञानार्जन, अर्जित ज्ञान की रक्षा, संतति, धन, दीर्घायुष्य और अमरत्व प्राप्त करना माना जाता था। इस प्रकार, विद्यार्थी जीवन के सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। शिष्यों के कर्तव्य भलीभाँति परिभाषित थे।

आलोच्य काल यानी उत्तर वैदिक काल में, अध्ययन के तीन चरण थे। प्रथम चरण में, शिष्य गुरुजनों के घर में परिवार के सदस्यों की तरह रहते थे और घर-गृहस्थी के कामों में हाथ बँटाते थे। इसके अलावा, एक गुरु अथवा अध्यापक द्वारा संचालित विद्यालय (पाठशाला) भी होता था। अध्यापक अपने विद्यालय में प्रवेश देने के लिए स्वयं

शिष्यों का चुनाव करता था। शिक्षा के और भी साधन थे। शिक्षित व्यक्ति, गृहस्थ के रूप में भी, अपने ज्ञानार्जन की प्रक्रिया चालू रखता था। इसके लिए वह विद्वानों से शास्त्रचर्चा करता रहता था, और भिन्न-भिन्न केंद्रों अथवा स्थलों पर उपलब्ध ऋषि-मुनियों तथा विद्वानों के पास नियमित रूप से जाता रहता था। भिन्न-भिन्न जनपदों में ज्ञानार्जन के लिए राजा के संरक्षण में परिषदें भी होती थीं। इन आवासी विद्यालयों, उच्च अध्ययन के विद्यापीठों और दार्शनिक चर्चा एवं शास्त्रार्थ के लिए आयोजित परिषदों एवं मंडलों के अतिरिक्त, राजाओं द्वारा विद्वज्जनों की विशाल सभाएँ आयोजित की जाती थीं : जिनमे ज्ञानार्जन के लिए भारी प्रोत्साहन मिलता था। ऐसे आयोजनों का एक विशिष्ट उदाहरण है : विदेह के राजा जनक द्वारा आयोजित महान विद्वत्सम्मेलन, जिसका उल्लेख *बृहदारण्यक उपनिषद्* में मिलता है। इस सम्मेलन में भाग लेने वालों में प्रमुख थे : याज्ञवल्क्य, उद्दालक आरुणि, शाकल्य, गार्गी और अनेक अन्य विद्वान। इस सम्मेलन और इसमें चर्चित विभिन्न विषयों का विवरण विस्तार से वृहदारण्यक उपनिपद में दिया गया है। शिक्षा उन्हीं गुरुओं से ली जाती थी, जो प्रकांड पंडित होते थे। हम पढ़ते हैं कि याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि के साथ अपनी शिक्षा संपन्न करने के बाद जनक (राजा एवं क्षत्रिय) के पास दर्शन तथा अन्य विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गया था, किंतु जनक की सभा में याज्ञवल्क्य ने सभी सहभागियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया और वहाँ उसे सर्वोच्च विद्वान तथा प्रज्ञावान घोषित किया गया।

यह भी उल्लेखनीय है कि स्त्रियाँ भी बौद्धिक क्रियाकलाप एवं शास्त्रार्थ में भाग लेती थीं। गार्गी और मैत्रेयी ऐसी विदुषियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऋग्वेद में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख है, जिन्होंने मंत्रों की रचना की थी। उस काल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि क्षत्रिय लोग भी बौद्धिक क्रियाकलाप में भाग लेते थे। विदेहराज जनक, पांचाल नरेश प्रवहण जयवालि, काशी नरेश अश्वपति कैकेय, जो सभी क्षत्रिय थे, ऐसे सुप्रसिद्ध विद्वान थे, जिनके पास सुशिक्षित ब्राह्मण भी आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे।

तत्कालीन ग्रंथों में उस समय के पाठ्य विषयों का उल्लेख मिलता है। *छांदोग्य उपनिषद्* में इन विषयों का उल्लेख है : *वेद,* गणित, खनिज विद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, सैन्य विज्ञान, ज्योतिष, विष विद्या, ललित कला और शिल्प, संगीत और आयुर्विज्ञान।

*मुंडक उपनिषद* में अध्ययन के इन सब विषयों को *अपरा विद्या* कहा गया है। *परा विद्या* नाम की एक अन्य श्रेणी के अंतर्गत परमज्ञान यानी आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त की जाती है, जो जीवन मृत्यु, ईश्वर आदि के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करती है।

**धर्म और दर्शन :** ब्राह्मण ग्रंथों में याज्ञिक कर्मकांड और आनुष्ठानिक धर्म का विकास दिखलाया गया है और यह बताया गया है कि उसके परिणामस्वरूप पौरोहित्य कर्म की उत्पत्ति कैसे हुई। पहले यज्ञों की पद्धति बड़ी सरल होती थी और यज्ञ एक-दो दिन ही चलते थे, लेकिन अब याज्ञिक अनुष्ठानों की संख्या और अवधि दोनों ही बढ़ गई थी। कुछ अनुष्ठान तो बारह दिन से एक वर्ष तक अथवा इससे भी अधिक लंबे समय तक चलते थे। ऋग्वेद में सात ही पुरोहितों और दो प्रधान पुरोहितों का उल्लेख है, लेकिन अब बड़े पैमाने पर यज्ञ करने के लिए सत्रह पुरोहितों की आवश्यकता होने लगी थी। इनके अलावा, अनेक घरेलू धार्मिक कृत्य एवं संस्कार होते थे, जो

मनुष्य के संपूर्ण जीवन में जन्म से मृत्युपर्यंत चलते रहते थे, बल्कि कुछ क्रिया-कर्म तो मृत्यु के बाद भी दिवंगत आत्माओं के लिए संपन्न किए जाते थे।

ये धार्मिक कृत्य और अनुष्ठान इस लोक में सफलता प्राप्ति के साधन ही नहीं थे, बल्कि इन्हें स्वर्ग में परमानंद की प्राप्ति का साधन भी माना जाता था। शीघ्र ही तपस्या, ध्यान एवं चिंतन-मनन ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। मनुष्यों ने तपस्वियों एवं संन्यासियों का जीवन-व्रत इस विश्वास के साथ धारण कर लिया कि उन्हें केवल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि वे अपने आप में कुछ आध्यात्मिक, असाधारण एवं अतिमानवीय शक्तियाँ भी विकसित कर लेंगे।

एक ओर तो विस्तृत कर्मकांड, अनुष्ठान और तप ऋग्वैदिक काल के साधारण धर्म-कर्म एवं पूजापाठ का स्थान लेते जा रहे थे तो दूसरी ओर, मनीषीजन अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत करने के लिए बौद्धिक खोज में इस संकल्प के साथ संलग्न थे कि मोक्ष की प्राप्ति सच्चे ज्ञान से ही हो सकती है। इसलिए यह सिद्धांत स्थापित किया गया "जो परमात्मा को जानता है, वही परमात्मा को प्राप्त करता है, अपितु वह स्वयं परमात्मा है।" जैसा कि पहले कहा जा चुका है : वेद कर्मकांड और ज्ञान के अंतर को पहचानते थे, लेकिन उत्तर वैदिक काल में आकर ही उस अंतर पर विशद रूप से विचार किया गया।

इन प्रारंभिक दार्शनिक ग्रंथों को सामान्य रूप से उपनिषद कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या लगभग 200 है। उनमें से प्राचीनतम उपनिषद *बृहदारण्यक* और *छांदोग्य* हैं, जिनमें परमात्मा, मनुष्य, विश्व आदि के विषय में मानव-चिंतन की शाश्वत समस्याओं एवं पहेलियों के बारे में साहसिक कल्पनाएँ की गई हैं। उपनिषदों को विश्व के समस्त आध्यात्मिक चिंतन में भारत का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है, जो उचित ही है। महान दार्शनिक शोपेनहावर ने उपनिषदों के फारसी अनुवाद के लैटिन अनुवाद को पढ़ने के बाद लिखा था— "प्रत्येक वाक्य से गंभीर, मौलिक एवं उदात्त विचार अभिव्यक्त होते हैं और वह संपूर्ण (साहित्य) उच्च, पवित्र और गंभीर भावना से ओत-प्रोत हैं। हम भारतीय परिवेश एवं बंधुत्व से भाव-विभोर हो गए हैं।" यहाँ तक कि मैक्स मूलर ने भी कहा है कि "इस दार्शनिक साहित्य के प्रारंभिक ग्रंथों को किसी भी युग तथा किसी भी देश में मानव मस्तिष्क से उत्पन्न अत्यंत विस्मयकारी कृतियों के बीच विश्व साहित्य में सदैव स्थान मिलता रहेगा।"

## विज्ञान और प्रौद्योगिकी

वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों से इस काल के विभिन्न विज्ञानों के बारें में पर्याप्त जानकारी मिलती है। तत्कालीन विद्वान गणित और उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं यानी अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित और ज्योतिष से परिचित थे।

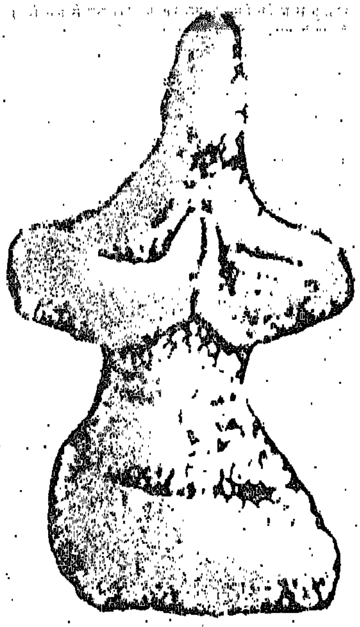
वैदिक लोग क्षेत्रफल में त्रिभुजों, वृत्तों के बराबर के वर्ग बनाने का तरीका जानते थे और वर्गों के जोड़ और अंतर का हिसाब लगा सकते थे। शून्य की जानकारी तो ऋग्वेद के समय ही लोगों को थी और इसी की बदौलत बड़ी-बड़ी संख्याएँ दर्ज की जा सकती थीं। प्रत्येक अंक के स्थानीय मान और उसके निरपेक्ष मान की भी जानकारी थी। वे लोग घन, घनमूल, वर्ग, वर्गमूल आदि से परिचित थे और उनका प्रयोग की करते थे।

वैदिक काल में ज्योतिष का बहुत विकास हो चुका था। वैदिक लोग आकाशीय-पिंडों यानी ग्रहों, नक्षत्रों आदि की गति को जानते थे और भिन्न-भिन्न

समय पर उनकी स्थिति का हिसाब लगा सकते थे। इससे उन्हें सही पंचांग बनाने और सूर्य तथा चंद्र ग्रहणों के समय के बारे मे भविष्यवाणी करने में सहायता मिलती थी। वे यह भी जानते थे कि पृथ्वी अपने अक्ष (धुरी) पर और सूर्य के चारों ओर घूमती है और चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता है। उन्होंने आकाशीय पिंडों के परिक्रमण के समय और सूर्य से उनकी दूरी का हिसाब लगाने का भी प्रयास किया था। उनकी गणनाओं के परिणाम लगभग वही हैं, जो अब आधुनिक तरीकों से निकाले गए हैं।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   वर्ण, जाति, निष्क, शतमान, एकराट, सम्राट, भागदुघ, अश्वमेध, वाजपेय, उपनयन।
2. उत्तर वैदिक काल के इतिहास के स्रोतों का वर्णन करें।
3. उत्तर वैदिक काल के भूगोल की चर्चा, तत्कालीन राजनीतिक राज्यों के संदर्भ में करें।
4. उत्तर वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करें। यह ऋग्वैदिक काल से किस प्रकार भिन्न थी?
5. उत्तर वैदिक काल में निम्नलिखित की स्थिति का वर्णन करें :
   (i) अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में विकास।
   (ii) राजनीतिक और प्रशासनिक प्रणाली।
   (iii) धर्म और दर्शन।
   (iv) शिक्षण-व्यवस्था और शिक्षा।



## अध्याय 11

# भारतीय दर्शन का चरमोत्कर्ष

**भारतीय दर्शन के तत्त्व हमें वैदिक ऋषियों की काल्पनिक उड़ानों में अपनी विशिष्टता के साथ बीजरूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जो आगे अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होते हुए अंततोगत्वा शंकर के अद्वैत वेदांत में फलित होकर चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए।**

**भारतीय** दर्शन के तत्व हमें वैदिक ऋषियों की काल्पनिक उड़ानों में अपनी विशिष्टता के साथ बीजरूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जो आगे अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होते हुए अंततोगत्वा शंकर के अद्वैत वेदांत में फलित होकर चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए।

वैदिक काल में विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों को पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग में रहने वाले भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के रूप में पूजा जाता था। तत्कालीन लोग अपने देवी-देवताओं को बलि चढ़ाते थे, बदले में उनसे यहाँ, इस लोक में पशु, धन-धान्य, समृद्धि, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य, संतान, विजय, शांति और प्रसन्नता की याचना करते थे और मृत्यु के बाद स्वर्ग चाहते थे, किंतु कुछ वैदिक ऋषियों का यह विश्वास भी था कि कोई ऐसी परम सत्ता अवश्य है, जो अपने आपको विभिन्न देवी-देवताओं के रूप में अभिव्यक्त करती है।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध *नासदीय सूक्त* में वैदिक ऋषि द्वारा भाव-विभोर होकर ऐसी कल्पना की गई है, "जिससे यह विचित्र सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिसने इस सृष्टि को बनाया है अथवा न भी बनाया हो, जो परमद्रष्टा, अध्यक्ष उच्चतम स्वर्ग में विराजमान है, वह सर्वज्ञ परमेश्वर ही इस सृष्टि को जान सकता है, अथवा शायद वह भी न जानता हो।"

उस परम सत्य के स्वरूप सृष्टि की प्रक्रिया, आत्मा (जीवात्मा) का स्वरूप और परमसत्य (परमात्मा) के साथ उसका संबंध, निःश्रेयस की प्राप्ति, जीवन का परम उद्देश्य और सदाचारपूर्ण जीवनयापन की आदर्श शैली जैसी अनेक बातों के विषय में गहराई से चिंतन किया गया है। इस चिंतन-मनन के फलस्वरूप अनेक ग्रंथों की रचना की गई, जिन्हें *उपनिषद* कहा जाता है। वैसे तो इन उपनिषदों की संख्या बहुत अधिक है, पर उनमें से केवल ग्यारह उपनिषद ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये हैं : *ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक* और *श्वेताश्वतर।* ये सभी उपनिषद निम्नलिखित के बारे में आमतौर पर सहमत हैं :

(i) व्यक्ति/जीवन में परम, शाश्वत एवं केवल सत्य आत्मा (जीवात्मा) है।

(ii) इस भौतिक जगत में और इससे परे भी एक ही परम सत्य है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। इस ब्रह्म से ही संपूर्ण जगत की उत्पत्ति होती है : ब्रह्म में ही यह विद्यमान है और फिर ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। ब्रह्म सत्य है, अनंत है, चिदानंद है।

(iii) विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है। यदि कोई कहे कि मैं ब्रह्म हूँ (*अहम् ब्रह्मास्मि*) तो वह सच्चा है।

(iv) यह एक ब्रह्म अपनी विचित्र शक्ति *माया* के कारण अनेक प्रतीत होता है।

(v) मनुष्य के संपूर्ण दुख और कष्ट इस तथ्य को न जानने के कारण हैं कि मनुष्य आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा का ब्रह्म के साथ जुड़ना ही मोक्ष कहलाता है, जिसके फलस्वरूप वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पा जाता है और यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

(vi) आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सांसारिक एवं नश्वर वस्तुओं के प्रति अपनी इच्छाओं को, संपूर्ण माया-मोह को, छोड़ देना होगा, अपनी बुद्धि को निर्मल बनाना होगा और सदाचारपूर्ण जीवन जीना होगा।

ये सिद्धांत भारतीय इतिहास में बार-बार प्रतिध्वनित हुए हैं। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी

विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा अरबिंद और आधुनिक काल के अन्य चिंतकों एवं मनीषियों ने भी उपनिषदों के दर्शन का विवेचन किया है।

*रामायण* और *महाभारत* में भी नैतिक और दार्शनिक उपदेश दिए गए हैं। रामायण महाकाव्य तो राम को मर्यादापुरुषोत्तम अर्थात् नैतिक सिद्धांतों के आदर्श पुरुष के रूप में प्रस्तुत करता है।

*भगवद्गीता* में भगवान कृष्ण के उपदेश समाहित हैं। संपूर्ण भारत और विश्व-भर में इसे आदर की दृष्टि से देखा जाता है और अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद किया जा चुका है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य को सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय की विपरीत स्थितियों में भी अपने आपको संतुलित बनाए रखना चाहिए। इसमें यह भी कहा गया है कि आत्मा अजर-अमर है, अनश्वर है। न तो शस्त्र आत्मा को काट सकते हैं और न ही आग उसे जला सकती है। यह शरीर ही नाशवान है। मृत्यु तो सदा शरीर की ही होती है, आत्मा की नहीं। शरीर की मृत्यु के बाद आत्मा तो दूसरे शरीर को अपना घर बना लेती है। ईश्वर दुष्टों को दंड देने के लिए और सज्जनों की रक्षा करने के लिए समय-समय पर अवतार लेता है।

मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग हैं : ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग। ज्ञान मार्ग परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना है। भक्ति मार्ग ईश्वर की परम, सच्ची भक्ति द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयत्न है और निष्काम कर्म के द्वारा, फल-प्राप्ति की परवाह किए बिना अपने कर्तव्यों का पालन करना ही कर्म मार्ग है।

कर्म के सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का वर्तमान जन्म और उसकी दशा उसके पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार निर्धारित होती है। कर्म में विश्वास रखना भाग्यवादी बनना नहीं है। बहुत-से चिंतकों ने कहा है कि यद्यपि हमारी वर्तमान दशा हमारे द्वारा पूर्व जन्म में किए गए कर्म पर निर्भर होती है, फिर भी हम अपने वर्तमान जीवन में अपनी दूरदर्शिता तथा सत्कर्मों के द्वारा अपनी दशाओं और परिस्थितियों को बदल सकते हैं।

हमारे ऋषिगण सत्य की खोज में बराबर प्रयत्नशील रहे, जिसके फलस्वरूप महान दार्शनिक संप्रदायों की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने जीव और जगत को पूर्वाग्रह-रहित होकर, मुक्त, निष्पक्ष एवं विवेकपूर्ण भाव से देखा। भारतीय दर्शन की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रणालियाँ हैं : चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत। पहले तीन दर्शन नास्तिक हैं, यानी वे ईश्वर की सत्ता और वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते, जबकि अन्य सभी दर्शन आस्तिक हैं, यानी वे वेदों और ईश्वर में विश्वास करते हैं।

चार्वाक दर्शन (जिसे लोकायत भी कहते हैं) केवल भौतिकवाद में विश्वास करता है। भौतिक तत्त्वों से बना हुआ मनुष्य का भौतिक शरीर ही उसका एकमात्र तत्त्व है। मृत्यु ही मनुष्य का अंत है। जीवन में आनंद लेना ही उसका उद्देश्य है। मृत्यु से परे कोई जीवन नहीं होता; न स्वर्ग होता है न नरक; और न पुनर्जन्म होता है और न ही कर्मवाद। चार्वाक दर्शन आत्मा, परमात्मा अथवा इस जीवन से परे किसी अन्य जीवन में विश्वास नहीं करता।

इस श्रेणी के अन्य दो दर्शनों—जैन और बौद्ध के विषय में आप अगले अध्याय में विस्तार से पढ़ेंगे।

शेष छः दर्शनों में न्याय और वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत के बीच कुछ समानता एवं

सादृश्य है। मीमांसा दर्शन मनुष्य के कर्तव्यों के निर्धारण में वेदों को अंतिम प्रमाण मानता है और वेदांत विचारक जीव तथा जगत के विषय में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में वेदों को अंतिम प्रमाण मानते हैं। मीमांसा वेदों के कर्मकांड यानी संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों से संबद्ध है और वेदांत ज्ञानकांड यानी उपनिषदों से।

### वैशेषिक

वैशेषिक प्रणाली जगत का यथार्थवादी, विश्लेषणात्मक और वस्तुवादी दर्शन है। यह दर्शन विभिन्न प्रकार की परम वस्तुओं में अंतर करने का प्रयत्न करता है और सभी वस्तुओं को पंचमहाभूतों—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के अंतर्गत, जो परमाणु, दिक्, काल, मन और आत्मा के रूप में विद्यमान हैं, वर्गीकृत करता है। जब इन पंचमहाभूतों के परमाणु आपस में जुड़ने लगते हैं तब जगत की सृष्टि का प्रारंभ होता है और जब उनका विघटन हो जाता है तो जगत का अंत हो जाता है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में पदार्थ/पुद्गल और आत्मा के द्वैत को माना गया है। इस दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तब होती है, जब जगत के परमाण्विक स्वरूप को और आत्मा से उसके अंतर को पूरी तरह पहचान लिया जाए।

### न्याय

न्याय दर्शन उन सभी पदार्थों (श्रेणियों) को मानता है जो *वैशेषिक* दर्शन द्वारा स्वीकार किए गए हैं और उसमें एक नया पदार्थ *अभाव* जोड़ देता है। वह उन सभी द्रव्यों को भी स्वीकार करता है जो *वैशेषिक* द्वारा माने गए हैं और वह ईश्वर को संसार का सृष्टिकर्ता मानता है। उसके अनुसार, ईश्वर एक ऐसी आत्मा है जो कर्म और पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त है। कर्म के नियम से उसका कोई सरोकार नहीं है, कर्म का नियम स्वतंत्र रूप से लागू होता है। प्रलय की अवस्था में (जब समस्त ब्रह्मांड विघटित हो जाता है) और *अपवर्ग* (मोक्ष) यानी संसार के जीवन (जन्म-मृत्यु के चक्र) से मुक्ति की अवस्था में, आत्मा में कोई चेतना नहीं होती। न्याय दर्शन में ज्ञान के स्रोत यानी *प्रमाण* के विषय में विस्तृत रूप से विचार किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण चार प्रकार के होते हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यानी शब्दिक साक्ष्य।

### सांख्य

सांख्य दर्शन भारत के सभी दर्शनों में सबसे प्राचीन है। इसके अनुसार मूल तत्त्व पच्चीस हैं, जिनमें प्रकृति पहला तत्त्व है। सांख्य दर्शन के अनुसार, जगत का क्रम-विकास ईश्वर के कारण नहीं होता, बल्कि प्रकृति के सहज स्वरूप के कारण होता है। प्रकृति से ही सभी चीजों; जैसे— वायु, जल, आकाश, बुद्धि आत्म-चेतना, दृष्टि, स्पर्श, श्रवण, वाक् आदि का विकास होता है। इन सब में एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व है पुरुष यानी आत्मा। जैन दर्शन की तरह सांख्य दर्शन भी यह मानता है कि आत्माओं की संख्या अनंत है और पुरुष प्रकृति पर निर्भर नहीं है और न ही प्रकृति पुरुष पर। फिर भी पुरुष किसी-न-किसी रूप में प्रकृति यानी भौतिक द्रव्य/पुद्गल से जुड़ा है और उनके अंतर को जान लेना ही मोक्ष है।

सांख्य दर्शन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू है तीन गुणों का सिद्धांत। ये गुण हैं : *सत्व, रजस,* और *तमस्*। यह कहा गया है कि प्रारंभ में ये तीनों गुण हर प्राणी में संतुलित मात्रा में होते हैं लेकिन ज्यों-ज्यों

प्राणी विकसित होता है, इन तीनों गुणों में कोई एक गुण अधिक प्रबल हो जाता है। सत्व गुण सच्चाई, बुद्धिमानी, सुंदरता और भलाई का प्रतीक है। रजस्, उग्रता, सक्रियता, हिंसा, ऊर्जा का द्योतक है, और *तमोगुण* अंधेरे, मूर्खता, उदासी, दुख आदि का द्योतक है।

किंतु कालांतर में तंत्रवाद में आकर पुरुष और प्रकृति के बीच के अंतर यानी उनके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। तंत्रवाद के अनुसार, पुरुष का अर्थ मनुष्य और प्रकृति का अर्थ स्त्री हो गया।

## योग

भारतीय दर्शनों में संभवतः योग से ही संसार में सबसे अधिक लोग परिचित हैं। इस प्रणाली में आत्म-नियंत्रण और आत्म-यातना को सर्वोपरि माना जाता है। जो कोई इस सिद्धांत के विभिन्न पक्षों को आत्मसात कर लेता है, उसे योगी कहा जाता है। योग दर्शन के अनुसार : ईश्वर सृष्टि का रचयिता नहीं है, बल्कि एक उत्कृष्ट या ऊर्जास्वित आत्मा है जो कभी पदार्थ में विलीन हुए बिना, अस्तित्व में रही है। इस दर्शन के अनुसार, निम्नलिखित आठ क्रियाओं के द्वारा मोक्ष प्राप्ति हो सकती है :

(i) यम (आत्म-नियंत्रण) : यम का अर्थ है सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और लोभहीनता का व्यवहार।

(ii) *नियम* (अनुपालन) : पाँच अन्य नैतिक नियमों यानी पवित्रता, संतोष, संयम, वेदाध्ययन और ईश्वर भक्ति का पूर्ण और नियमित रूप से अनुपालन।

(iii) *आसन* (मुद्राएँ) : कुछ निर्धारित मुद्राओं में ही बैठना, यह योग का आवश्यक अंग है। इन्हें योगासन कहा जाता है। इनमें सबसे प्रसिद्ध पद्मासन है; देवताओं और ऋषि-मुनियों को अक्सर इसी आसन में बैठे हुए दिखाया जाता है।

(iv) *प्राणायाम* (साँस का नियंत्रण) : अपनी इच्छानुसार साँस पर नियंत्रण रखना योग का एक और अंग है। इसे शारीरिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है।

(v) *प्रत्याहार* (इंद्रिय-निग्रह) : इसके अंतर्गत इंद्रियों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि वे अपनी ग्राह्य वस्तुओं और भावनाओं की ओर ध्यान ही नहीं देतीं।

(vi) *धारणा* (मन में धारण करने की शक्ति) : किसी एक वस्तु पर ध्यान को केंद्रित करना; जैसे— नाक की अनी (नोक) पर अथवा किसी पवित्र चिह्न पर।

(vii) *ध्यान* : मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर उसे पूरी तरह खाली कर लेना और फिर उसमें केवल उसी वस्तु को भर लेना, जिस पर उसे केंद्रित किया जाना हो।

(viii) *समाधि* (ध्यान की गंभीर अवस्था) : इस अवस्था में केवल आत्मा ही शेष रहती है और संपूर्ण व्यक्तित्व कुछ समय के लिए तिरोहित या विलीन हो जाता है।

जिस व्यक्ति ने योग में प्रवीणता या विशेषज्ञता प्राप्त कर ली हो वह लंबी आयु तक जीवित रह सकता है, बिना किसी कष्ट के लंबे समय तक साँस को रोके रख सकता है, अपनी हृदय-गति को नियंत्रित कर सकता है और गरमी तथा सर्दी के आधिक्य को सह सकता है।

योग दर्शन के अनुसार आत्मा समाधि के माध्यम से जीवन-चक्र से मुक्त हो जाती है और परमात्मा में लीन हो जाती है।

### *मीमांसा*

मीमांसा प्रणाली वैदिक संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों के तात्पर्य को समझने, उनका सही-सही विनियोग और उपयोग जानने का दर्शन है। मीमांसा दर्शन मनुष्य के कर्तव्यों के निर्धारण में और जीव तथा जगत के बारे में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में वेदों को अंतिम प्रमाण मानता है। उसके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए दो मार्ग हैं : एक कर्मकांड का मार्ग है जो वेदों के संहिता तथा ब्राह्मण भाग से संबद्ध है और दूसरा मार्ग ज्ञानकांड का है, जिसका संबंध उपनिषदों से है।

### *वेदांत*

प्राचीन भारतीय दर्शन संबंधी विचारधाराएँ वेदांत दर्शन में आकर चरमोत्मकर्ष को प्राप्त हुईं। वेदांत दर्शन को समझने के लिए उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर शंकर (आदिशंकराचार्य) के भाष्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। शंकर के मतानुसार ये सभी ग्रंथ इस परम सत्य का उपदेश देते हैं कि ब्रह्म एक है। आदिशंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित *वेदांत* दर्शन को अद्वैत वेदांत कहते हैं। ब्रह्म् में अनंत शक्तियाँ हैं और उनमें से एक सृजन-शक्ति यानी माया है। शक्ति शक्तिमान से अलग नहीं होती और इसलिए उनमें द्वैतभाव नहीं है। संपूर्ण जगत का और उसके सभी अवयवों का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है।

सृष्टि के निर्माण, परिरक्षण और विनाश कार्य को संपन्न करने के प्रयोजन के लिए ईश्वर के तीन अलग-अलग नाम और रूप हैं, जिन्हें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव या महेश भी) कहा जाता है।

यह सिद्धांत स्पष्ट रूप से यह मानता है कि परम सत्य यह है कि संपूर्ण जगत और जो कुछ भी इसमें विद्यमान है, वह सब माया है, मिथ्या है, भ्रम है, सपना है, मृगतृष्णा है, कल्पना-मात्र है। अंततः संपूर्ण विश्व मिथ्या है, माया है। केवल ब्रह्म (विश्वात्मा या परमात्मा) ही सत्य है और जीवात्मा तथा परमात्मा एक ही है। व्यक्ति यानी जीव की आत्मा को तभी मोक्ष प्राप्त होता है जब जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है।

आदिशंकराचार्य के परवर्ती काल में उपर्युक्त सभी दर्शनों के सिद्धांतों का विशद विवेचन किया गया और अन्यान्य पक्षों द्वारा इन सिद्धांतों की आलोचना की गई, जिसके प्रकाश में प्रत्येक प्रणाली का उत्तरोत्तर विकास होता गया। प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय में भी भारी द्वंद्व, तर्क-वितर्क एवं मतभेद चला, जिसके फलस्वरूप अनेक चिंतकों द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में अत्यंत विवेचनात्मक एवं सुव्यवस्थित ग्रंथ लिखे गए।

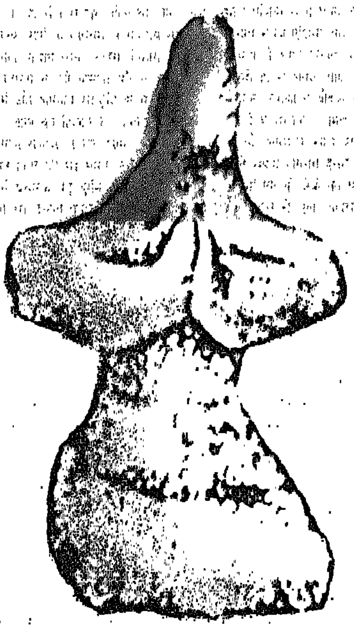
आदिशंकराचार्य से मतभेद रखने वाली अनेक महान विभूतियों में से एक थे रामानुज, जिन्होंने उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता पर अपने मतानुसार भाष्य लिखे।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   मोक्ष, आत्मा, माया, कर्मकांड, ज्ञानकांड, आस्तिक, नास्तिक।
2. भारतीय दर्शन का लक्ष्य क्या है? इसकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?
3. भारतीय दर्शन की छः शाखाओं का वर्णन करें।
4. निम्नलिखित पर लघु टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) भगवद्गीता
   (ii) योग
   (iii) न्याय
   (iv) वेदांत

**करने के लिए कुछ**

- योगासन सिखाने वाले शिक्षक द्वारा अवश्य योगासन सीखें और अभ्यास करें।
- इन योगासनों के गुणावगुणों का पता लगाएँ और कक्षा में उन पर चर्चा करें।



## अध्याय 12

# जैन धर्म और बौद्ध धर्म का विकास

जीवन के दुख-द्वंद्वों पर चिंतन करते हुए उन्हें दूर करने की उत्कट आकांक्षा के साथ नई मोक्ष विधि का पता लगाना अब विद्वज्जनों की चिंता का विषय बन गया था।

**ईसा पूर्व** छठी शताब्दी के समय को भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल-बिंदु माना जा सकता है। अब वेदों की कर्मकांडीय परंपरा का अधिक बोलबाला नहीं रहा था। उपनिषदों ने जीवन की आधारभूत समस्या के बारे में चिंतन करने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी। जीवन के दुख-द्वंद्वों पर चिंतन करते हुए उन्हें दूर करने की उत्कट आकांक्षा के साथ नई मोक्ष विधि का पता लगाना अब विद्वज्जनों की चिंता का विषय बन गया था। इससे नए विचारों तथा दार्शनिक सिद्धांतों का एक ऐसा अभिप्रेरक वातावरण बन गया था, जिसके फलस्वरूप अनेक धार्मिक पंथों एवं संप्रदायों की स्थापना हुई। ऐसा भारत में पहले कभी नहीं हुआ था। हमें ऐसे लगभग 62 धार्मिक पंथों की जानकारी मिलती है। उनमें से कई पंथ तो स्थानीय रीति-रिवाजों और कर्मकांडों पर ही आधारित थे। इन धार्मिक पंथों को इस काल की विचारधाराओं की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपज माना जा सकता है। इन धार्मिक पंथों में से हम यहाँ प्रमुख रूप से उन दो पंथों की ही चर्चा करेंगे, जिन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। ये पंथ हैं : जैन धर्म और बौद्ध धर्म।

यहाँ पर बता दें कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही पहले से विद्यमान प्रणाली के कतिपय पक्षों पर आधारित हैं। दोनों ही यति-व्यवस्था और भ्रातृ-भाव की बुनियाद पर खड़े हैं। वस्तुतः यतित्ववाद (asceticism) का मूल वेदों में ही खोजा जा सकता है और उसे उपनिषदों से प्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिला है। आरण्यक वनों में स्थित आश्रमों की ही देन हैं, जबकि उपनिषद यह कहते हैं कि संन्यास ग्रहण करके वनों में रहना परम ज्ञान की प्राप्ति के इच्छुकों के लिए अति आवश्यक है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों को इस आलोक में देखा और समझा जा सकता है।

*निर्ग्रंथ* मतानुयायी बौद्ध धर्म के उद्भव से पहले कम-से-कम बासठ सिद्धांत प्रणालियों की चर्चा करते हैं। *सूत्र-कृतांग* जैसे कुछ जैन धर्मग्रंथ उनकी संख्या 363 तक बतलाते हैं। उनमें से कुछ थे : *आजीविक, निर्ग्रंथ, जातिलक* आदि। इन पंथों के कुछ प्रमुख शिक्षक थे : पूरण कस्सप, मक्खलि गोशाल, अजित—केशकंबलिन, निगंठ नाथपुत्त और संजय बेलट्ठपुत्त।

## जैन धर्म

जैन धर्म एक बहुत पुराना धर्म है। दो तीर्थंकरों—ऋषभनाथ और अरिष्टनेमि के नामों का उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है। वायु पुराण और भागवत पुराण में ऋषभ को नारायण का अवतार कहा गया है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि हड़प्पा की खुदाई में जो नग्न धड़ वाली मूर्ति मिली है, वह किसी तीर्थंकर की है। जैन परंपरा के अनुसार जैन धर्म अति प्राचीन है और उसमें एक के बाद एक चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ थे। हम ऋषभनाथ के बारे में बहुत ज्यादा नहीं जानते, सिवाय इसके कि वह एक राजा थे और उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र भरत के पक्ष में त्याग दिया था एवं फिर यति बन गए थे। कुछ पौराणिक परंपराओं में कहा गया है कि भारतवर्ष नाम उसी भरत के नाम पर पड़ा है जो ऋषभनाथ का पुत्र था। हम तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में थोड़ा अधिक जानते हैं। पार्श्व काशी के इक्ष्वाकु वंशीय राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उनकी माँ कौशस्थल के राजा नरवर्मन की पुत्री थी। उन्होंने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ले लिया था और फिर लगभग तीन महीने तक घोर चिंतन-मनन के बाद पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा फिर शेष जीवन

को एक धार्मिक शिक्षक के रूप में बिताते हुए सौ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त किया। वह चौबीसवें तीर्थंकर महावीर से 250 वर्ष पहले हुए थे। इस प्रकार उनका समय ई.पू. आठवीं शताब्दी माना जा सकता है।

वर्धमान महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। उनका जन्म वैशाली के पास *कुंडग्राम* में लगभग 540 ई.पू. में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रियों के ज्ञात्रक कुल के मुखिया थे और उनकी माँ त्रिशला वैशाली के एक प्रसिद्ध लिच्छवि शासक चेटक की बहन थीं। चेटक की बेटी मगध के राजा बिंबिसार से ब्याही थी।

कुछ जैन परंपराओं के अनुसार महावीर का विवाह यशोदा से हुआ था। प्रारंभ में वे एक गृहस्थ का जीवन जी रहे थे। उनकी एक पुत्री भी थी। किंतु अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वर्धमान अपना घर-बार त्यागकर तीस वर्ष की आयु में संन्यासी बन गए। अगले बारह वर्षों तक उन्होंने घोर तपस्या की। 42 वर्ष की आयु में उन्हें कैवल्य यानी परम ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्हें सुख-दुख के बंधनों से पूर्ण मुक्ति मिल गई। इसके बाद वे महावीर और जिन यानी विजेता कहे जाने लगे। उनके अनुयायियों को बाद में जैन कहा जाने लगा। आरंभ में उन्हें निर्ग्रंथ यानी ग्रंथियों (जीवन के सुख-दुख की बेड़ियों) से मुक्त कहा जाता था। महावीर ने अपने जीवन काल के शेष तीस वर्ष धर्मोपदेश में बिताए। ई.पू. 468 ई. पू. में पावापुरी में 72 वर्ष की आयु में उनका निधन (निर्वाण) हो गया।

वर्धमान महावीर ने पार्श्व के ये चार सिद्धांत स्वीकार किए : (1) अहिंसा यानी जीव हिंसा न करना; (2) अमृषा यानी झूठ न बोलना; (3) अपरिग्रह यानी संपत्ति अर्जित न करना; और (4) अस्तेय यानी चोरी न करना। इन चार सिद्धांतों में महावीर ने अपना एक पाँचवाँ सिद्धांत अर्थात् ब्रह्मचर्य यानी इंद्रियनिग्रह करना और जोड़ दिया। पूर्ण त्याग और परिग्रह से मुक्त होने के उदाहरणस्वरूप महावीर ने अपने अनुयायियों से अपने वस्त्र तक त्याग देने का आग्रह किया।

यद्यपि जैनों ने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया, सामान्यतया उन्होंने उसकी अवहेलना या उपेक्षा की। जैनों के मतानुसार संसार का निर्माण. अनुरक्षण अथवा विनाश ईश्वर द्वारा नहीं किया जाता, किंतु संसार की यह संपूर्ण प्रक्रिया एक विश्वव्यापी अथवा शाश्वत नियम के अनुसार चलती है। विश्व शाश्वत है। इसकी सत्ता *उत्सर्पिणी* और *अवसर्पिणी* वृत्तियों में विभाजित है। विश्व जीवात्माओं की पारस्परिक क्रिया के माध्यम से चलता है और संसार में सभी की एक आत्मा है। जीवन का प्रयोजन आत्मा का शुद्धिकरण है, शुद्ध आत्मा ही शरीर से मुक्त होकर परमानंद प्राप्त करती है। आत्माएँ पशुओं और पेड़-पौधों में ही नहीं, बल्कि पत्थरों, शिलाओं, जल आदि में भी पाई जाती हैं। जो आत्मा अंततः अपने आपको मुक्त कर लेती है, तुरंत विश्व के शिखर पर उच्चतम स्वर्ग से भी ऊपर पहुँच जाती है, जहाँ वह निष्क्रिय सर्वज्ञ परमानंद की शाश्वत स्थिति में रहती है। यह जैनों के लिए निर्वाण की अवस्था है।

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य सब कुछ त्याग दे, लंबे व्रत-उपवास करे, आत्म-यातना सहे, स्वाध्याय एवं चिंतन-मनन करे। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के लिए यति-जीवन आवश्यक है।

कहा जाता है कि चंद्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया था। जैन परंपरा के अनुसार, चंद्रगुप्त ने न केवल जैन धर्म स्वीकार किया, बल्कि उसने अपने राजसिंहासन का त्याग कर दिया और

दक्षिण भारत में एक जैन भिक्षु के रूप में रहते हुए उसकी मृत्यु हो गई।

अनुश्रुति के अनुसार, महावीर के निधन के लगभग दो सौ वर्ष बाद मगध में एक भीषण अकाल पड़ा। उस समय चंद्रगुप्त मौर्य वहाँ का राजा था और थेर भद्रबाहु जैन समुदाय का प्रधान था। तब वे दोनों अपने अनुयायियों के साथ कर्नाटक चले गए और जो जैन पीछे मगध में रह गए उनका भार स्थूलभद्र पर छोड़ गए। भद्रबाहु ने पाटलिपुत्र में एक जैन परिषद का आयोजन किया, जिसमें जैन धर्म के नियमों को व्यवस्थित किया गया। आगे चलकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी में एक बार फिर उन नियमों को व्यवस्थित किया गया।

जब जैन मुनि दक्षिण भारत से लौटे तो उन्होंने निर्णय किया कि पूर्ण नग्नता महावीर की शिक्षाओं का आवश्यक अंग रहनी चाहिए, जबकि पीछे मगध में रहे जैन मुनियों ने श्वेत वस्त्र पहनने शुरू कर दिए थे। इस प्रकार जैनों के दो संप्रदाय हो गए : श्वेतांबर (जो सफेद कपड़े पहनते हैं), और दिगंबर (जो एकदम नग्नावस्था में रहते हैं)। स्मरण रहे कि केवल मुनिगण ही श्वेत वस्त्र (श्वेतांबर) पहनने या अपने शरीर पर एक छोटा-सा कपड़ा भी न रखने यानी पूर्ण नग्न (दिगंबर) रहने जैसे कठोर नियम का पालन करते हैं, लेकिन जैन धर्म के दोनों संप्रदायों के अनुयायी (गृहस्थ) बाकायदा कपड़े पहनते हैं।

## बौद्ध धर्म

जैन धर्म की तरह, बौद्ध धर्म भी एक उच्च कुलीन क्षत्रिय महात्मा बुद्ध द्वारा ही स्थापित किया गया था। उनका जन्म 566 ई.पू. में शाक्य कुल में हुआ था। उनका पारिवारिक नाम गौतम था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य गणराज्य के राजा थे। उनकी माता का नाम मायादेवी था, जो उनके जन्म के सात दिन बाद ही चल बसी थीं। एक जनश्रुति के अनुसार यह कहा जाता है कि एक ज्योतिषी ने यह भविष्यवाणी की थी कि गौतम या तो एक महान चक्रवर्ती सम्राट होंगे या फिर एक महान संन्यासी। बचपन से ही गौतम का ध्यान आध्यात्मिक चिंतन की ओर था, जिससे चिंतित होकर उनके पिता ने छोटी आयु में ही उनका विवाह यशोधरा नामक एक सुंदर कन्या से कर दिया। यशोधरा से गौतम को एक पुत्र राहुल, प्राप्त हुआ, किंतु गौतम एक बार एक बूढ़े आदमी की दुर्दशा और फिर एक रोगी के कष्टों को देखकर द्रवित हो गए तथा जब उन्होंने एक मरे हुए आदमी को देखा तब तो वे घबरा गए। सांसारिक दुखों से दुखी होकर वे संन्यास की ओर आकर्षित हुए, फिर एक रात को उन्होंने अपना घर-बार, पत्नी और बच्चे तथा संपूर्ण सांसारिक जीवन को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। कुछ समय तक वे दो प्रसिद्ध शिक्षकों के दार्शनिक विद्यालयों में अध्ययन करते रहे। तदोपरांत छः वर्ष तक दत्तचित्त होकर चिंतन-मनन करने के बाद उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया। तब से वे बुद्ध अर्थात् प्रज्ञावान कहलाने लगे।

बुद्ध की शिक्षाओं के आधारभूत सिद्धांत में चार *आर्य-सत्य* (उदात्त सच्चाइयाँ) समाहित हैं, अर्थात् (1) दुख यानी संसार दुखमय है; (2) *दुख समुद्दय* यानी दुख उत्पन्न करने वाले कई कारण होते हैं; (3) *दुख निरोध*, यानी दुख को रोका जा सकता है; और (4) *दुख निरोध गामिनी-प्रतिपदा* यानी दुख को रोकने का एक मार्ग होता है। बुद्ध के अनुसार, लोग केवल *काम* (इच्छा या लालसा) के कारण दुख पाते हैं और काम पर विजय पाना ही दुखों से बचने का सुनिश्चित मार्ग है। भगवान बुद्ध के अनुसार मृत्यु

भी इन दुखों से छुटकारा नहीं दिला सकती, क्योंकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म के साथ ही दुखों का अंतहीन सिलसिला फिर शुरू हो जाता है, किंतु मनुष्य अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके इन दुखों एवं कष्टों की शृंखला से मुक्त हो सकता है और निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है। यह अष्टांगिक मार्ग है : (1) सम्यक् वाक्; (2) सम्यक् कर्मांत; (3) सम्यक् आजीव; (4) सम्यक् व्यायाम; (5) सम्यक् स्मृति; (6) सम्यक् समाधि; (7) सम्यक् संकल्प; और (8) सम्यक् दृष्टि। जीवन का अंतिम लक्ष्य निर्वाण यानी शांति और परमानंद की स्थिति प्राप्त करना है जिसका अर्थ है— जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति। कुछ स्थलों पर बुद्‌ध ने इस संपूर्ण प्रक्रिया को इन तीन शब्दों में सीमित कर दिया है : *शील* (सदाचार), *समाधि* (सम्यक् ध्यान) और *प्रज्ञा* (सम्यक् ज्ञान)। पहले दो गुणों से तीसरा गुण स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, जो कि निर्वाण यानी जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति पाने का प्रत्यक्ष कारण है। बुद्‌ध ने 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करने की वकालत की, जिसमें अति से बचने की व्यवस्था है।

प्रज्ञा प्राप्त होने के बाद बुद्‌ध ने काशी के पास मृगवन (आधुनिक सारनाथ) में पदार्पण किया और वहाँ अपना पहला उपदेश दिया, जिसे "धर्म चक्रप्रवर्तन" (धर्म प्रचार का प्रारंभ) कहा जाता है।

बुद्‌ध के उपदेशों में प्रचारित नैतिक सिद्‌धांत बहुत सरल थे; जैसे—**च** मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्णायक है, कोई देवी-देवता या ईश्वर नहीं। यदि वह अपने जीवन में सत्कर्म करता है तो वह अगले जन्म में उच्च्व जीवन प्राप्त करता है। जब वह उत्तरोत्तर अनेक जन्मों में सत्कर्म करता जाता है तो अंततः निर्वाण यानी जन्म के कष्टों से मुक्ति पा जाता है। दूसरी ओर, दुष्कर्मों का दंड अवश्य मिलता है और हर जन्म में अधोगति को प्राप्त होता हुआ मनुष्य निर्वाण से दूर और दूर हटता जाता है। मनुष्य को दोनों प्रकार की अति यानी एक ओर भोग-विलास के जीवन से और दूसरी ओर अत्यंत कठोर तपस्वी जीवन से भी दूर रहना चाहिए— मध्यम मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। सामान्य नैतिक नियमों; जैसे— सच बोलना, दान देना, तन-मन को शुद्‌ध रखना और काम-क्रोधादि मनोवेगों पर नियंत्रण रखना आदि के अतिरिक्त बौद्‌ध धर्म ने प्रेम, दया, धृति (धैर्य) और सभी प्राणियों के प्रति वैचारिक, शाब्दिक और कार्मिक अहिंसा पर बल दिया। बौद्‌ध धर्म ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए वैदिक कर्मकांड और अनुष्ठान-विधियों की प्रभावकारिता को अस्वीकार किया और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को भी नहीं माना।

बुद्‌ध के अनुयायी दो श्रेणियों में विभाजित हैं : उपासक यानी साधारण अनुयायी जो गृहस्थ जीवन में रहते हैं, और भिक्षु (बौद्‌ध संन्यासी), जो संसार को त्याग कर संन्यासी का जीवन बिताते हैं। ये भिक्षु संघों में रहते हैं, जिनकी स्थापना प्रारंभ में स्वयं बुद्‌ध ने की थी। स्त्रियों को भी संघ में प्रवेश दिया जाता था और उन्हें भिक्षुणी कहा जाता था। बौद्‌ध धर्म में सभी अनुयायियों को समान अधिकार प्राप्त होते थे, चाहे वे किसी भी वर्ण या जाति के हों। इसके अलावा बुद्‌ध ने आम लोगों की भाषा में उपदेश दिया। बुद्‌ध और उनके अनुयायी वर्ष में आठ महीने तक स्थान-स्थान पर जाकर धर्मोपदेश देते थे और चौमासे (वर्षा ऋतु के चार महीनों) में एक स्थान पर टिके रहते थे।

ई.पू. 486 में कुशीनगर में बुद्‌ध का निर्वाण (निधन) हो गया। उस समय उनकी आयु 80 वर्ष की थी। दाह-संस्कार के बाद बुद्‌ध की अस्थियों (भस्म)

को उनके अनुयायियों में बाँट दिया गया। इन अस्थियों को कलशों में रखकर उन अस्थि-कलशों पर स्तूप बना दिए गए। साँची स्तूप ऐसे ही स्तूपों का एक उदाहरण है।

महावीर और गौतम बुद्ध दोनों समकालीन थे एवं इन दोनों के धर्मोपदेशों में उल्लेखनीय समानताएँ पाई जाती हैं। दोनों ने ही अपना धर्मोपदेश निस्संकोच इस मान्यता के साथ प्रारंभ किया कि यह संसार दुखों से भरा है और मनुष्य के मोक्ष यानी निर्वाण का अर्थ है : जीवन-मरण के शाश्वत चक्र से उसकी मुक्ति; दोनों ने ही अपने बुनियादी सिद्धांतों को उपनिषदों से ग्रहण किया। दोनों ने ही ईश्वर के विचार (अस्तित्व) को स्वीकार नहीं किया; दोनों ने ही शुद्ध और नैतिक जीवन, विशेषतः जीव-दया या अहिंसा पर बल दिया; दोनों ने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य के भावी जन्मों पर उसके सत्कर्मों और दुष्कर्मों का प्रभाव पड़ता है और अंततः उसे निर्वाण प्राप्ति इन्हीं कर्मों पर निर्भर करती है; दोनों ने जाति-व्यवस्था की निंदा की; दोनों ने अपने धर्म का उपदेश आम लोगों की भाषा में दिया और अंत में दोनों ने ही संसार को त्याग देने के विचार को प्रोत्साहन दिया और भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के संघ का गठन किया, लेकिन हम उन दोनों के ऐतिहासिक उद्भव में उनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ पाते हैं। मोक्ष या निर्वाण तथा कुछ अन्य विषयों में भी उनकी आधारभूत धारणाओं में अंतर पाया जाता है जिनका स्पष्टीकरण हम यह कहकर नहीं दे सकते कि यह अंतर तो बाद में जोड़ा गया है। उदाहरण के लिए, आत्मा के विषय में जैनों की संकल्पना बौद्धों की संकल्पना से भिन्न है। दूसरे, जैन धर्म ने यति धर्म तपस्या (asceticism) पर अधिक बल दिया और बड़ी कठोरतापूर्वक उसका पालन किया, जबकि बुद्ध ने इसकी निंदा की और अपने शिष्यों से मध्यम मार्ग का अनुसरण करने को कहा; यानी वे न तो भोग-विलास पूर्ण जीवन बिताएँ और न ही कठोर तपस्या का जीवन बिताएँ बल्कि उन दोनों स्थितियों के बीच का रास्ता अपनाएँ। इसके अलावा, बुद्ध ने बाहर निर्वस्त्र होकर जीवन जीने की पद्धति की भर्त्सना की और प्राणियों के प्रति अहिंसा की जैन अभिवृत्ति बौद्धों के मुकाबले बहुत ही अतिवादी थी।

यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म पाँच सौ वर्षों के भीतर विश्व के अन्यान्य भागों में तेजी से फैल गया, किंतु जैन धर्म भारत की सीमा से बाहर कभी नहीं फैला। दूसरी ओर, बौद्ध धर्म अपने उद्गम के देश (भारत) में बहुत-कुछ मिट गया, लेकिन जैन धर्म का भारत में अब भी जोर है और काफी बड़े जन-समुदाय पर उसका प्रभाव एवं वर्चस्व स्थापित है।

## अभ्यास

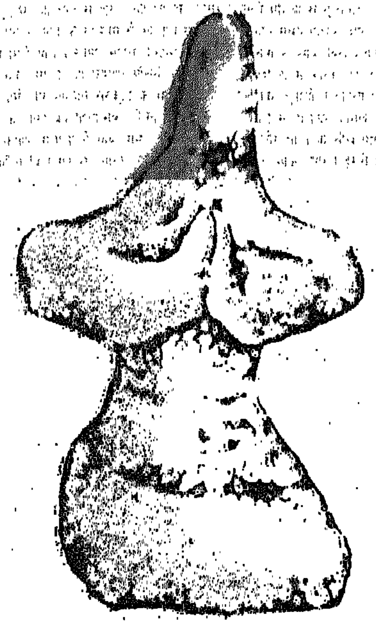
1. निम्नलिखित को स्पष्ट करें :
   तीर्थंकर, *निर्वाण*, *जिन*, *अष्टांगिक मार्ग*, *संघ*, *भिक्षु*।
2. ईसा पूर्व छठी शताब्दी को भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण काल-बिंदु क्यों मानते हैं?
3. जैन तीर्थंकरों का वर्णन करें। उनकी मुख्य शिक्षाएँ कौन-कौन-सी हैं?
4. बौद्ध धर्म की मुख्य शिक्षाओं का वर्णन करें।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) वर्धमान महावीर
   (ii) गौतम बुद्ध
   (iii) आजीविक
6. जैन धर्म और बौद्ध धर्म की समानताएँ और अंतर बताएँ।

**करने के लिए कार्य**

- भारत के रेखा मानचित्र में, जैन धर्म और बौद्ध धर्म से संबद्ध महत्त्वपूर्ण स्थानों को दर्शाएँ। इन स्थानों से जुड़ी घटनाओं का वर्णन करें।

**अध्याय 13**

# महाजनपदों से नंदों तक



**संस्कृत के महान वैयाकरण पाणिनि के उल्लेखानुसार, ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक लगभग 22 भिन्न-भिन्न जनपद स्थापित हो चुके थे, जिनमें से तीन अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। ये थे : मगध, कोसल और वत्स।**

## महाजनपद

**सुनने** में आया है कि उत्तर-वैदिक काल में ही अनेक जनपद और महाजनपद स्थापित हो चुके थे। आंध्र, पुलिंद, शबर और पुंड्र जैसे लोगों के साथ-साथ, कम-से-कम नौ जनपदों के नाम वैदिक साहित्य में दिए गए हैं। हालांकि, ईसा पूर्व छठी शताब्दी के समय तक, पाणिनि ने कोई 22 भिन्न-भिन्न जनपदों का उल्लेख किया है, जिनमें से तीन यानी मगध कोसल और वत्स अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। प्रारंभिक बौद्ध और जैन साहित्य से इनकी अधिक स्पष्ट तस्वीर उभरती है। उनमें सोलह महाजनपदों की सूची मिलती है, तथापि भिन्न-भिन्न ग्रंथों में उनके नामों में थोड़ा-बहुत अंतर पाया जाता है। कुल मिलाकर उनकी संख्या एक-जैसी ही है, पर भिन्न-भिन्न सूचियों में उनके नाम अलग-अलग हैं। संभवतः इस अंतर का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न समय पर राजनीतिक परिस्थितियाँ बदलती रही हैं और सूची-निर्माता की जानकारी भी भौगोलिक निकटता अथवा दूरी के कारण कम या ज्यादा हो सकती है। *अंगुत्तर निकाय* के अनुसार निम्नलिखित महाजनपद थे :

(1) अंग (जिसमें आज के बिहार के मुंगेर और भागलपुर जिले शामिल थे), जिसकी राजधानी चंपा थी; (2) मगध (जिसमें पटना, गया और शाहाबाद जिले के कुछ भाग शामिल थे), जिसकी राजधानी पहले राजगृह अथवा गिरिव्रज थी; (3) वज्जि (आठ गणतांत्रिक कुलों का एक परिसंघ जो बिहार में गंगा नदी के उत्तर में स्थित था), जिसकी राजधानी वैशाली थी; (4) मल्ल (यह भी एक गणसंघ था और इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के आधुनिक जिले देवरिया, कुशीनगर, बस्ती, गोरखपुर और सिद्धार्थनगर आते थे), जिसकी दो राजधानियाँ रहीं— कुशीनारा और पावा; (5) काशी, जिसकी राजधानी वाराणसी थी. (6) कोसल (जिसमें आज के जिले फैजाबाद, गोंडा. बहराइच आदि शामिल थे), जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी; (7) वत्स (जिसमें आधुनिक जिले इलाहाबाद और मिर्जापुर आदि शामिल थे), जिसकी राजधानी कौशाम्बी थीं; (8) चेदि, (जिसमें आधुनिक बुंदेलखंड का क्षेत्र शामिल था), जिसकी राजधानी शुक्तिमती थी; (9) कुरु (जिसमें आधुनिक हरियाणा और दिल्ली का यमुना के पश्चिम में स्थित क्षेत्र शामिल था), जिसकी राजधानी इंद्रप्रस्थ (आधुनिक दिल्ली) थी; (10) पांचाल (जिसमें पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यमुना नदी के पश्चिम की ओर कोसल जनपद तक स्थित क्षेत्र शामिल था), जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी; (11) शूरसेन (जिसमें ब्रजमंडल शामिल था), जिसकी राजधानी मथुरा थी; (12) मत्स्य (जिसमें राजस्थान का अलवर, भरतपुर और जयपुर का क्षेत्र शामिल था); (13) अवंति (आधुनिक मालवा), जिसकी राजधानी उज्जयिनी और महिष्मती थी; (14) अश्मक (जो नर्मदा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित था), जिसकी राजधानी पोटन थी; (15) गांधार (पाकिस्तान का पश्चिमी और अफगानिस्तान का पूर्वी क्षेत्र), जिसकी राजधानियाँ तक्षशिला और पुष्कलावती थीं; और (16) कंबोज (पाकिस्तान का आधुनिक हजारा जिला)।

स्पष्ट है कि सोलह महाजनपदों की इस सूची में भारत का उतना ही क्षेत्र शामिल है, जो पूर्व में बिहार से पश्चिम में अफगानिस्तान तक और उत्तर में हिंदुकुश से दक्षिण में गोदावरी नदी तक फैला हुआ है। इसमें बंगाल और पूर्वी भारत के विस्तृत क्षेत्र और व्यावहारिक रूप में संपूर्ण दक्षिण भारत शामिल नहीं है, लेकिन ये ही बौद्ध ग्रंथ संपूर्ण भारत

की जानकारी भी देते हैं। *दीघ निकाय* के *महागोविंद सुत्त* में भारत की आकृति का वर्णन करते हुए उसे उत्तर में आयताकार और दक्षिण में त्रिभुजाकार, एक बैलगाड़ी की तरह बताया गया है। बौद्ध निकायों में भारत के पाँच भागों, यानी उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भाग), मध्य देश (बीच का भाग), प्राची (पूर्वी भाग), दक्षिणापथ (दक्षिणी भाग) और अपरांत (पश्चिमी भाग) का उल्लेख मिलता है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि भारत की भौगोलिक एकता ईसा पूर्व छठी शताब्दी से भी पहले परिकल्पित की जा चुकी थी। यदि हम जैन ग्रंथ *भगवती सूत्र* और *सूत्र कृतांग*, महान वैयाकरण पाणिनि की *अष्टाध्यायी* (ईसा पूर्व छठी शताब्दी), *बौधायन धर्मसूत्र* (ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी) और *महाभारत* में उपलब्ध जनपद सूची पर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि उत्तर में हिमालय पर्वतमाला से दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में गांधार प्रदेश से पूर्व में बंगाल और असम तक का संपूर्ण भारत इन जनपदों से आच्छन्न था। कौटिल्य (चौथी शताब्दी ई.पू.) ने एक चक्रवर्ती सम्राट के अंतर्गत संपूर्ण देश की राजनीतिक एकता की परिकल्पना की थी और चक्रवर्ती राज्य की परिभाषा में उत्तर में हिमालय से दक्षिण में महासागर तक के समूचे क्षेत्र को शामिल किया था। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक चलन में रहे आहत-सिक्कों (पंचमार्क सिक्कों) के वितरण यानी फैलाव के क्षेत्र से पता चलता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक समस्त भारत के लिए एक ही मुद्रा प्रचलित थी। यह तथ्य संपूर्ण देश के राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण को दर्शाता है।

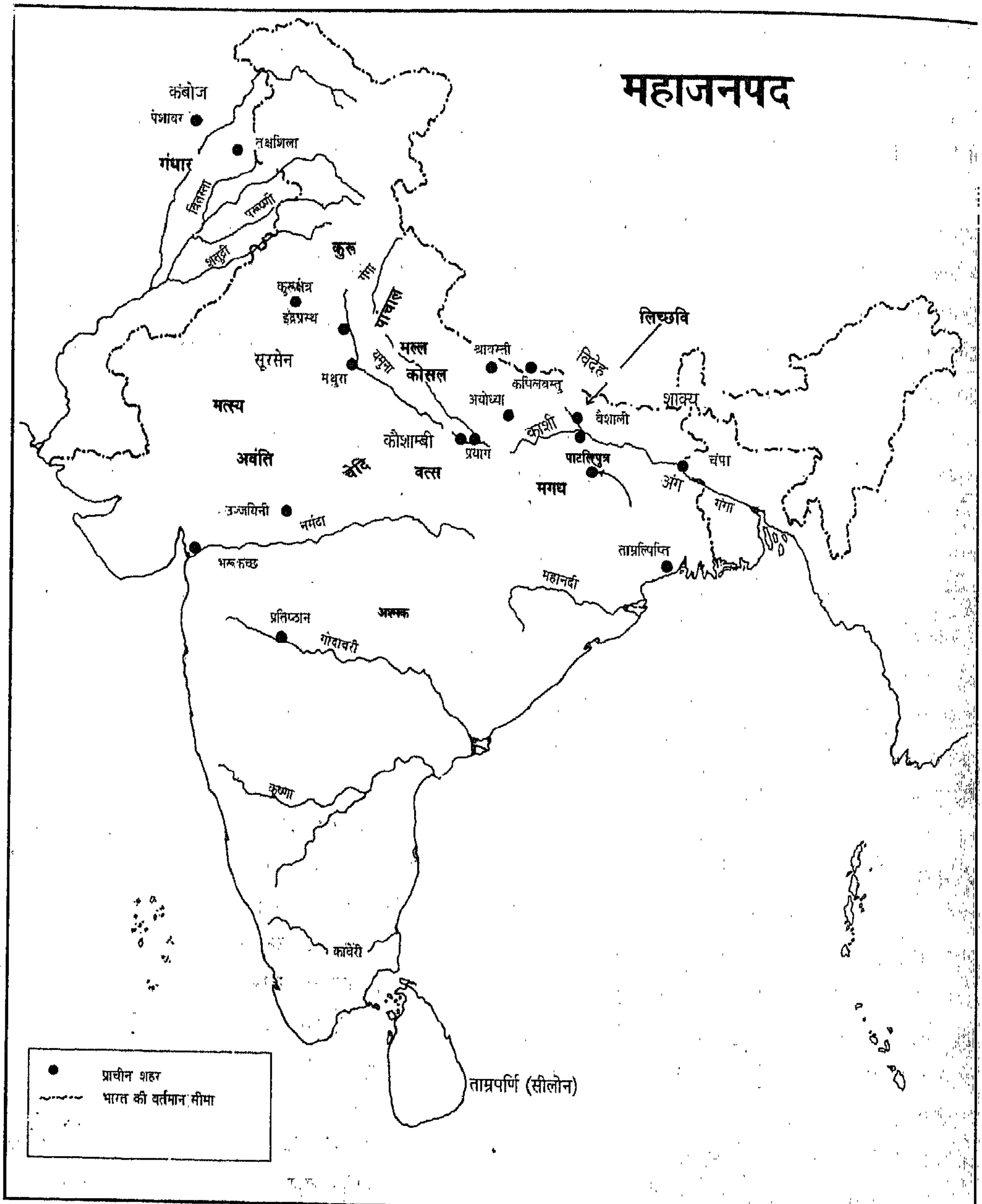
बौद्ध साहित्य यह दर्शाता है कि कुछ जनपदों में राजतंत्रीय प्रणाली चलती थी। प्रत्येक जनपद में शासकों का एक अपना स्वतंत्र राजवंश होता था। चंद्रगुप्त मौर्य (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) के राजदरबार में रहे, यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि उसने 151 पीढ़ियों के उन राजाओं की वंशावली देखी थी, जिन्होंने लगभग 6,051 (या 6,015) वर्षों तक राज किया था। इस दौरान, मगध ने गणतंत्र-प्रणाली का तीन बार प्रयोग किया था। मेगस्थनीज़ की पुस्तक *इंडिका* का यह उद्धरण पुराणों में सुरक्षित, महाभारत युद्ध के बाद की राजवंशावली के अनुरूप है।

महाजनपदों की सूची के साथ-साथ, हम बुद्ध के समय के अनेक सुप्रसिद्ध नगरों के नाम भी पाते हैं; जैसे— चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और काशी। ये नगर अधिकतर महाजनपदों की राजधानियाँ थे।

राजतंत्रात्मक राज्यों के अलावा, गणतंत्रात्मक राज्य भी थे, जिन्हें *गणसंघ* कहा गया है। बौद्ध-ग्रंथों से पता चलता है कि बुद्ध के समय ऐसे बहुत से गणतंत्रात्मक राज्य थे। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण गणराज्यों के नाम हैं :

(1) कुशीनारा के मल्ल,
(2) पावा के मल्ल,
(3) कपिलवस्तु के शाक्य,
(4) रामग्राम के कोलिय,
(5) पिप्पलिवन के मोरिय,
(6) अलकप्प के बुलि,
(7) केसपुत्त के कलाम,
(8) सुमसुमारगिरि के भग्ग,
(9) वैशाली के लिच्छवि।

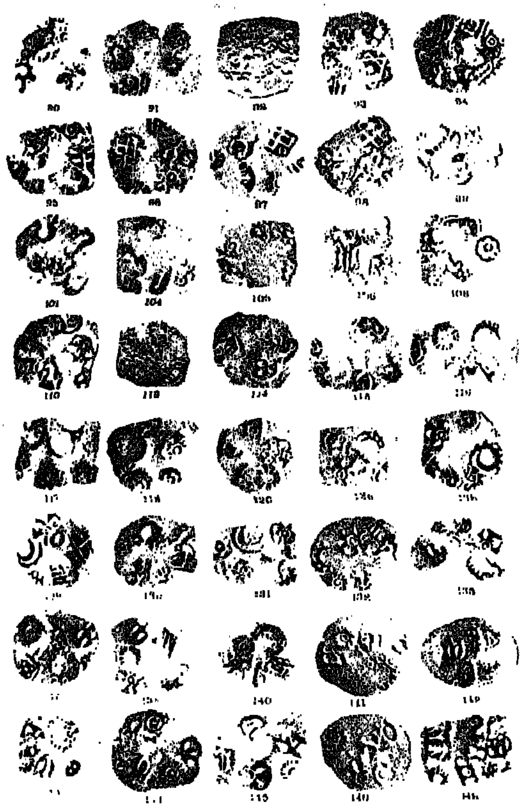
बौद्ध ग्रंथ मल्लों के नौ गणों और काशी के नौ गणों के बारे में भी बताते हैं। इन्होंने मगध के आक्रमण के विरुद्ध वज्जियों का साथ दिया था। कुशीनारा और पावा के मल्ल इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय थे। *दिव्यावदान* के अनुसार कदाचित् बुद्ध के समय




*आकृति 13.1* महाजनपदों का मानचित्र

में मल्ल दो शाखाओं में बँटे हुए थे। उनमें से एक शाखा थी कुशीनारा (कुशीनगर) और दूसरी पावा (पूर्वी उत्तर प्रदेश में पडरौना)। शायद उन्होंने नौ गणराज्यों का एक संघ भी बनाया था।

कपिलवस्तु के शाक्य भी इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय थे। कपिलवस्तु (आज का पिपरहवा) था, जो नेपाल की सीमा पर उत्तर प्रदेश के सिद्धार्थनगर जिले में स्थित है। गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य परिवार में हुआ था और शुद्धोदन शाक्यों का राजा था। रामग्राम के कोलिय शाक्यों के पूर्वी पड़ोसी थे।



***आकृति 13.2*** *आहत सिक्के*

पिप्पलिवन के मोरिय भी अपने आपको क्षत्रिय कहते थे। *महावंश* के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य इसी क्षत्रिय कुल का था।

अलकप्प के बुलियों, केसपुत्त के कलामों और सुमसुमारगिरि के भग्गों के बारे में हमें अधिक जानकारी नहीं है।

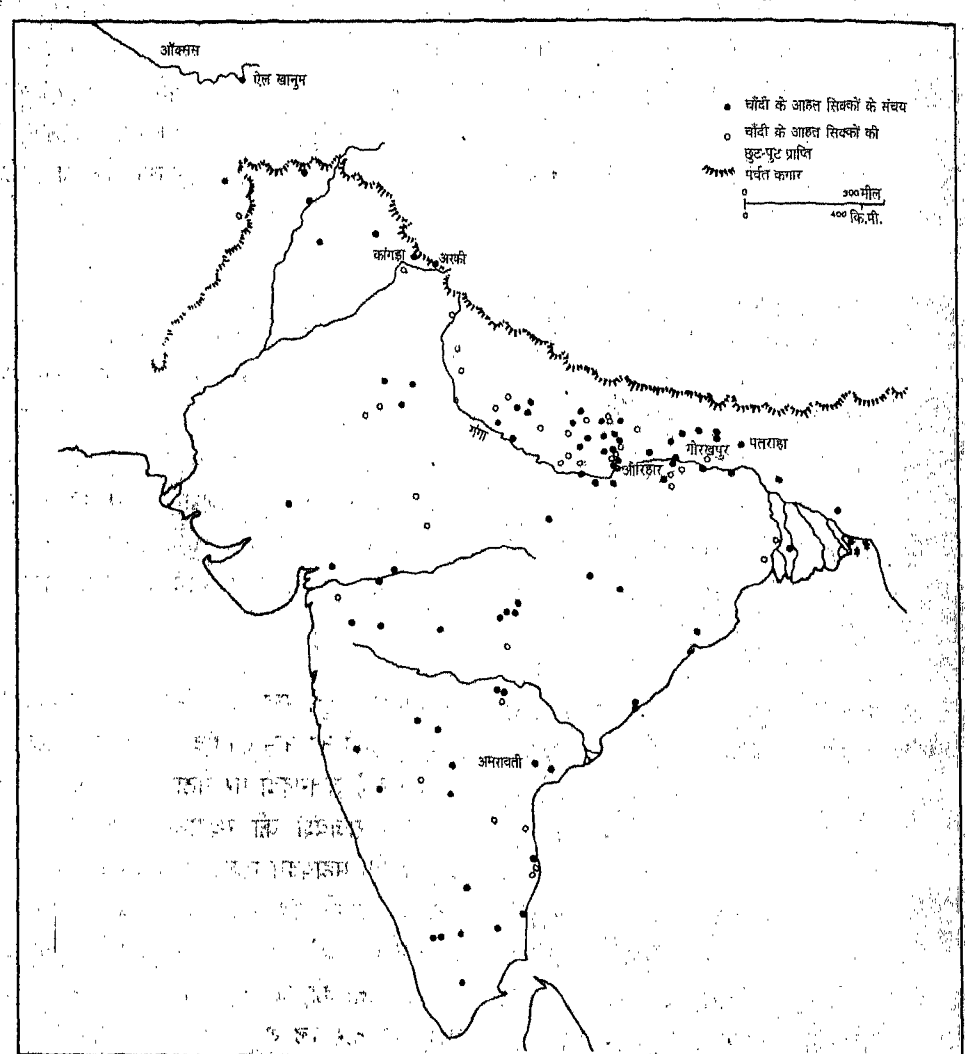
बुद्ध के समय में वज्जि सबसे महत्त्वपूर्ण गणराज्य था। यह गणराज्य गंगा के उत्तर की ओर बसा हुआ था, जबकि मगध दक्षिण की ओर स्थित था। वज्जि आठ गणों का संघ था, जिसमें लिच्छवि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्हें *अष्टकुलिक* कहा जाता था। वज्जि, लिच्छवि, विदेह और ज्ञात्रक महत्त्वपूर्ण कुल थे। जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म ज्ञात्रक कुल में हुआ था। बुद्ध के समय में लिच्छवि गण, चेटक के नेतृत्व में, वज्जि संघ का सबसे प्रमुख गणराज्य था। वे क्षत्रिय भी कहलाते हैं। मगध के राजा अजातशत्रु ने वज्जियों को परास्त करके उनके गणराज्य को मगध साम्राज्य में मिला लिया था।

## मगध का उदय

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जिन चार महत्त्वपूर्ण राज्यों ने प्रसिद्धि प्राप्त की, वे थे : मगध के हर्यंक, कोसल के इक्ष्वाकु, वत्स के पौरव और अवंति के प्रद्योत। हर्यंक एक नए वंश का नाम था, जिसकी स्थापना बृहद्रथों को परास्त करने के बाद बिंबिसार द्वारा मगध में की गई थी। प्रद्योतों को यह नाम इसलिए दिया गया था, क्योंकि इस वंश के संस्थापक का नाम प्रद्योत था। दो अन्य वंश तो पुराने राजवंश ही थे। यह एक रोचक तथ्य है कि *महाभारत* में जिन प्रसिद्ध राज्यों— कुरु-पांचाल, काशी और मत्स्य का उल्लेख है, वे इस काल में भी मौजूद थे, हालांकि उनकी गिनती अब छोटी शक्तियों में की जाती थी।

इन राज्यों के बहुत-से राजाओं में परस्पर वैवाहिक संबंध हो चुके थे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें आपस में लड़ाइयाँ नहीं होती थीं। उपर्युक्त चारों प्रमुख राजवंशों ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने और छोटे राज्यों को हड़पने का प्रयत्न किया था।

उदाहरणार्थ, जनश्रुति के अनुसार अवंति के राजा प्रद्योत की, कौशाम्बी के राजा उदयन से लड़ाई




*आकृति 13.3 चाँदी के आहत सिक्कों का वितरण*

हुई थी। हालांकि उदयन उसका जामाता था और एक अन्य समय उसने मगध की राजधानी राजगृह पर हमला बोला था। कोसल के राजा प्रसेनजित ने काशी को अपने अधीन कर लिया था और उसके पुत्र ने बाद में कपिलवस्तु के शाक्य राज्य को जीत लिया था। इसके अलावा, मगध के राजा बिंबिसार ने अंग को अपने राज्य में मिला लिया था और उसके पुत्र अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों को जीत लिया था। ये सभी राजा-प्रद्योत, उदयन, बिंबिसार और प्रसेनजित ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे।

ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में, संभवतः पौरव और प्रद्योत गण प्रभुसत्ता की होड़ से हट गए थे और अब मगध के हर्यंकों और कोसल के इक्ष्वाकुओं ने अखाड़ा संभाल लिया था। परिणामस्वरूप, प्रसेनजित और अजातशत्रु के बीच एक भयंकर संघर्ष लंबे समय तक चलता रहा और हालांकि काफी समय तक इसका कोई परिणाम नहीं निकला पर अंततोगत्वा मगध राज्य को विजयश्री प्राप्त हुई। इसके बाद तो मगध उत्तर भारत में सर्वोच्च शक्ति का अधिष्ठान बना रहा और अंततः चरमोत्कर्ष प्राप्त करते हुए उन विशालतम साम्राज्यों की श्रेणी में विराजमान हो गया, जो अब तक भारत के इतिहास में दृष्टिगोचर हुए हैं। अजातशत्रु मगध के प्रभुत्व का संस्थापक था। लगभग 475 ई. पू. में उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उदयी (उदायिन) राज्य सिंहासन पर बैठा। परंपरागत जनश्रुति के अनुसार, उसी ने मगध की नई राजधानी पाटलिपुत्र स्थापित की। जैसा कि महाकाव्य साहित्य में कहा गया है : राजगृह, जो अब पटना जिले में राजगीर के अवशेषों के रूप में विद्यमान है, मगध राज्य की राजधानी के रूप में काम देता रहा। जब अजातशत्रु लिच्छवियों के विरुद्ध लड़ रहा था, उसने पाटलिग्राम में जो कि गंगा और सोन नदी के संगम पर बसा था, प्रतिरक्षा के लिए एक दुर्ग बनवाया था। उस दौरान उस स्थान के सामरिक महत्व ने मगध के दूरदर्शी नरेश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया होगा और जाहिर है, इसीलिए उदयी ने अपने साम्राज्य की राजधानी बनाने के लिए इसे अधिक उपयुक्त स्थान माना होगा, क्योंकि उस समय तक मगध साम्राज्य की सीमाएँ सभी दिशाओं में दूर-दूर तक फैल चुकी थीं।

## शिशुनाग

बौद्ध परंपरागत साहित्य के अनुसार, उदयी और उसके तीनों उत्तराधिकारी शासन-कार्य के लिए अयोग्य साबित हुए। इसलिए जनता को उनसे घृणा उत्पन्न हो गई और उन्होंने शिशुनाग को, जो अंतिम राजा का मंत्री था, राजा के रूप में चुन लिया। पुराणों में कहा गया है कि शिशुनाग उस राज-परंपरा/वंश का संस्थापक था, जिसमें बिंबिसार उत्पन्न हुआ था और इसीलिए इसे शिशुनाग वंश कहा जाता है

## नंद वंश

शिशुनाग के पुत्र एवं उत्तराधिकारी कालाशोक के बाद महापद्म नंद नाम का एक नाई (कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार) राजगद्दी पर बैठा। उसने नंद नाम के एक नए राजवंश की स्थापना की। ऐसा प्रतीत होता है कि महापद्म एक महान सैनिक प्रतिभा का धनी था। उसने लंबे समय से यश का उपयोग कर रहे क्षत्रिय राज-परिवारों; जैसे— पौरवों, इक्ष्वाकुओं और प्रद्योतों को, जो कौशाम्बी, कोसल और अवंति में शासन कर रहे थे, पराजित कर सदा के लिए नष्ट कर दिया और अधिकांश उत्तर भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार,

बिंबिसार तथा अजातशत्रु द्वारा प्रारंभ किए गए विजयाभियान में बराबर प्रगति होती गई।

## विदेशी आक्रमण

### भारतीय सीमा-प्रदेश पर फारसियों की विजय

उस काल में भारत के पश्चिमी सीमा-प्रदेश पंजाब, सिंध और अफगानिस्तान में कोई सबल राजनीतिक सत्ता नहीं थी। साहित्य में उल्लिखित सोलह महाजनपदों में से केवल दो, कंबोज और गांधार, इस बाहरी क्षेत्र में रखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उस क्षेत्र में अनेक छोटे-छोटे रजवाड़े थे, जो स्वतंत्र प्रायः आपस में लड़ते रहते थे और इसलिए वे आसानी से किसी भी बाहरी आक्रमणकारी के शिकार बन सकते थे।

फारस (ईरान) के शक्तिशाली हखामनी (ऐकीमेनियन) शासकों की आँखें स्वाभाविक रूप से इस क्षेत्र पर थीं और संभवतः साइरस (558-530 ई.पू.) ने हिंदुकुश पर्वत श्रेणियों के दक्षिण में रहने वाले अनेक रजवाड़ों को अपने अधीन कर लिया। लेकिन इसके बाद डेरियस/दारयवहु (522-486 ई.पू.) के शासन काल में हमें भारत के पश्चिमोत्तर भाग में हखामनी शासन के विस्तार के स्पष्ट साक्ष्य मिलते हैं। इस राजा के दो उत्कीर्ण लेखों में हिदु (हिंदू) को उसके राज्य का हिस्सा बताया गया है। इस शब्द का अर्थ ठीक से मालूम नहीं है, लेकिन इसका तात्पर्य किसी ऐसे प्रदेश से अवश्य है, जो सिंधु नदी के पूर्व में स्थित हो और जिसे डेरियस ने 518 ई.पू. के आसपास जीता हो। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस का कहना है कि 517 ई.पू. में डेरियस ने सिंधु नदी की घाटी की खोज करने के लिए एक नौ-अभियान भेजा था।

भारत में यह फारसी/ईरानी शासन कितने दिन रहा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके 330 ई.पू. के आसपास तक जारी रहने की बात आमतौर पर इस धारणा पर आधारित है कि भारतीय सैनिक उस हखामनी सेना में शामिल थे, जिसने जर्क्सीज (xerxes) के समय (486-465 ई.पू.) में यूनान पर विजय प्राप्त की थी और 330 ई.पू. में गौगमेला नामक स्थान पर सिकंदर के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी। लेकिन इसे किसी भी तरह सुनिश्चित निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारतीय सैनिक उस सेना में अन्यथा भी रह सकते थे।

### सिकंदर का आक्रमण

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में, यूनानी और फारसी/ईरानी पश्चिम एशिया पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए आपस में लड़े थे। सिकंदर के हाथों हखामनी राजा डेरियस तृतीय की पराजय ने स्थिति में एकदम परिवर्तन ला दिया। सिकंदर ने फारसी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और ईरान तथा इराक सहित अधिकांश पश्चिमी एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इसके बाद उसने भारत की ओर ध्यान दिया। फारसी साम्राज्य को जीतने के बाद सिकंदर 326 ई.पू. में खैबर दर्रे को पार करते हुए भारत में घुस आया।

यह जान लेना आवश्यक होगा कि भारत पर सिकंदर के अभियान का इतिहास यूनानी और रोमन स्रोतों में उपलब्ध वृत्तांतों के आधार पर ही लिखा गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि किसी भी भारतीय स्रोत में सिकंदर अथवा उसके अभियान के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

आश्चर्यजनक तथ्य है कि एक ओर तो यूनानी भारत पर सिकंदर के अभियान का वृत्तांत

बहुत विस्तार से देते हैं, लेकिन दूसरी ओर वे कौटिल्य के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखते, यानी बिलकुल चुप हैं। हालांकि, यूनानी स्रोतों के सैंड्रोकोटस या ऐंड्रोकोटस और चंद्रगुप्त मौर्य को एक ही व्यक्ति मान लेना और चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तारीख को 326 ई.पू. निर्धारित करना, भारतीय इतिहास के तिथिक्रमिक ढाँचे का मुख्याधार बन गया है।

जब सिकंदर भारत की भूमि पर पहुँच गया तो तक्षशिला (पंजाब में रावलपिंडी के पास) का राजा उसकी सहायता करने के लिए उसके पास जा पहुँचा। केवल एक-दो अन्य भारतीय रजवाड़ों ने तक्षशिला के इस हेय उदाहरण का अनुकरण किया। अफगानिस्तान, पंजाब और सिंध के अधिकांश राजाओं और गणराज्य प्रमुखों ने उसका डटकर मुकाबला किया, लेकिन वे असफल रहे। इस तथ्य के बावजूद कि ये छोटे-छोटे रजवाड़े सिकंदर की अनुभवी सेनाओं की तुलना में बहुत कमजोर थे और यह भली-भांति जानते थे कि उनके जीतने की संभावना रंचमात्र भी नहीं थी, फिर भी उन्होंने बिना लड़े घुटने टेकना स्वीकार नहीं किया। यूनानी लेखकों ने इनमें से अधिकांश रजवाड़ों की वीरता और देशभक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

हिंदुकुश पार करने के बाद, सिकंदर ने अपनी सेना को दो भागों में बाँट दिया। एक भाग को उसने अपनी कमान में रखा, जबकि दूसरे भाग को अपने दो सर्वोत्तम सेनापतियों की कमान में रख दिया। सिकंदर ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग को जीतने का काम अपने जिम्मे रखा। यूनानियों को हस्ती नामक एक कबाइली सरदार से कड़ा प्रतिरोध सहना पड़ा। हस्ती की राजधानी पुष्कलावती थी। यूनानियों ने पुष्कलावती को घेर लिया। हस्ती ने पूरे 30 दिन तक इस घेरे का मकाबला किया और अंत में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी सेना भी अंतिम सैनिक के जीवित रहने तक आक्रमणकारी से वीरतापूर्वक लड़ती रही। जब असिकनोई (**assakenoi**) नरेश लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ तब तो उसकी वीरांगना रानी ने सेना की कमान संभाल ली। "वे अंत तक अपने देश को बचाने के लिए कृतसंकल्प थे।" अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उनमें इतना उत्साह कूट-कूटकर भरा था कि नारियाँ भी रणक्षेत्र में कूद पड़ीं। और तो और, भाड़े के सैनिकों ने भी "अपयशपूर्ण जीवन की अपेक्षा यशस्कर मृत्यु को वरण करना श्रेष्ठ समझा।" कई दिनों के वीरतापूर्ण प्रतिरोध को सहने के बाद, सिकंदर राजधानी मसागा (**massaga**) पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सका। सिकंदर ने स्वयं 7,000 सैनिकों की भाड़े की सेना के साथ एक विशेष करार किया और उसके अंतर्गत उन्हें जीवन-दान दे दिया, लेकिन सिकंदर के सैनिकों ने और स्वयं सिकंदर ने भी उन सैनिकों को रात के अंधेरे में घेरकर निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार दिया। स्वयं यूनानी लेखकों द्वारा भी इस बर्बरतापूर्ण हत्याकांड की घोर निंदा की गई है।

असिकनोई और अन्य रजवाड़ों को हराने के बाद सिकंदर अपनी सेना के दूसरे भाग के साथ मिल गया। अटक से लगभग 24 किलोमीटर ऊपर की ओर स्थित ओहिंद के पास सिंधु नदी पर एक पुल बनाया गया। सिंधु को पार करके सिकंदर तक्षशिला की ओर बढ़ा। जब वह तक्षशिला से लगभग 7 किलोमीटर दूर था, तभी वहाँ का राजा आंभि सिकंदर की अगवानी में वहाँ आ पहुँचा और उसने सिकंदर की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली।

हालांकि, पश्चिमोत्तर भारत के राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली राजा उस प्रदेश का शासक था, जिसका राज्य झेलम और चिनाब के बीच स्थित था,

जिसे यूनानी पोरस कहते हैं, यह नाम शायद पौरव का बिगड़ा हुआ रूप है। जब उसे सिकंदर के दूत बुलाने आए तो उसने गर्व से उत्तर दिया कि वह सिकंदर से अवश्य मिलेगा, मगर अपने राज्य की सीमा पर और वहाँ भी अपने शस्त्रों के साथ। सिकंदर ने भी उससे लड़ने के लिए पूरी तैयारी की। स्मरण रहे कि पोरस एक छोटे से राज्य का शासक था और उसके राज्य का क्षेत्रफल आधुनिक पंजाब के एक जिले से भी बड़ा न होगा। पोरस बड़ी बहादुरी से लड़ा, उसके शरीर पर नौ घाव लगे, और उसे बंदी बनाकर सिकंदर के सामने पेश किया गया। सिकंदर ने उससे पूछा "कहो, तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाए।" पोरस ने तत्काल गर्व के साथ उत्तर दिया— "जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।" शूरवीर पोरस के इस उत्तर से प्रभावित होकर सिकंदर ने उसका राज्य उसे वापस लौटा दिया और "5,000 नगरों तथा असंख्य गाँवों सहित 15 गणराज्य" के राज्य क्षेत्र को उसे सौंपते हुए उसके साथ मैत्री संबंध स्थापित कर लिया। आगे व्यास नदी की ओर बढ़ते हुए सिकंदर का कठइओई (कठों) के साथ भीषण युद्ध हुआ जिसमें 17,000 कठ सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए और 70,000 बंदी बना लिए गए।

## सिकंदर का पीछे हटना

सिकंदर का आगे बढ़ना व्यास नदी के तट पर आकर रुक गया क्योंकि उसके सैनिकों ने गदर कर दिया और (जुलाई 326 ई.पू. के अंत में) आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। यह कहना कठिन है कि उसके सैनिकों द्वारा उसकी आज्ञा की अवज्ञा किए जाने के पीछे मात्र उन सैनिकों की थकावट ही थी, जैसा कि यूनानी लेखकों ने कहा है, अथवा वे नंदों के उस शक्तिशाली साम्राज्य से भयभीत हो गए थे, जो नदी के उस पार स्थित था। लेकिन यह जान लेना रुचिकर होगा कि जब सिकंदर अपने सैनिकों को आगे बढ़ने के लिए राजी करने की कोशिश कर रहा था, तो उन्होंने अपने जवाब में इस बात पर जोर दिया कि इस अभियान के दौरान यदि सिकंदर के साथ कोई दुर्घटना हो गई तो संपूर्ण सेना पर महाविपत्ति आ पड़ेगी। ऐसा कहते समय सिकंदर के सैनिकों पर निस्संदेह उन छोटे-छोटे गणराज्यों की संपूर्ण जनता द्वारा प्राणों का मोह छोड़कर वीरतापूर्वक उपस्थित किए गए कठोर प्रतिरोध और उनके द्वारा प्रदर्शित अदम्य देशभक्ति की याद हावी रही होगी। अनेक प्राचीन यूनानी इतिहासकारों ने लिखा है कि सिकंदर और उसके सैनिक इसीलिए वापस हट गए क्योंकि वे नंदों के शक्तिशाली साम्राज्य से डर गए थे।

वास्तविक कारण कुछ भी रहा हो, सिकंदर को अपने बागी सैनिकों के निर्णय के सामने झुकना पड़ा और उसने वापस लौट जाने का निर्णय ले लिया। झेलम और चिनाब के संगम के पास उसे एक गण संघ से लड़ना पड़ा, जिसका नेतृत्व मल्लोई (मालव) और ओक्सिद्रकाई (क्षुद्रक) कर रहे थे। मालवों के सभी नगर युद्ध में प्रतिरोधी दुर्ग बन गए। उनमें से एक नगर-दुर्ग में 5,000 ब्राह्मणों ने कलम छोड़कर तलवार हाथ में उठा ली और लड़ते-लड़ते बलिदान हो गए, उनमें से कुछ ही दुर्भाग्यशाली बचे जो बंदी बना लिए गए। एक अन्य नगर पर आक्रमण करते हुए सिकंदर बुरी तरह घायल हो गया और जब उसके सैनिकों ने उस नगर पर कब्जा कर लिया तो उन्होंने गुस्से में आगबबूला होकर वहाँ मिले हर आदमी को, चाहे वह किसी भी आयु या लिंग का था, तुरंत मौत के घाट उतार दिया। एक अन्य गणसंघ अगलस्सोई (अर्जुनायन) भी बड़ी बहादुरी से लड़ा और जब उनके एक नगर पर सिकंदर का कब्जा होने लगा तो वहाँ के सभी 20,000 नागरिकों ने आखिरी दम तक

ड़ते-लड़ते अपने प्राण न्योछावर कर दिए और उनमें से जो स्त्री-बच्चे बचे, उन्होंने धू-धू करती हुई अग्निज्वाला में कूदकर अपनी लाज बचाई। शौर्य, देशभक्ति और बलिदान की ऐसी गाथाओं की एक लंबी सूची है। सितंबर, 325 ई.पू. में सिकंदर पाटल पहुँचा और वहाँ से उसने अपने घर की ओर कूच किया। वह अपनी सेना के साथ स्थल मार्ग से आगे बढ़ा, पर उसने अपने जहाजों को नियार्कस के नेतृत्व में जलमार्ग से भेज दिया। सिकंदर अपनी वापसी यात्रा में 324 ई.पू. में, फ़ारस में सूसा पहुँचा और अगले वर्ष वहीं उसकी मृत्यु हो गई। भारत छोड़ने से पहले उसने अपने विजित क्षेत्रों पर प्रभावी क्षत्रप नियुक्त कर दिए थे, लेकिन कुछ पराजित गणसंघों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और सिकंदर के भारत छोड़ने से पहले ही कई उपद्रव खड़े हो गए। सिकंदर की मृत्यु के बाद तो यूनानी साम्राज्य का विशाल भवन शीघ्र ही खंड-खंड हो गया।

### सिकंदर के आक्रमण का प्रभाव

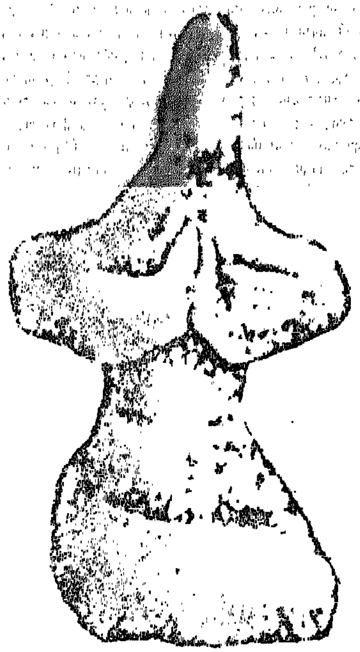
सिकंदर महान के आक्रमण का यूनानी इतिहासकारों ने अत्यंत विस्तार से वर्णन किया है क्योंकि उन्होंने अपने वीर नायक के विजयाभियानों से, स्वाभाविक रूप से, अपने आपको गौरवान्वित महसूस किया होगा, लेकिन यह एक पहेली है कि इस घटना का भारतीय ग्रंथ-परंपरा में उल्लेख क्यों नहीं मिलता। भारतीय लेखक इस घटना पर चुप क्यों रहे? क्या इसका कारण यह था कि सिकंदर ने तत्कालीन भारत के सीमांत क्षेत्र को ही छुआ था और वह भारतीय लोगों पर कोई दूरगामी प्रभाव छोड़े बिना ही वापस लौट गया। उसके अभियान को कोई भारी सैन्य उपलब्धि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने कुछ छिटपुट गणसंघों या छोटे-छोटे रजवाड़ों पर ही विजय का श्रेय प्राप्त किया था। एक छोटे-से राज्य के शासक पोरस से लड़ने में ही उसे और उसकी सेना को थकान हो गई थी। उसे देखते हुए यह कल्पना करना स्वाभाविक होगा कि वह नंदों की अदम्य शक्ति का शायद ही मुकाबला कर सकता था। इसके आगे इस अभियान में वह जो कुछ थोड़ा-बहुत जीत सका था, वह भी उसके पीठ फेरते ही तीन महीने के भीतर उसके हाथ से निकल गया क्योंकि उसके द्वारा जीते गए अधिकांश क्षेत्र स्वतंत्र हो चले थे।

## अभ्यास

1. महाजनपदों के उदय के संदर्भ में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन करें।
2. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में विद्यमान गणसंघों का वर्णन करें।
3. मगध के उदय की चर्चा करें। मगध राज्य के विस्तार के लिए मगध के विभिन्न राजवंशों के राजाओं ने क्या-क्या तरीके अपनाए थे?
4. सिकंदर कौन था? पश्चिमोत्तर भारत पर उसके आक्रमण की चर्चा करें।

करने के लिए कार्य

- भारत का रेखा मानचित्र बनाएँ और महाजनपदों को उनकी राजधानियों के साथ दर्शाएँ।



अध्याय 14

# मौर्य काल

**मौर्य** साम्राज्य भारत की भूमि पर स्थापित किए गए साम्राज्यों में सबसे पहला और सबसे बड़ा साम्राज्य था। यह विशाल साम्राज्य ऑक्सस की घाटी से कावेरी की द्रोणी तक सुगठित रूप से एकछत्र प्रशासन के अंतर्गत फैला हुआ था।

**मौर्य** साम्राज्य भारत की भूमि पर स्थापित किए गए साम्राज्यों में सबसे पहला और सबसे बड़ा साम्राज्य था। यह विशाल साम्राज्य ऑक्सस नदी की घाटी से कावेरी की द्रोणी तक सुगठित रूप से एकछत्र प्रशासन के अंतर्गत फैला हुआ था। चंद्रगुप्त मौर्य ऐसा पहला शासक था, जिसने संपूर्ण भारत को राजनीतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में पिरोया था। मौर्य शासकों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमारे पास अभिलेखों, साहित्य-ग्रंथों, विदेशी यात्रियों, राजदूतों एवं इतिहासकारों के वृत्तांतों और पुरातत्त्वीय खुदाई से प्राप्त सामग्रियों के रूप में अनेक स्रोत उपलब्ध हैं। *अर्थशास्त्र* हमें मौर्य साम्राज्य की प्रशासन प्रणाली के विषय में विस्तृत जानकारी देता है। अर्थशास्त्र नामक ग्रंथ कौटिल्य द्वारा लिखा गया था। कौटिल्य को चाणक्य भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि कौटिल्य ही मौर्य साम्राज्य का वास्तविक निर्माता था और वह चंद्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री भी था। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में अपना मेगस्थनीज नाम का राजदूत भेजा था। इस यूनानी राजदूत ने भारत और भारतीय लोगों के बारे में बहुत-कुछ लिखा था। उसकी पुस्तक *इंडिका* तो लुप्त हो गई है, लेकिन उसके कुछ अंश परवर्ती यूनानी लेखकों की कृतियों में उद्धरणों के रूप में मिलते हैं। मेगस्थनीज द्वारा दी गई जानकारी में अनेक विसंगतियाँ और अशुद्धियाँ होने के बावजूद, यह निश्चित रूप से एक उपयोगी स्रोत है। हालांकि, मौर्य काल के इतिहास के लिए सबसे महत्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत सम्राट अशोक के उत्कीर्ण लेख हैं।

## चंद्रगुप्त मौर्य (324-300 ई.पू.)

चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन और पूर्वजों के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। *महावंश* और *दीपवंश* जैसे बौद्ध स्रोतों में चंद्रगुप्त मौर्य को शाक्यों की मोरिय शाखा का क्षत्रिय बताया गया है; शाक्य लोग पिप्पलिवन में रहते थे जो आज के पूर्वी उत्तर प्रदेश में था। विशाखदत्त द्वारा लिखे गए नाटक *मुद्राराक्षस* में चंद्रगुप्त के लिए *वृषल* और *कुलहीन* शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनका अर्थ है निम्नस्तरीय कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति। जस्टिन नाम के एक यूनानी लेखक ने भी कहा है कि "वह निम्नस्तरीय जाति में उत्पन्न हुआ था।"

बौद्ध स्रोतों के अनुसार चंद्रगुप्त का पिता एक लड़ाई में मारा गया था और उसका पालन-पोषण उसके मामा ने किया था। चाणक्य ने बालक चंद्रगुप्त में राजसी लक्षणों को देखा और उसे अपना शिष्य बनाकर ले गया। चाणक्य ने उसे तक्षशिला में शिक्षा दी। उन दिनों तक्षशिला विद्या का महान केंद्र था। चंद्रगुप्त के प्रारंभिक जीवन और तक्षशिला में उसकी शिक्षा के बारे में एक अप्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यूनानी स्रोत हमें यह बताते हैं कि चंद्रगुप्त ने सिकंदर को उसके पंजाब अभियान के दौरान देखा था।

चंद्रगुप्त की विजयों और उसके साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया के बारे में हमें विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। यूनानी और जैन स्रोतों से कुछ ऐसा पता चलता है कि चंद्रगुप्त ने सिकंदर के आक्रमण से उत्पन्न उथल-पुथल की स्थिति और फिर बेबीलोन में 323 ई.पू. में सिकंदर की मृत्यु का लाभ उठाया। उसने कौटिल्य की सहायता से एक बड़ी सेना तैयार की और विजय अभियानों पर चल दिया। उसने सबसे पहले पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशों पर शासन करने वाले यूनानी क्षत्रपों को उखाड़ फेंका। जस्टिन लिखता है, "सिकंदर की मृत्यु के बाद भारत ने मानो अपनी दासता का चोला उतार फेंका और उसके (सिकंदर के) गवर्नरों को मौत के घाट उतार दिया।

इस स्वतंत्रता का शिल्पी सैंड्रोकोटस था।" यूनानी लेखकों का सैंड्रोकोटस कोई और नहीं, चंद्रगुप्त ही माना जाता है।

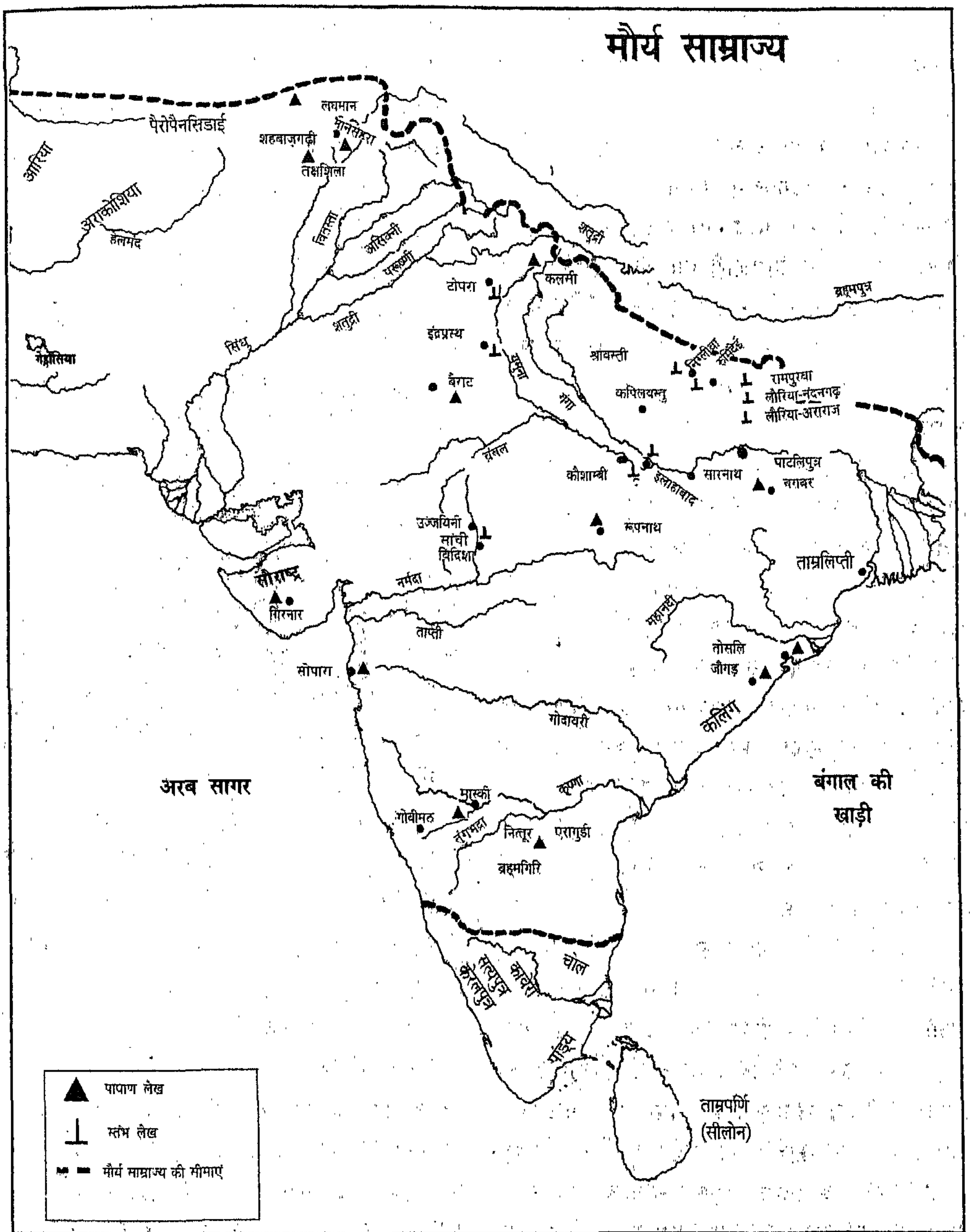
पश्चिमोत्तर भारत को यूनानी शासन से मुक्ति दिलाने के बाद, चंद्रगुप्त ने अपना ध्यान मगध विजय पर लगाया, जो उस समय नंदों के शासन में था। इस विजय की विस्तृत जानकारी हमें प्राप्त नहीं है। जैन ग्रंथ *परिशिष्ट पर्वन* में कहा गया है कि चाणक्य की सहायता से चंद्रगुप्त ने नंद राजा को परास्त करके उसे बंदी बना लिया। इस प्रकार नंद को हराकर चंद्रगुप्त मगध साम्राज्य का शासक बन गया।

पश्चिमी और दक्षिणी भारत पर चंद्रगुप्त की विजयों की जानकारी हमें अप्रत्यक्ष साक्ष्यों से प्राप्त होती है। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख में कहा गया है कि सिंचाई के लिए सुदर्शन झील पर एक बाँध पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया गया था, पुष्यगुप्त तब चंद्रगुप्त मौर्य का प्रांतीय गवर्नर था। बाद में, यवन राज तुशास्प ने अशोक के शासनकाल में सिंचाई के लिए नहरों की खुदाई कराई। इसी प्रकार, जूनागढ़ जिले (गुजरात) में गिरनार की पहाड़ियों पर और सोपारा (जिला थाणे, महाराष्ट्र) में सम्राट अशोक के शिलालेखों का मिलना यह दर्शाता है कि ये क्षेत्र मौर्य साम्राज्य के हिस्से थे।

अशोक के शिलालेख कर्नाटक में चित्तलदुर्ग, येरागुडी और मास्की में पाए गए हैं। अशोक के शिलोत्कीर्ण धर्मादेश प्रथम तथा त्रयोदश में कहा गया है कि उसके एकदम निकटवर्ती पड़ोसी राज्यों में चोलों, पांड्यों, सत्यपुत्रों और केरलपुत्रों का शासन था। चूँकि ऐसी कोई जानकारी नहीं मिली है कि अशोक या उसके पिता बिंदुसार ने दक्षिण भारत में कोई अभियान किया हो और उसमें विजय प्राप्त की हो, इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र चंद्रगुप्त द्वारा ही जीता गया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि जैन जनश्रुतियों एवं परंपरा से भी होती है, जिनमें कहा गया है कि चंद्रगुप्त अपना राजसिंहासन त्यागकर अपने गुरु जैनमुनि भद्रबाहु के साथ कर्नाटक में श्रवणबेलगोला में संन्यासी के रूप में रहने लगा था। परवर्ती काल के स्थानीय शिलालेखों में भी यह उल्लेख पाया जाता है कि चंद्रगुप्त ने उसी स्थान पर एक सच्चे निष्ठावान जैन के रूप में आमरण उपवास के द्वारा अपना जीवन त्यागा था। वहाँ पास में ही एक चंद्रगिरि नाम की पहाड़ी है; लगता है, उसका नाम चंद्रगुप्त पर ही रखा गया था।

चंद्रगुप्त ने यूनानी क्षत्रप सेल्यूकस की आक्रमणकारी सेना को हराया था। सेल्यूकस तब सिकंदर के साम्राज्य के पूर्वी भाग का शासक था। यह विजयश्री 305 ई.पू. के आसपास प्राप्त की गई थी। यूनानी लेखक इस युद्ध का विवरण नहीं देते लेकिन यह बताते हैं कि युद्ध के बाद चंद्रगुप्त और सेल्यूकस के बीच एक संधि हुई, जिसके अनुसार सेल्यूकस ने कंदहार, काबुल, हेरात और बलूचिस्तान के प्रदेश चंद्रगुप्त को दिए और चंद्रगुप्त ने उसे 500 हाथी भेंट किए। यह भी कहा जाता है कि इस संधि के फलस्वरूप दोनों घरानों के बीच वैवाहिक संबंध भी स्थापित हुआ। शायद सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त मौर्य या उसके पुत्र बिंदुसार के साथ अपनी बेटी का विवाह कर दिया। सेल्यूकस ने मेगस्थनीज़ को चंद्रगुप्त के दरबार में राजदूत के रूप में भेजा। प्लूटार्क लिखता है, "सैंड्रोकोटस, उस समय तक सिंहासनारूढ़ हो चुका था, उसने अपने 6,00,000 सैनिकों की सेवा से संपूर्ण भारत को रौंद डाला और अपने अधीन कर लिया।"

इस प्रकार, चंद्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया जो कलिंग को छोड़कर, पश्चिम में




*आकृति 14.1* मौर्य साम्राज्य का मानचित्र

अफगानिस्तान से पूर्व में असम तक और उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में कर्नाटक तक फैला हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि अप्रत्यक्ष रूप से उसके पौत्र अशोक के उन शिलालेखों से होती है, जो इस संपूर्ण साम्राज्य क्षेत्र में स्थान-स्थान पर पाए गए हैं। कहा जाता है कि अशोक ने तो केवल कलिंग को ही मौर्य साम्राज्य में जोड़ा था और इस बात का भी कोई निश्चित साक्ष्य नहीं मिलता कि उसके पिता बिंदुसार ने कोई क्षेत्र जीता हो। कहा जाता है कि चंद्रगुप्त मौर्य ने 324 ई.पू. से 300 ई.पू. तक यानी 24 वर्ष राज्य किया।

## बिंदुसार (300-273 ई.पू.)

चंद्रगुप्त मौर्य के बाद उसका पुत्र बिंदुसार राजगद्दी पर बैठा। इस राजा के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। जैन विद्वान हेमचंद्र और तिब्बती इतिहासकार तारानाथ का कहना है कि चाणक्य चंद्रगुप्त की मृत्यु के बाद भी जीवित था और वह बिंदुसार का मंत्री बना रहा। *दिव्यावदान* से पता चलता है कि बिंदुसार ने अपने सबसे बड़े पुत्र सुमन (उसका नाम सुशिम भी था) को तक्षशिला में और अशोक को उज्जैन में अपना वाइसराय नियुक्त किया था। उसमें यह भी कहा गया है कि तक्षशिला में एक विद्रोह छिड़ गया था और जब सुशिम उसे नहीं दबा पाया तब वहाँ शांति स्थापित करने के लिए अशोक को भेजा गया था। कुछ विद्वान दक्षिण भारत की विजय का श्रेय बिंदुसार को देते हैं, लेकिन अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि उसके पिता चंद्रगुप्त मौर्य ने ही दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त की थी।

बिंदुसार ने यूनानी दुनिया के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की नीति जारी रखी। प्लिनी का कहना है कि मिस्र के टोलेमी फिलाडेलफस ने डायोनीसियस को बिंदुसार के राजदरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा था।

## अशोक (273-232 ई.पू.)

273 ई.पू. में बिंदुसार की मृत्यु हो जाने के बाद, अशोक राजसिंहासन पर बैठा। अशोक के प्रारंभिक जीवन के बारे में हमारे पास केवल जनश्रुतियाँ या परंपरागत वृत्तांत ही हैं। बौद्ध स्रोतों के अनुसार उसकी माता का नाम जनपद कल्याणी या सुभद्रांगी था। एक राजकुमार के रूप में वह पहले उज्जैन का और फिर तक्षशिला का वाइसराय रहा था।

बौद्ध परंपरा के अनुसार अशोक अपने प्रारंभिक जीवन में अत्यंत निर्दयी एवं क्रूर था और उसने अपने 99 भाइयों की हत्या करके राजसिंहासन पर कब्जा किया था। लेकिन यह सही प्रतीत नहीं होता। इसलिए नहीं कि 99 की संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही गई लगती है बल्कि इसलिए कि अशोक ने अपने राज्यादेशों में अपने भाइयों, बहनों और संबंधियों का उल्लेख अत्यंत स्नेहपूर्वक किया है।

भारतीय इतिहास में अशोक ही ऐसा पहला राजा था, जिसने अपने शासनादेशों को शिलाओं पर खुदवाया। इन शिलालेखों तथा कुछ अन्य साहित्यिक स्रोतों की सहायता से अशोक और उसके शासनकाल का इतिहास रचा जा सकता है। शिलाओं तथा चट्टानों पर उत्कीर्ण राज्यादेशों को शिलालेख और स्तंभों पर उत्कीर्ण राज्यादेशों को स्तंभलेख कहा जाता है। अशोक के शिलालेख भारत, नेपाल, पाकिस्तान और अफगानिस्तान में पाए गए हैं। कुल मिलाकर वे 47 स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। तथापि अशोक का नाम केवल लघु शिलालेख प्रथम की

प्रतिकृतियों में ही पाया जाता है जो कर्नाटक में तीन स्थानों पर और मध्य प्रदेश में एक स्थान पर पाई गई हैं। बाकी सभी उत्कीर्ण लेखों में उसका उल्लेख देवानांपिय (देवताओं का प्रिय) और पियदसि के रूप में किया गया है। ये शिलालेख सामान्यतया प्राचीन राजमार्गों पर स्थापित किए गए थे।

अशोक के शासनादेश चार भिन्न-भिन्न लिपियों में उत्कीर्ण किए गए थे। अफगानिस्तान क्षेत्र में वे यूनानी अरामाइक भाषाओं और लिपियों में, पाकिस्तान क्षेत्र में प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि में पाए गए हैं। अन्य सभी क्षेत्रों में पाए गए स्तंभ एवं शिलालेख प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए हैं।

## कलिंग युद्ध और उसका प्रभाव

अशोक के शासन काल की सबसे पहली घटना, जिसका उल्लेख उसके शिलालेखों में किया गया है उसकी कलिंग (आधुनिक उड़ीसा और संभवतः उसके आस-पास के कुछ इलाके) विजय है। उसने अपने शासन के आठवें वर्ष में कलिंग प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। कलिंग युद्ध अशोक के जीवन का पहला और अंतिम युद्ध बताया जाता है। अशोक के तेरहवें शिलालेख में इस युद्ध की भीषणता और उससे उत्पन्न कष्टों का वर्णन किया गया है और यह भी बताया गया है कि उसका अशोक के मन पर क्या प्रभाव पड़ा। इस शिलालेख के अनुसार, इस युद्ध में एक लाख लोग मारे गए, डेढ़ लाख लोग बंदी बना लिए गए और कई लाख बर्बाद हो गए थे। ये संख्याएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती हैं, लेकिन एक बात साफ है कि इस युद्ध का कलिंग के लोगों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। युद्ध की विभीषिका ने अशोक के मन को बुरी तरह झकझोर दिया और उसके व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से बदल डाला। युद्ध की नृशंसता को देखकर अशोक के दिल में बहुत पश्चाताप हुआ। फलस्वरूप उसने आक्रमण की नीति को छोड़ दिया और लोगों के दिल जीतने का प्रयास किया। फिर तो युद्ध की घोषणा करने वाले नगाड़ों की बजाय *धम्मघोष* करने वाले नगाड़े बजाए जाने लगे, जिनके साथ सदाचार एवं नैतिकता का प्रचार किया जाने लगा। उसने जनता और जीवधारियों की भलाई के लिए कदम उठाए। साथ ही उसने पश्चिम एशिया के यूनानी राज्यों और अन्य देशों में अपने शांतिदूत भेजे।

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वह एक बुजदिल शांतिवादी था। इसके विपरीत उसने लोगों को चेतावनी दी कि इन भलाई के उपायों को उसकी कमजोरी का संकेत न माना जाए। यदि आवश्यकता हुई तो वह गलती करने वालों के साथ कठोर से कठोर बर्ताव करने से भी नहीं चूकेगा। उसने शांति की नीति दिखावे के तौर पर नहीं बल्कि हर परिस्थिति में शांति बनाए रखने के लिए अपनाई। उसने अपने साम्राज्य में एक विशेष श्रेणी के अधिकारियों को नियुक्त किया, जिन्हें *राजुक* (रज्जुक) कहा जाता था। उन्हें लोगों को भले काम के लिए पुरस्कृत करने का अधिकार ही नहीं सौंपा, अपितु जरूरत पड़ने पर बुरे लोगों को दंड देने की शक्ति भी प्रदान की।

## अशोक का धम्म

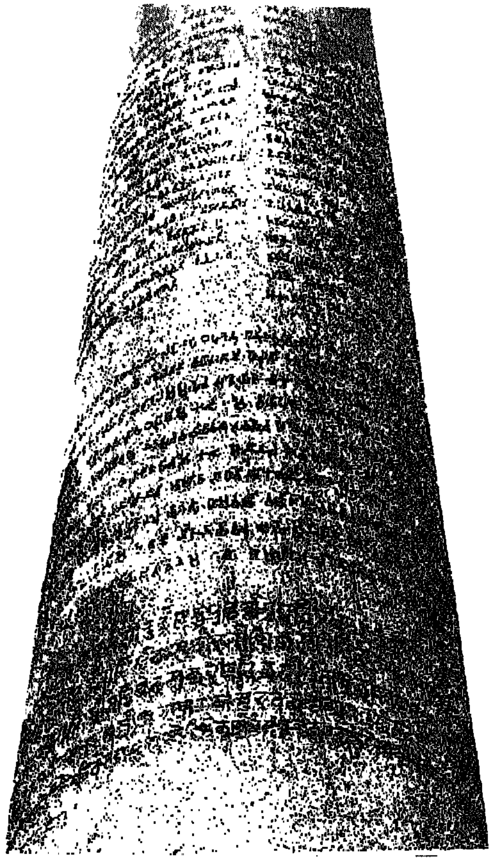
इसमें कोई संदेह नहीं कि अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म ही था। अपने भाब्रू शिलालेख में वह कहता है कि उसे बुद्ध, धम्म और संघ में पूर्ण आस्था है।

यद्यपि अशोक ने अपने मुख्य धर्म के रूप में बौद्ध धर्म को अपनाया था, तथापि यह सोचना गलत होगा कि उसने अपनी प्रजा पर बौद्ध धर्म के

सिद्धांतों को थोपा था। वह सभी धर्मों का आदर करता था और सभी पंथों एवं संप्रदायों के नैतिक मूल्यों के बीच पाई जाने वाली एकता में विश्वास रखता था। अपने सातवें शिलालेख में वह कहता है, "सभी पंथ संयम एवं मन की शुद्धता पर बल देते हैं।" बारहवें शिलालेख में वह सभी धर्मों एवं पंथों के प्रति समान आदर-भाव की अपनी नीति को और अधिक स्पष्ट करता है। वह कहता है कि वह "सभी पंथों एवं संप्रदायों और साधु संन्यासियों तथा आम नागरिकों का, उपहारों तथा अन्य रूपों में मान्यता प्रदान कर आदर करता है।"

कलिंग युद्ध के बाद अशोक के सामने सबसे बड़ा आदर्श और उद्देश्य धम्म का प्रचार करना था। अशोक का धम्म जैसा कि उसने अपने शिलालेखों में स्पष्ट किया है, कोई धर्म (रिलीजन) या धार्मिक प्रणाली नहीं है, लेकिन एक 'नैतिक नियम' है, एक 'सामान्य आचार संहिता' या एक 'नैतिक व्यवस्था' है। दूसरे स्तंभलेख में अशोक स्वयं एक प्रश्न उपस्थित करता है : "धम्म क्या है?" फिर वह स्वयं ही धम्म के दो मूलभूत लक्षण या अंग बताता है : अल्प दुष्कर्म और अधिक सत्कर्म। वह कहता है कि रोष, निर्दयता, क्रोध, घमंड तथा ईर्ष्या जैसी बुराइयों से सदा बचना चाहिए और दया, उदारता, सच्चाई, सरलता, संयम, हृदय की पवित्रता, नैतिकता में आसक्ति और आंतरिक तथा बाह्य पवित्रता आदि सत्कर्मों एवं सदाचारों का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए।

अशोक ने बारवें शिलालेख तथा अन्य बहुत से राज्यादेशों में निम्नलिखित सदाचारों का पालन करने के लिए कहा है :



*आकृति 14.2 एक स्तंभ पर खुदा हुआ अशोक का राज्यादेश*

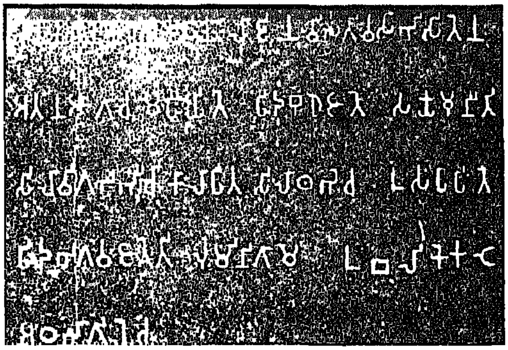
(i) माता-पिता, वृद्धजन, गुरु और अन्य आदरणीय व्यक्तियों की आज्ञा का पालन।
(ii) गुरुओं के प्रति आदर भाव।
(iii) साधु-संन्यासियों, सगे-संबंधियों, दासों, नौकर-चाकरों तथा आश्रितजनों, गरीबों एवं दुःखी लोगों, मित्रों, परिचितों तथा साथियों के प्रति उचित व्यवहार।
(iv) भिक्षुओं, साधु-संन्यसियों, मित्रों, साथियों सगे-संबंधियों और वृद्धजनों के प्रति उदारता।
(v) जीव-हत्या से बचना।

(vi) प्राणियों को क्षति न पहुँचाना।
(vii) अल्प व्यय और अल्पसंग्रह।
(viii) सभी प्राणियों के साथ नरमी बरतना।
(ix) सच बोलना।
(x) नैतिकता में आसक्ति रखना।
(xi) हृदय की पवित्रता।

इस प्रकार, अशोक ने नैतिक नियमों (धम्म) को शासी सिद्धांत के रूप में अपनाया और जीवन के हर क्षेत्र में उनका पालन करने पर बल दिया। अतः अशोक का धम्म सदाचारपूर्ण एवं नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए एक आचार-संहिता है। उसने ईश्वर, आत्मा या धर्म की अलग से कोई चर्चा नहीं की। उसने लोगों को यही कहा कि वे सदा अपने भावावेशों तथा वासनाओं पर नियंत्रण रखें, जीवन आचरण और विचारों में पवित्रता एवं शुद्धता लाएँ, दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु रहें, पशुओं की हत्या या उन्हें क्षति पहुँचाने से दूर रहें, और उनके प्रति प्रेमभाव रखें, सबके प्रति उदार एवं दयालु बनें, माता-पिता, गुरुजनों, सगे-संबंधियों, मित्रों एवं साथियों और भिक्षुओं, संन्यासियों का आदर करें, दासों तथा नौकर-चाकरों के प्रति दया-भाव रखें और सर्वोपरि बात यह है कि सदा सच बोलें।

अशोक ने इन सिद्धांतों का उपदेश ही नहीं दिया बल्कि उन्हें अपने जीवन में भी उतारा। उसने शिकार करना और जानवरों को मारना छोड़ दिया। उसने मनुष्यों और जानवरों के लिए चिकित्सालय स्थापित किए और ब्राह्मणों तथा भिन्न-भिन्न धार्मिक पंथों और संप्रदायों के साधु-संन्यासियों को उदारतापूर्वक दान दिया। उसने आराम-गृह एवं धर्मशालाएँ बनवाईं, कुएँ-बावड़ियाँ खुदवाईं और सड़कों के किनारे पेड़ लगवाए।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने बौद्ध धर्म अपना लिया, जिसका एक मूल सिद्धांत था प्राणियों के साथ अहिंसा और अक्षति का व्यवहार करना। अशोक ने बौद्ध धर्म फैलाने का दायित्व अपने ऊपर लिया। उसने धर्मयात्राएँ कीं और अपने राज-कर्मचारियों को भी ऐसा करने के लिए कहा। उसने *धर्ममहामात्र* पदनाम वाले एक विशेष श्रेणी के अधिकारियों की नियुक्ति की। आम जनता में धम्म का प्रचार करना इन अधिकारियों का उत्तरदायित्व था।



***आकृति 14.3** रुम्मिनदेई स्तंभलेख*

अशोक ने धम्म का प्रचार करने के लिए विदेशों में अपने प्रचारक-दल भेजे। उसके धर्म प्रचारक पश्चिमी एशिया, मिस्र और पूर्वी यूरोप के देशों में गए। इस प्रकार जिन विदेशी राजाओं के राज्य में बौद्ध धर्म का संदेश पहुँचा उनमें से पाँच राजाओं का उल्लेख अशोक के शिलालेखों/स्तंभलेखों में मिलता है; सीरिया और पश्चिम एशिया का ऐंटियोकस थियोस, मिस्र का टोलेमी फिलाडेलफस, मकदूनिया का ऐंटिगोनस गोनातस; साइरीन का मेगास और एपाइरस का अलेक्जैंडर। यहाँ तक कि अशोक ने श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को भेजा।

## इतिहास में अशोक का स्थान

अशोक विश्व इतिहास के महानतम सम्राटों में से एक था। उसका शासन काल "राष्ट्रों के इतिहास का एक विरल एवं तेजोमय युग था।" अशोक के बारे में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध धर्म में अपनी आस्था के साथ-साथ उसने शासक के रूप में अपने कर्तव्यों की कभी अवहेलना नहीं की और अपना बौद्ध धर्म अपनी प्रजा पर नहीं थोपा। उसकी महानता यही थी कि वह जीवन-मूल्यों में विश्वास रखता था और सदा उनका पालन करता था। एक राजा के रूप में अपने कर्तव्यों तथा दायित्वों को समझना और फिर उत्साहपूर्वक उनका निर्वाह करने में सफलता प्राप्त करना ही उसकी महानता के ज्वलंत उदाहरण हैं। संभवतः आज तक किसी भी अन्य शासक ने राजा और प्रजा के बीच के संबंधों को इतनी सरल और उदात्त भाषा में अभिव्यक्त नहीं किया। उसने घोषणा की, "सारी प्रजा मेरी संतान है। जिस प्रकार मैं अपनी संतान के लिए इस जीवन में और अगले जीवन में भी सुख-समृद्धि की कामना करता हूँ, वैसी ही कामना मैं सभी प्रजाजनों के लिए भी करता हूँ।"

मानवता के लंबे इतिहास में केवल अशोक ही एक ऐसा अकेला राजा हुआ है, जिसने अपने द्वारा पराजित लोगों से इस बात के लिए क्षमा मांगी कि उसने उनके विरुद्ध युद्ध करके उन्हें कष्ट और दुख पहुँचाया। तेरहवाँ शिलालेख एक ऐसा मर्मस्पर्शी प्रलेख है जो अशोक जैसे महान और उदारचेता मानव द्वारा ही लिखा जा सकता था।

## मौर्य साम्राज्य का पतन

अशोक ने चालीस वर्ष से अधिक समय तक राज किया और 232 ई.पू. में उसकी मृत्यु के साथ ही मौर्य साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया और शीघ्र ही वह कई टुकड़ों में बँट गया। अशोक के बाद लगभग 50 वर्ष की अवधि में, एक-के-बाद-एक, सात राजा गद्दी पर बैठे। अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य के सतत इतिहास के बारे में बताना संभव नहीं है। कदाचित् अशोक की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य दो भागों—पूर्वी तथा पश्चिम—में विभाजित हो गया। पश्चिमी भाग का शासन कुणाल, संप्रति और अन्यों के हाथ में रहा और दक्षिण भारत सहित पूर्वी भाग, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, दशरथ से बृहद्रथ तक के छः परवर्ती मौर्य राजाओं के शासन में रहा। दक्षिण में आंध्रों के विद्रोह से और पश्चिम में यूनानी राजा के विजयी अभियानों से मौर्य साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। ऐसा लगता है कि मौर्य साम्राज्य की इस दुर्दशा पर चिंतित होकर और राजाओं को पूर्णतः अयोग्य जानकर, सेनापति पुष्यमित्र ने राजा बृहद्रथ की उस समय हत्या कर डाली, जब वह सेना की समीक्षा कर रहा था। यह हत्या किन परिस्थितियों में की गई इस संबंध में बहुत कम जानकारी मिलती है। फिर भी, इतना तो स्पष्ट ही है कि राजा की हत्या सार्वजनिक रूप से यहाँ तक कि उसकी सेना की उपस्थिति में की गई थी। इससे यह प्रकट होता है कि उसे न तो अपनी सेना की स्वामिभक्ति प्राप्त थी और न ही प्रजा उसके प्रति सहानुभूति रखती थी। ईसा की बारहवीं शताब्दी तक भारत के इतिहास में यही एक ऐसी अभिलिखित और अविवादास्पद घटना है, जिसमें राजा की हत्या कर दी गई और उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठा दिया गया। वैसे तो पुष्यमित्र सिंहासनारूढ़ हो गया था पर आश्चर्य की बात यह है कि उसने अपने लिए सेनापति की पदवी

ही रखी। उसने कोई दूसरी पदवी धारण नहीं की और अपने आप को राजा घोषित नहीं किया।

यह एक बड़ी नाटकीय घटना लगती है कि मौर्य साम्राज्य अशोक की मृत्यु के बाद पतन के गर्त में गिरकर अगले 50 वर्षों में ही लुप्त हो गया। इतिहासकारों ने इसके लिए अनेक कारण बताए हैं। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि अशोक के बाद उसके उत्तराधिकारी इतने कमजोर थे कि वे साम्राज्य के विभिन्न भागों में हुए उपद्रवों तथा विद्रोहों को नहीं दबा सके। परिणामस्वरूप पश्चिमोत्तर तथा दक्षिणी भाग सर्वप्रथम स्वतंत्र हो गए। कुछ इतिहासकार इस पतन के लिए अशोक को जिम्मेदार ठहराते हैं। अशोक की शांतिवादी नीतियों ने साम्राज्य को कमजोर बना दिया, वह सैनिक दृष्टि से दुर्बल हो गया और उसमें युद्ध लड़ने की शक्ति नहीं रही। केंद्रीकृत साम्राज्य को बहुत ही दृढ़ संकल्प वाले शासकों की जरूरत होती है, लेकिन अशोक के उत्तराधिकारी ऐसे नहीं थे। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि अशोक के कल्याणकारी उपायों से राजकोष बहुत-कुछ खाली हो गया होगा और जो कुछ बचा था तथा जितनी आय होती थी उससे सेना तथा प्रशासनिक तंत्र के खर्च को चला पाना संभव नहीं था। इससे साम्राज्य का सारा ढाँचा ही कमजोर हो गया होगा, लेकिन उस समय अर्थव्यवस्था कमजोर थी ऐसा नहीं लगता क्योंकि मौर्यकालीन बस्तियों की खुदाई तथा अन्य साक्ष्यों से यह पता चलता है कि उस समय अर्थव्यवस्था उन्नत थी और आगे भी फल-फूल रही थी।

## राज्य-व्यवस्था और प्रशासन

**मौर्य** साम्राज्य प्राचीन विश्व के विशालतम राज्यों में से एक था। शासन का स्वरूप केंद्रीकृत था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के शिलालेखों और मेगस्थनीज़ के वृत्तांत के उपलब्ध उद्धरणों से हमें तत्कालीन प्रशासनतंत्र, अर्थव्यवस्था, समाज और लोगों के धर्म के बारे में काफी अच्छी जानकारी मिलती है।

राजा राज्य का प्रधान होता था। उसके पास न्यायिक, विधायी और कार्यकारी तीनों प्रकार की शक्तियाँ होती थीं। राजा शासन यानी अध्यादेश जारी करता था। अशोक के राज्यादेश इन शासनों के उदाहरण हैं, लेकिन राजा अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। उसे देश के कानून (विधि) को मानना पड़ता था, जिसे विधि-निर्माता बनाते थे और उसे देश की प्रथाओं तथा रूढ़ियों के अनुसार शासन चलाना होता था। राजा मंत्रिपरिषद् की सहायता से शासन करता था। इसके अतिरिक्त कुछ अधिकारी भी होते थे जिन्हें अध्यक्ष कहा जाता था। कौटिल्य ने अनेक प्रकार के अध्यक्षों का उल्लेख किया है; जैसे— स्वर्ण अध्यक्ष, भांडागार अध्यक्ष, वाणिज्य अध्यक्ष, इसी प्रकार कृषि, जलपोतों, गायों, घोड़ों, हाथियों, रथों, पैदल सेना, पासपोर्ट, नगर आदि के भी अलग-अलग अध्यक्ष यानी अधीक्षक होते थे।

मौर्य प्रशासन में एक *युक्त* पदनाम वाला अधिकारी होता था, जो संभवतः राजा के राजस्व का प्रभारी अधिकारी होता था। *रज्जुक* (राजुक) जमीन के माप और उसकी सीमाएँ निर्धारित करने वाले अधिकारी होते थे। उन्हें दोषी को दंड देने और निर्दोषों को मुक्त कर देने की शक्ति प्राप्त थी। मौर्य प्रशासन में प्रादेशिक पदनाम वाले भी अनेक, अधिकारी होते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रादेशिक का काम राजस्व इकट्ठा करना था, जबकि कुछ अन्य विद्वानों का सोचना है कि वह प्रांतीय शासक (गवर्नर) होता था।

मौर्य साम्राज्य प्रांतों में बँटा हुआ था। हम नहीं जानते कि चंद्रगुप्त और बिंदुसार के राज्य काल में

कुल कितने प्रांत थे, लेकिन हम यह अवश्य जानते हैं कि बिंदुसार के शासन काल में अशोक को उज्जैन में अवंति प्रदेश के शासक के रूप में नियुक्त किया गया था और उसके भाई सुशिम को तक्षशिला में पश्चिमोत्तर प्रांतों के शासक के रूप में रखा गया था। महत्त्वपूर्ण प्रांत सीधे कुमारों (राजकुमारों) के अधीन होते थे। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख के अनुसार, सौराष्ट्र (काठियावाड़) चंद्रगुप्त मौर्य के समय में वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा शासित था और अशोक के समय यवन राज तुशाष्प वहाँ का शासन चलाता था, ये दोनों प्रांतीय गवर्नर थे।

प्रांत आगे जिलों में बँटे होते थे और प्रत्येक जिला गाँवों के समूहों में बँटा होता था और प्रशासन की अंतिम इकाई गाँव होता था। प्रत्येक जिले में अधिकारियों एवं कर्मचारियों का एक समूह होता था। *प्रदेशिक* जिला प्रशासन का प्रधान होता था जो अपने अधीनस्थ सभी क्षेत्रों के प्रशासन का निरीक्षण करने के लिए वह पाँच वर्ष में एक बार संपूर्ण जिले का दौरा करता था। *रज्जुक* जमीन को मापने, उसका राजस्व निर्धारित करने और अभिलेख रखने के लिए जिम्मेदार होता था। इसके अलावा उसके न्यायिक कर्तव्य भी होते थे, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। *युक्त* के कर्तव्यों में अधिकतर साचिविक कार्य, राजस्व का संग्रह और उसका हिसाब रखना जैसे काम शामिल थे। जिले तथा गाँव के बीच प्रशासन का एक मध्यवर्ती स्तर होता था। यह इकाई पाँच से दस या अधिक गाँवों से बनी होती थी।

गाँव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। गाँव का मुखिया *ग्रामिक* कहलाता था। उसे गाँव के प्रशासन में ग्रामवृद्ध सहायता देते थे। यह कहना कठिन है कि ग्रामिक एक वेतनभोगी कर्मचारी था या गाँव के लोगों द्वारा उसे चुना जाता था। गाँवों को पर्याप्त स्वायत्ता प्राप्त थी। गाँव के अधिकांश विवाद, लड़ाई-झगड़े ग्रामिक द्वारा ग्राम-सभा की सहायता से निपटा दिए जाते थे। *अर्थशास्त्र* में अनेक वेतनमानों का भी उल्लेख है। उस समय उच्चतम वेतन 48,000 *पण* और न्यूनतम वेतन 60 *पण* होता था।

## नगर प्रशासन

अशोक के अभिलेखों में अनेक नगरों; जैसे– पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जैन, तोसलि, सुवर्णगिरि, समापा, इशिला और कौशाम्बी का उल्लेख है। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में नगरों के प्रशासन के विषय में एक पूरा अध्याय है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के प्रशासन का विस्तार से वर्णन किया है और यह निश्चित रूप से समझा जा सकता है कि ऐसी ही प्रशासन प्रणाली अधिकांश मौर्य नगरों में अपनाई जाती थी।

मेगस्थनीज का कहना है कि पाटलिपुत्र नगर का शासन एक नगर परिषद द्वारा किया जाता था, जिसमें 30 सदस्य थे। ये तीस सदस्य पाँच-पाँच सदस्यों वाली छः समितियों में बँटे होते थे। इनमें से प्रत्येक समिति को नगर के प्रशासन के लिए कुछ निश्चित जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं। उदाहरण के लिए, पहली समिति का काम औद्योगिक तथा कलात्मक उत्पादन से संबंधित था। इसके कार्यों में वेतन का निर्धारण तथा मिलावट रोकना आदि थे। दूसरी समिति पाटलिपुत्र में आने वाले बाहरी लोगों, विशेषत: विदेशियों के मामलों को देखती थी। तीसरी समिति का संबंध जन्म तथा मृत्यु के पंजीकरण से था। चौथी समिति व्यापार तथा वाणिज्य का विनियमन करती थी और विनिर्मित माल तथा पण्य की बिक्री पर नजर रखती थी। पाँचवीं समिति माल के विनिर्माण के पर्यवेक्षण के लिए उत्तरदायी थी। छठी समिति बेचे गए माल की कीमत के अनुसार कर वसूल करती

थी। बेचे गए माल पर सामान्यतः 10 प्रतिशत की दर से कर लगता था।

नगर परिषद द्वारा विभिन्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त किए जाते थे, जो जन-कल्याण के कार्यों; जैसे— सड़कों, बाजारों, चिकित्सालयों, देवालयों, शिक्षा-संस्थाओं, सफाई व्यवस्था; जल-आपूर्ति, बंदरगाह आदि की मरम्मत तथा रख-रखाव की देखभाल करते थे। नगर का मुख्य अधिकारी *नागरक* कहलाता था।

मौर्य राज्य का प्रशासन-तंत्र काफी विकसित और सुसंगठित था। भिन्न-भिन्न विभाग राज्य के कार्यकलापों को विनियमित एवं नियंत्रित करते थे। कौटिल्य ने अनेक महत्वपूर्ण विभागों का उल्लेख किया है; जैसे— लेखा विभाग, राजस्व विभाग, खान तथा खनिज विभाग, रथ विभाग, सीमा शुल्क और कर विभाग। राज्य विभिन्न विभागों के कार्यकलापों का संकुल यानी मिला-जुला रूप माना जाता था, जिसके अंतर्गत राज्य के सभी प्रकार के कामकाज समाविष्ट थे।

## समाज और संस्कृति

मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि मौर्यकालीन समाज सात जातियों में विभक्त था— दार्शनिक, किसान, सैनिक, ग्वाले, शिल्पी, दंडनायक और पार्षद। मेगस्थनीज़ भारतीय समाज-व्यवस्था को ठीक से नहीं समझ सका और वह जाति, वर्ण तथा व्यवसाय में अंतर नहीं कर सका। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तब भी समाज में प्रचलित थी, लेकिन शिल्पियों को चाहे वे किसी भी जाति के हों, समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था। भौतिक उन्नति ने जाति संबंधी प्रतिबंधों को कम कर दिया था और लोगों को समृद्ध तथा सम्मानित बना दिया था। नागरिक जीवन का विकास हो चुका था। रहने के मकानों और धन-संपत्ति आदि के बारे में सरकारी अभिलेखों में प्रविष्टियाँ की जाती थीं और नियम-विनियम सुपरिभाषित थे और कठोरता से उनका पालन किया जाता था।

शिक्षा का काफी प्रचार-प्रसार था। ब्राह्मणों का मुख्य काम अब भी पढ़ाना ही था, लेकिन बौद्ध मठों में भी शिक्षा देने की व्यवस्था थी। तक्षशिला, उज्जयिनी और वाराणसी शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। तकनीकी शिक्षा आमतौर पर श्रेणियों (गिल्डों) के माध्यम से दी जाती थी, जहाँ शिष्य छोटी आयु से ही शिल्पों का काम सीखने लगते थे।

जहाँ तक घरेलू जीवन का संबंध है, संयुक्त परिवार की प्रणाली ही सामान्य रूप से चलती थी। विवाहित स्त्री के पास स्त्री-धन के रूप में अपनी निजी संपत्ति और आभूषण होते थे। विधवा हो जाने की स्थिति में वह उन्हें अपनी इच्छानुसार दे-बेच सकती थी। समाज में विधवाओं को अत्यंत आदरणीय स्थान प्राप्त था। अनेक ऐसे संदर्भ हैं जिनसे पता चलता है कि स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और वे लाभपूर्ण व्यवसायों में संलग्न थीं। स्त्रियों के प्रति किए गए अपराधों के लिए कठोर दंड दिया जाता था। कौटिल्य ने कार्यशालाओं तथा कारागारों के ऐसे प्रभारी अधिकारियों के लिए दंड की व्यवस्था की थी, जिन्होंने स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया है।

मेगस्थनीज़ ने कहा है कि भारत में दास-प्रथा नहीं थी, किंतु बेगार और बंधुआ मजदूरी की प्रथा अत्यंत सीमित पैमाने पर मौजूद थी, लेकिन बेगारियों या बंधुआ मजदूरों के साथ उतना कठोर बर्ताव नहीं किया जाता था जितना कि पाश्चात्य जगत में दासों के साथ किया गया।

लगभग डेढ़ शताब्दी लंबे मौर्य शासन में अर्थव्यवस्था, कला और स्थापत्य, शिक्षा आदि की

पर्याप्त उन्नति हुई जिससे भारत एक महान संस्कृति और तत्कालीन विश्व के महानतम देशों में से एक देश बन गया।

## अर्थव्यवस्था

मौर्य राज्य ने एक ऐसे तंत्र का निर्माण किया जो प्रत्यक्ष रूप से विशाल क्षेत्रों पर शासन करता था, और कृषि, उद्‌योग, वाणिज्य, पशुपालन आदि से संबंधित नियमों तथा विनियमों का कठोरता से पालन करवाता था। अर्थव्यवस्था की उन्नति के लिए किए गए उपायों से उस काल में आर्थिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला। मेगस्थनीज़ और अन्य यूनानी लेखकों ने भारत के कृषि संसाधनों तथा खनिज भंडारों की विशालता और उसके शिल्पियों के असाधारण कौशल का उल्लेख किया है।

अधिकतर लोग खेती करते थे और गाँवों में रहते थे। जंगल साफ करके नए इलाकों में खेती शुरू की गई। राज्य ने इस कार्य में जनता की सहायता की। कुछ विशेष प्रकार के वनों की रक्षा की जाती थी, इसके लिए कानून बनाए गए थे। लोगों को नए इलाकों में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। फसलों में विभिन्न प्रकार के चावल/धान, गेहूँ, मोटे अनाज (*कोद्रव*), दालें, तिल, सरसों, अलसी, मिर्च और केसर तथा तरह-तरह की सब्जियों तथा फलों और गन्ने की खेती की जाती थी। राज्य के पास अपने खेत, पशुशालाएँ और दुग्धशालाएँ आदि थीं। सिंचाई को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। जलाशय और बाँध बनाए गए थे और सिंचाई के लिए निश्चित मात्रा में पानी बाँटा जाता था। रुद्रदामन के प्रसिद्‌ध जूनागढ़ शिलालेख में कहा गया है कि चंद्रगुप्त के एक गवर्नर पुष्यगुप्त ने काठियावाड़ में गिरनार के पास सुदर्शन झील पर बाँध बनवाया था। स्कंदगुप्त के एक अभिलेख से पता चला है कि इस बाँध के निर्माण के लगभग 800 वर्ष बाद उसके शासन काल में इसी बाँध की मरम्मत कराई गई थी।

उद्‌योग विभिन्न श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित था। वस्त्र, खनन और धातुकर्म, जहाज निर्माण, आभूषण बनाना, धातु तथा मिट्‌टी आदि के बर्तन बनाना आदि मुख्य उद्‌योग धंधे थे। कुछ अन्य छोटे उद्‌योग भी थे; जैसे— रंग, गोंद, औषधियाँ, इत्र एवं सुगंधित द्रव्य बनाना आदि। राज्य द्‌वारा व्यापार को विनियमित किया जाता था। भारत अनेक पश्चिमी देशों को नील, विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, दवाइयाँ, रूई और रेशम भेजता था। विदेश व्यापार स्थल और जल (समुद्र) दोनों मार्गों से होता था। व्यापार के मार्गों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रबंध किए गए थे। मालगोदामों, भंडारों और परिवहन की भी व्यवस्था थी। व्यापार करने के लिए व्यापारी को लाइसेंस लेना पड़ता था। राज्य की ओर से माप-तौल के साधनों (बाटों) का नियंत्रण तथा विनियमन किया जाता था। कारीगरों तथा शिल्पियों को राज्य द्‌वारा विशेष संरक्षण प्रदान किया जाता था और उनके विरुद्‌ध किए गए अपराधों के लिए कठोर दंड दिया जाता था।

श्रेणियाँ (गिल्ड) शक्तिशाली संस्थाएँ थीं। श्रेणियाँ अपने शिल्पकारों को आर्थिक, राजनीतिक और न्यायिक शक्तियाँ तथा संरक्षण पर्याप्त मात्रा में देती थीं। श्रेणी का मुखिया *जेष्ठक* कहलाता था। श्रेणियाँ अपने सदस्यों के विवादों को निपटाती थीं। कुछ श्रेणियाँ अपने सिक्के भी जारी करती थीं। इसके अलावा, श्रेणियाँ शिक्षा संस्थाओं, विद्‌वानों और निस्सहाय लोगों को दान भी देती थीं। परवर्ती अभिलेखात्मक साक्ष्यों से इस तथ्य का पता चला है। साँची स्तूप पर उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि उसके कलात्मक दरवाजों में से एक दरवाजा हाथीदाँत के

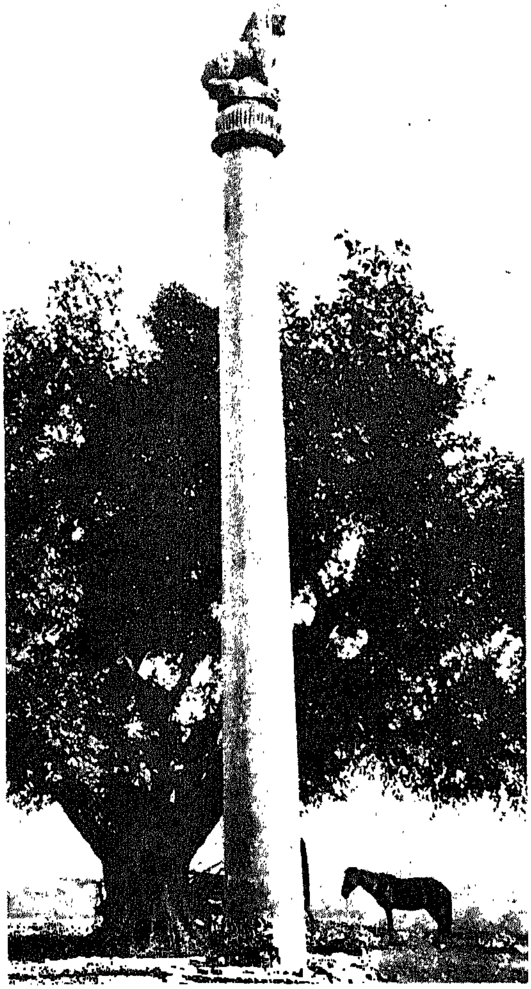
कारीगरों की श्रेणियों द्वारा दानस्वरूप दिया गया था। इसी प्रकार नासिक की गुफा में उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि बुनकरों की दो श्रेणियों ने मंदिर का काम-काज चलाने के लिए स्थायीरूप से दान की व्यवस्था की थी।

कौटिल्य का कहना है कि "एक भरा हुआ राजकोष ही राज्य की सुख-समृद्धि का मूलाधार है" और राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह सभी कार्यों के लिए अपने कोष को सदा भरा हुआ रखे। मौर्य काल में कर नकद तथा वस्तु दोनों रूपों में लगाए जाते थे और स्थानीय अधिकारियों द्वारा वसूल किए जाते थे। राजस्व का मुख्य स्रोत भूमि कर तथा व्यापार आदि पर लगाया गया कर था। उपज का चौथाई से छठा भाग तक भूमि कर के रूप में वसूल किया जाता था। बाजार में बिक्री के लिए लाई जाने वाली सभी वस्तुओं पर पथकर (टोल) लगता था। सभी उत्पादित वस्तुओं पर भी कर लगता था। जो नकद या वस्तु रूप में कर नहीं दे पाते थे, उन्हें श्रम के रूप में अपना कर चुकाना पड़ता था। स्ट्रैबो का कहना है कि शिल्पकार, पशुपालक, व्यापारी, किसान, सभी कर देते थे। *अर्थशास्त्र* में राजस्व का विस्तृत वर्णन किया गया है। खानों, वनों, चरागाहों, व्यापार, दुर्ग आदि से होने वाली आय से राजस्व में और वृद्धि की जाती थी। राजा की अपनी भूमि या भू-संपदा से होने वाली आय को *सीता* कहा जाता था।

ब्राह्मणों, बच्चों और विकलांगों को कर देने से छूट मिली हुई थी। उन क्षेत्रों में भी कर नहीं लगाया जाता था जहाँ नए व्यापार-मार्गों या नई सिंचाई योजनाओं अथवा नई कृषि भूमि का विकास किया जा रहा होता था। कर की चोरी यानी कर न देने को एक गंभीर अपराध माना जाता था और ऐसे अपराधियों को कठोर दंड दिया जाता था।

## कला और स्थापत्य

हम देखते हैं कि मौर्य काल में कला और स्थापत्य (वास्तुकला) के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। मौर्य कला



***आकृति 14.4*** *लौरिया-नंदनगढ़ का सिंहशीर्षक स्तंभ*

और स्थापत्य के जो प्रमुख उदाहरण आज हमें मिलते हैं, वे ये हैं :

(i) पाटलिपुत्र के राजमहल और नगर के अवशेष;

(ii) अशोक के स्तंभ और स्तंभशीर्ष;

(iii) बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में शैलकृत चैत्य-गुफाएँ; तथा

(iv) मौर्यकालीन प्रकीर्ण प्रतिमाएँ और मिट्टी की मूर्तियाँ।

मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के प्रसिद्ध नगर का वर्णन विस्तार से किया था; स्ट्रैबो, एरियन और अन्य यूनानी लेखकों ने अपनी कृतियों में उसका उल्लेख किया है। उसके वर्णन के अनुसार पाटलिपुत्र नगर गंगा नदी के किनारे एक समांतर चतुर्भुज के रूप में फैला हुआ था। यह एक लकड़ी की दीवार से घिरा था, जिसमें 64 दरवाजे थे। आधुनिक खुदाइयों में राजप्रासाद और काठ की प्राचीर के अवशेष मिले हैं। एरियन ने राजप्रासाद का वर्णन करते हुए लिखा है, "जहाँ भारत का *राजाधिराज* रहता था वह राजप्रासाद वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना था, जिसकी बराबरी न तो मेमनोमियन सूसा अपनी संपूर्ण बहुमूल्य भव्यता के साथ और न ही एकबताना (Ekbatana) अपने संपूर्ण वैभव के साथ कर सकता था।" मौर्य सम्राटों का यह काष्ठ-निर्मित राजप्रासाद लगभग 700 वर्षों तक अवश्य रहा था क्योंकि ईसा की चौथी शताब्दी के अंतिम वर्षों में जब फाहियान ने इसे देखा था तब भी यह आश्चर्यचकित कर देने वाला था। संभवतः वह राजप्रासाद और काष्ठ-प्राचीर आग द्वारा जलाकर नष्ट कर दी गई थी। उसका जला हुआ काठ का ढाँचा और उसकी राख दोनों ही कुमराहार में पाए गए हैं।



*आकृति 14.5 बराबर गुफा*

बराबर और नागार्जुन की पहाड़ियों में चट्टानों को काटकर बनाई गई गुफाओं से प्रकट होता है कि भारत में शैलकृत गुफाओं की परंपरा मौर्य काल में ही प्रारंभ हुई थी। ये गुफ़ाएँ अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीविक भिक्षुओं के निवास के लिए पहाड़ियों में शिलाएँ काट-काट कर बनवाई गई थीं।

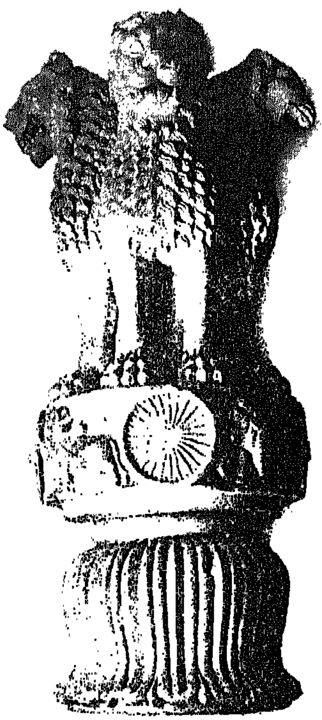
मौर्य काल की अद्भुत कला के असाधारण नमूने वे एकाश्म स्तंभ हैं, जो 15 मीटर तक ऊँचे हैं और जिन पर एक-एक शीर्ष है। इन स्तंभों के दो भाग हैं : नीचे एक लंबा खंभा होता है, जिसकी गोलाई नीचे से ऊपर की ओर कम होती जाती है और उसका व्यास लगभग 90 सेमी. से 125 सेमी. तक होता है। इन स्तंभों के ऊपरी सिरे पर एक शीर्ष होता था, जो किसी पशु की लघुमूर्ति से सजाया जाता था। ये लघुमूर्तियाँ मुख्यतः सिंहों, अश्वों, वृषभों और हाथियों की होती थीं। ये स्तंभ और स्तंभ शीर्ष मिर्जापुर जिले में चुनार के पास बलुआ पत्थर के



**आकृति 14.6** *यक्षी की मूर्ति दीदारगंज से*



**आकृति 14.7** *रामपुरवा के स्तंभ का वृषभ-शीर्ष*



**आकृति 14.8** *सारनाथ के स्तंभ का सिंहशीर्ष*

बनाए जाते थे। यहीं से देश के विभिन्न भागों में ये ले जाए जाते थे। इन पर पूरी तरह पालिश की जाती थी, जिससे वे चमकने लगते थे।

कुछ यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ मथुरा, पवाया और पटना में मिली हैं। वे बड़े आकार की मूर्तियाँ हैं और उस काल की लोक कला को दर्शाती हैं। पटना के पास, दीदारगंज से मिली यक्षी की मूर्ति एक स्वस्थ स्त्री की है, जिसके अंग-प्रत्यंग विकसित हो चुके हैं और वह हाथ में एक *चँवरी* पकड़े हुए है। इस प्रतिमा पर मौर्यकालीन पालिश दिखाई देती है।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित शब्दों और संकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए :
   धम्म, धम्मघोष, राज्यादेश (ईडिक्ट), धर्ममहामात्र, प्रादेशिक, रज्जुक, शासन, अमात्य।
2. चंद्रगुप्त ने मौर्य वंश का राज्य कैसे स्थापित किया।
3. मौर्य साम्राज्य के विस्तार का विवेचन कीजिए।
4. उत्कीर्ण लेखों के आधार पर अशोक के व्यक्तित्व के विषय में लिखिए।
5. अशोक के धम्म के बारे में लिखिए। अपने धम्म की उन्नति के लिए उसने क्या-क्या उपाय किए थे।
6. मौर्य साम्राज्य की शासन प्रणाली के बारे में लिखिए।
7. मौर्य काल में हुए आर्थिक विकास का वर्णन कीजिए।
8. कला और स्थापत्य के क्षेत्र में हुए विकास का वर्णन कीजिए।
9. मौर्यकालीन समाज और संस्कृति का विवेचन कीजिए।
10. मौर्य साम्राज्य के पतन का विवेचन कीजिए।
11. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
    (i) मौर्यकालीन इतिहास के स्रोत
    (ii) कलिंग युद्ध और उसका प्रभाव
    (iii) नगर प्रशासन
    (iv) इतिहास में अशोक का स्थान।

**करने के लिए कार्य**

- अशोक के स्तंभों और स्तंभ-शीर्षों के चित्र इकट्ठे करें और उन्हें अध्यापन-कक्ष में प्रदर्शित करें।
- भारत के नक्शे पर मौर्य साम्राज्य का विस्तार दर्शाएँ और उस काल के महत्वपूर्ण स्थान बताएँ।
- भारत के राष्ट्रीय प्रतीक का चित्र बनाएँ।



अध्याय 15

# शुंग और सातवाहन काल

**मौर्यों** के बाद शुंग वंश शासन में आया और शुंगों ने 187 ई.पू. से 75 ई.पू. यानी 112 वर्षों तक राज किया। परंपरा के अनुसार यह कहा जाता है कि शुंग लोग ब्राह्मण थे और शासन में उच्च पदों पर आसीन थे।

**मौर्यों** के बाद शुंग वंश शासन में आया और शुंगों ने 187 ई.पू. से 75 ई.पू. यानी 112 वर्षों तक राज किया। परंपरा के अनुसार यह कहा जाता है कि शुंग लोग ब्राह्मण थे और शासन में उच्च पदों पर आसीन थे। ऐसा कहा जाता है कि पुष्यमित्र शुंग मौर्य राजा बृहद्रथ का सेनापति था और एक बार जब राजा सेना का अवलोकन कर रहा था तब सेनापति पुष्यमित्र ने उसकी हत्या कर दी। सेना ने पुष्यमित्र के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं किया। इससे यही पता चलता है कि सेना राजा की अपेक्षा अपने सेनापति के प्रति अधिक निष्ठावान थी। पुष्यमित्र राजा बनने के बाद भी अपने आपको *सेनापति* ही कहता रहा।

पुष्यमित्र शुंग के शासन की पहली घटना थी विदर्भ के साथ उसका युद्ध। उस समय यज्ञसेन विदर्भ का शासक था और वह मौर्यों की राजसभा के एक मंत्री का संबंधी था। संभवतः अंतिम मौर्य राजा के शासन काल में अथवा उसकी हत्या के बाद उथल-पुथल और अव्यवस्था की डावाँडोल स्थिति का लाभ उठाकर यज्ञसेन ने अपने-आपको स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने यज्ञसेन को हराकर विदर्भ को फिर से अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पुष्यमित्र को यवनों के आक्रमण का भी सामना करना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि यवन लोग साकेत, पांचाल और मथुरा को रौंदते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गए थे। हम इस युद्ध के बारे में अधिक नहीं जानते, किंतु साहित्य के आधार पर यह अवश्य जानते हैं कि पुष्यमित्र शुंग ने इस युद्ध के बाद *अश्वमेध* यज्ञ किया। इसके अलावा, *मालविकाग्निमित्रम्* नामक संस्कृत के नाटक में यह उल्लेख है कि वसुमित्र ने यवनों को सिंधु नदी के तट पर पराजित किया था। पुष्यमित्र का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की तुलना में बहुत छोटा था।

*दिव्यावदान* के अनुसार पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म का विरोध किया और बौद्धों को सताया था, लेकिन इस तथ्य को देखते हुए कि साँची और भरहुत के स्तूपों का पुष्यमित्र के शासन काल में ही विस्तार किया गया था, यह आरोप सच्चा प्रतीत नहीं होता। शायद बौद्ध लोग इसलिए पुष्यमित्र से नाराज थे क्योंकि उसने राजा की हत्या करके शासन की बागडोर सँभाली थी।

पुष्यमित्र ने 36 वर्षों तक शासन किया और उसके बाद उसका पुत्र अग्निमित्र लगभग 148 ई.पू. में राजगद्दी पर बैठा। अग्निमित्र अपने पिता के शासन काल में विदिशा का शासक रहा था, इसलिए उसे शासनकला का अनुभव था। उसने लगभग आठ वर्ष तक राज किया। उसके शासन काल की किसी घटना का पता नहीं है और न ही उसके शासन काल के सिक्के (मुद्रा) या अभिलेख उपलब्ध हैं। अग्निमित्र के बाद जेठमित्र (ज्येष्ठ मित्र) राजगद्दी पर बैठा और उसके बाद अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुराणों में शुंग वंश के दस राजाओं का उल्लेख है। बाद वाले राजाओं में एक भागवत नाम का राजा हुआ, जिसकी राजसभा में ऐंटियालकिडास का राजदूत हेलियोडोरस रहा। अंतिम राजा देवभूति था।

शुंगों के शासन के बाद कण्वों ने राजगद्दी सँभाली। उनके बारे में हम बहुत नहीं जानते लेकिन इतना कह सकते हैं कि उन्होंने लगभग 45 वर्ष तक राज किया। इस अवधि में चार राजा सिंहासन पर रहे।

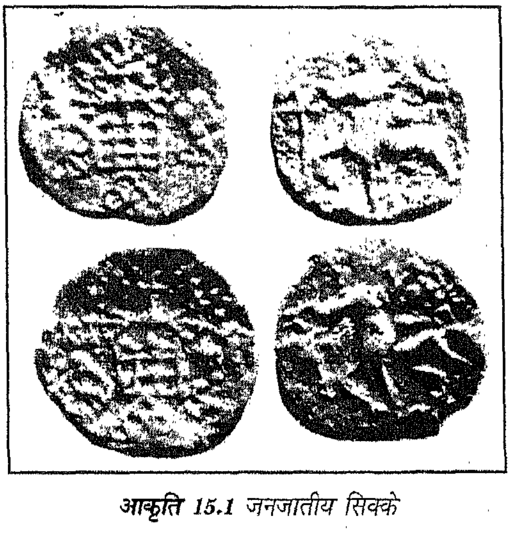
## कलिंग के मेघवाहन शासक

हमें अशोक के बाद ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य तक कलिंग के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। चेदि वंश के तीसरे शासक खारवेल के शासन काल में कलिंग शक्तिसंपन्न बना। इस राजा के बारे में सूचना का एक मात्र स्रोत हाथीगुंफा का शिलालेख है, जो भुवनेश्वर के पास उदयगिरि की पहाड़ियों में स्थित है। इस शिलालेख में खारवेल के शासन काल के तेरहवें वर्ष तक की उसकी उपलब्धियों का वर्णन है। खारवेल का यह शिलालेख अपने किस्म का एक अत्यंत अनूठा ऐतिहासिक अभिलेख है। इसमें राजा के जीवन और उसकी उपलब्धियों का उल्लेख एक साथ नहीं बल्कि वर्षवार अलग-अलग किया गया है। उदाहरण के लिए, शिलालेख में कहा गया है कि लेखन, गणित, कानून और वित्त के क्षेत्र में, एक युवराज के लिए आवश्यक सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के बाद, खारवेल अपनी चौबीस वर्ष की अवस्था में राजसिंहासन पर बैठा। उसने अपने शासन काल का पहला वर्ष कलिंग की राजधानी के पुनर्निर्माण में बिताया। दूसरे वर्ष में उसने शातकर्णि की शक्ति को ललकारा और मूषिक नगर पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया; चौथे वर्ष में उसने बरार के भोजकों और रठिरों को अपने आधिपत्य में ले लिया। पाँचवें वर्ष में उसने पुरानी नहर का विस्तार किया, यह नहर लगभग 300 वर्ष पहले नंदों द्वारा बनाई गई थी और उस समय उसका कोई उपयोग नहीं हो रहा था। खारवेल ने अपने शासन के आठवें और बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण किया। दूसरे अभियान में खारवेल मगध से एक जैन तीर्थंकर की वह प्रतिमा वापस ले आया जो पहले कलिंग से मगध ले जाई गई थी। इस अभियान में उसने जो धन प्राप्त किया, उससे उसने भुवनेश्वर में एक भव्य मंदिर बनवाया। अपने शासन के तेरहवें वर्ष में उसने जनकल्याण के लिए अनेक योजनाएँ प्रारंभ कीं और पांड्य शासकों को अपने अधीन किया।

इस शिलालेख में खारवेल के शासन काल के तेरहवें वर्ष तक की ही उपलब्धियों का उल्लेख है। इसके बाद स्वयं उसके या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता।

## कुछ गणसंघ

मौर्योत्तर काल के उत्तरी भारत में शासन करने वाले कुछ महत्वपूर्ण राजवंशों के अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि बहुत-से छोटे-छोटे गणराज्य भी वहाँ स्थापित थे। हम उनके बारे में उनकी मुद्राओं/सिक्कों के माध्यम से जानते हैं, जिन पर उनके नाम पाए जाते हैं। इनमें से कुछ थे : अर्जुनायन, मालव, औदुंबर, कुनिंद, यौधेय आदि। बाद में इनमें से अधिकांश गणराज्यों ने गुप्त राजाओं की अधीनता स्वीकार कर



*आकृति 15.1* जनजातीय सिक्के

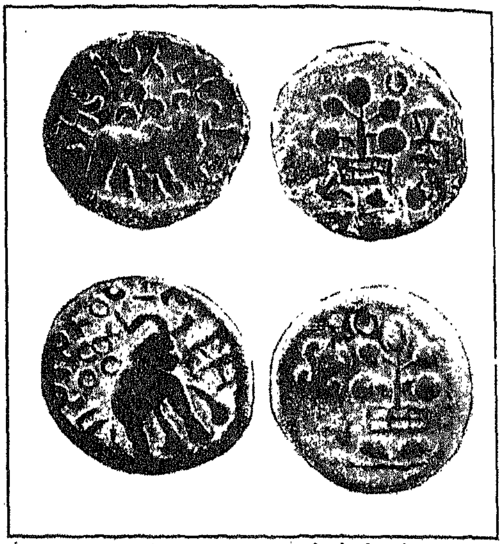
ली और गुप्त साम्राज्य के अधीन राज्य बन गए। ईसा की चौथी शताब्दी के बाद तो वे पूरी तरह लुप्त हो गए।

## दक्कन के सातवाहन शासक

महाराष्ट्र में सातवाहनों और दक्षिण भारत में चोल, चेर तथा पांड्यों के उद्भव से पहले इस प्रदेश में महापाषाणयुगीन लोग रहते थे।

मौर्यों के पतन के बाद जब उत्तर भारत उथल-पुथल की स्थिति से गुजर रहा था तब दक्कन में जहाँ आज के महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश के कुछ भाग स्थित हैं, एक अत्यंत शक्तिशाली राज्य की स्थापना सातवाहनों द्वारा की गई, जिन्हें आंध्र भी कहते हैं। आंध्रजन प्राचीन लोग हैं और ऐतरेय ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख है। यूनानी लेखक प्लिनी का कहना है कि आंध्र लोग बहुत शक्तिशाली थे, उनके पास बहुत बड़ी संख्या में गाँव और तीस शहर थे। उनकी सेना में एक लाख पैदल सैनिक, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी थे। मौर्यों के शासन काल में वे मौर्य साम्राज्य के अधीन थे, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य राजवंश के पतन के शीघ्र बाद, आंध्रों ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया।

इस राजवंश का संस्थापक सिमुक (शिमुक) था और उसने 235 ई.पू. से 213 ई.पू. तक शासन किया। उसके बाद उसका भाई कृष्ण राजगद्दी पर बैठा। तीसरे राजा का नाम शातकर्णि प्रथम था, जिसने लगता है, दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ कीं और दो अश्वमेध यज्ञ किए। नानाघाट के शिलालेख में उसकी उपलब्धियों का वर्णन विस्तार से किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने पश्चिमी मालवा, विदर्भ और अनूप (नर्मदा घाटी) प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। उसे दक्षिणापथ का स्वामी भी कहा जाता है। उसका नाम साँची स्तूप के एक द्वार पथ पर भी उल्लिखित है। यह तो सर्वविदित है कि



*आकृति 15.2 सातवाहनों के सिक्के*

सातवाहनों द्वारा साँची स्तूपों और मठों के नवीनीकरण तथा अलंकरण के लिए पर्याप्त मात्रा में दान दिया गया था।

उसके बाद जो महत्वपूर्ण राजा हुआ उसका नाम गौतमीपुत्र शातकर्णि था। इस बीच तीन राजा हुए। जिनमें से शातकर्णि द्वितीय ने लगभग 56 वर्ष राज किया। उसने शुंगों से मालवा छीन लिया। शातकर्णि द्वितीय के बाद, सातवाहन साम्राज्य के विस्तार को धक्का लगा और नहपान ने शायद सातवाहनों से कुछ राज्यक्षेत्र जीत लिया। नहपान के बहुत-से सिक्के नासिक क्षेत्र में पाए गए हैं।

सातवाहन लोग गौतमीपुत्र शातकर्णि के शासन काल में फिर शक्तिशाली बन गए। गौतमी पुत्र शातकर्णि की उपलब्धियों को राजमाता गौतमी बालश्री

के नासिक शिलालेख में महिमामंडित करके प्रस्तुत किया गया है। उस शिलालेख को शातकर्णि की मृत्यु के बाद, उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी पुलुमावि द्वितीय के शासन के उन्नीसवें वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था। इस शिलालेख में पुलुमावि द्वितीय को शकों, यवनों और पहलवों का विनाश करने वाला बताया गया है। उसने नहपान को उखाड़ फेंका और बड़ी संख्या में उसके चाँदी के सिक्के पुनरांकित करवाए। उसने शकों से उत्तरी महाराष्ट्र, कोंकण, विदर्भ, सौराष्ट्र और मालवा के प्रदेश जीत लिए। शातकर्णि ने अपने शासन काल के अठारहवें वर्ष में नासिक में एक गुफा समर्पित की और चौबीसवें वर्ष में कुछ भूमि तपस्वी-संन्यासियों को दान में दी। गौतमीपुत्र शातकर्णि पहला ऐसा राजा था, जिसने अपने नाम के साथ मातृनाम जोड़ा था और उसके लगभग सभी उत्तराधिकारियों ने भी नाम रखने की यही पद्धति अपनाई।

गौतमीपुत्र के बाद उसका बेटा वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि सन् 130 ईसवी के आसपास राजगद्दी पर बैठा और उसने लगभग चौबीस वर्षों तक राज किया। पुलुमावि के सिक्के और शिलालेख आंध्र प्रदेश में पाए गए हैं। इससे यह पता चलता है कि आंध्र ईसा की दूसरी शताब्दी में सातवाहन साम्राज्य का एक हिस्सा बन गया था। संभवतः सातवाहन साम्राज्य को शकों के घातक आक्रमण से बचाने के लिए पुलमावि ने शक शासक रुद्रदामन (रुद्रदामा) की बेटी से विवाह कर लिया, लेकिन इस शक राजा ने अगले सातवाहन शासक को दो बार परास्त किया और उससे अपरांत (कोंकण) और अनूप (नर्मदा घाटी) के क्षेत्र छीन लिए।

श्री यज्ञ शातकर्णि (165-195 ई.) संभवतः सातवाहन वंश के महान शासकों में से अंतिम था। उसके शिलालेख आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में पाए गए हैं। उसके सिक्कों के फैलाव से पता चलता है कि वह एक बहुत बड़े राज्य क्षेत्र पर शासन करता था, जो पूर्व में बंगाल की खाड़ी से पश्चिम में अरब सागर तक फैला हुआ था। इस प्रकार उसने उस भूमि पर फिर से आधिपत्य जमा लिया था, जिसे शकों ने उसके पूर्वजों से जीत लिया था। उसके शासन काल में समुद्री व्यापार और कार्यकलापों की स्थिति का पता इसी बात से चलता है कि उसके सिक्कों में जहाज के साथ मछली और शंख चित्रित किए गए हैं।

यज्ञ के उत्तराधिकारी कमजोर थे और इतने बड़े साम्राज्य का शासन-भार नहीं सँभाल सकते थे। उनका शासन छोटे-छोटे राज्य क्षेत्रों में सीमित हो गया। जब आभीरों ने महाराष्ट्र को अपने आधिपत्य में ले लिया और इक्ष्वाकुओं तथा पल्लवों ने पूर्वी प्रांतों को हथिया लिया, तब सातवाहन साम्राज्य का पतन हो गया।

## विदेशी आक्रांताओं का युग

पुष्यमित्र शुंग के शासन की एक अति महत्त्वपूर्ण घटना थी, पश्चिम से यवनों का आक्रमण। वैयाकरण पतंजलि जो पुष्यमित्र का समकालीन था, ने इस आक्रमण का उल्लेख किया है। कालिदास ने भी अपने *मालविकाग्निमित्रम्* नाटक में वसुमित्र की यवनों के साथ हुई मुठभेड़ का उल्लेख किया है। यह कहना समीचीन होगा कि 'यवन' शब्द का तात्पर्य आयोनियन यूनानियों से ही था, लेकिन बाद में यूनानी राष्ट्रीयता के सभी लोगों को यवन कहा जाने लगा। यवन ही पहले विदेशी लोग थे जिन्होंने भारत की भूमि पर विदेशी सत्ता स्थापित की थी। उनके बाद बहुत-सी मध्य-एशियाई जनजातियों ने भारत

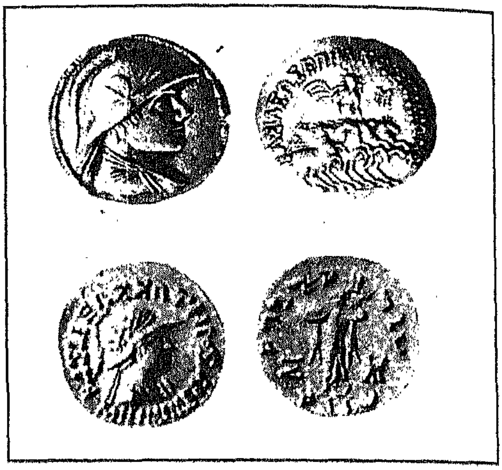
पर आक्रमण किया और उन्होंने यहाँ अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित कर ली, उनमें से कुछ की चर्चा यहाँ की जा रही है।

## भारतीय-यूनानी

भारत में यवनों का आगमन भारत के पश्चिमी सीमा-प्रदेश में हुई कुछ घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ। इन्हें भारतीय-यूनानी या हिंद-यूनानी भी कहा जाता है। सिकंदर के चले जाने के बाद उसके साम्राज्य का एक बहुत बड़ा भाग उसके सेनानायकों के शासन में रहा। इनमें से दो मुख्य क्षेत्र थे : बैक्ट्रिया और उसके साथ लगा ईरान का इलाका जिसे पार्थिया कहते हैं। 250 ई.पू. के आसपास बैक्ट्रिया के गवर्नर डायोडोटस ने यूनानियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। कुछ महत्त्वपूर्ण भारतीय-यूनानी राजा थे : यूथीडेमस, डेमेट्रियस, यूक्रेटाइडीज और मिनांडर।

सभी भारतीय-यूनानी शासकों में मिनांडर (या मिनेंद्र) (165-145 ई.पू.) सबसे अधिक प्रतापी राजा था। उसने लगभग बीस वर्ष तक राज किया। उसकी राजधानी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) थी, जो अब पाकिस्तान में है। यूनानी लेखक कहते हैं कि वह एक महान शासक था और उसका राज्य क्षेत्र अफगानिस्तान से पूर्व में उत्तर प्रदेश तक और पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ था। मिनांडर ने बौद्ध धर्म अपना लिया था और बौद्ध भिक्षु नागसेन ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। मिनांडर ने नागसेन से बौद्ध धर्म तथा दर्शन के विषय में अनेक प्रश्न पूछे थे, जो उनके उत्तर सहित *मिलिंदपन्हो* यानी *मिलिंद के प्रश्न* नामक ग्रंथ में दिए गए हैं।

भारत के इतिहास में भारतीय-यूनानी शासक ही पहले राजा थे, जिनके सिक्कों पर राजाओं के चित्र और उनके नाम मिलते हैं। इसके पहले भारतीय



*आकृति 15.3* भारतीय-यूनानियों के सिक्के

सिक्कों पर राजाओं के नाम या चित्र नहीं मिलते थे। वे ही पहले शासक थे, जिन्होंने सोने के सिक्के चलाए थे। भारतीय-यूनानी सिक्के वास्तविकतापूर्ण चित्रण और कलात्मकता के लिए विख्यात हैं।

## पार्थियाई या पह्लव

पार्थियाई (पार्थियन) जिन्हें पह्लव भी कहा जाता है, ईरानी थे। उनका इतिहास धुंधला है। किंतु उनके सिक्कों तथा शिलालेखों से कुछ तथ्यों का पता चलता है। इस वंश का पहला राजा वोनोनीस था, जिसने अराकोसिया और सीस्तान में सत्ता हथियाई और 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। वोनोनीस के बाद स्पैलाइरिसेस ने सत्ता सँभाली। गोंदोफरनीज पार्थियाई शासकों में सबसे महान था। उसने 19-45 ई. तक शासन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह बहुत कम समय के लिए, पूर्वी ईरान और पश्चिमोत्तर भारत में स्थित संपूर्ण शक-पह्लव क्षेत्र का स्वामी था। गोंदोफरनीज के बाद जल्दी ही भारत में पह्लव शासन का अंत हो गया और कुषाण सत्ता में आए। अफगानिस्तान के बेग्राम स्थल पर की कई खुदाई में

गोंदोफरनीज के सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं, लेकिन उसके उत्तराधिकारियों का एक भी सिक्का नहीं मिला।

### शक

पश्चिमोत्तर भारत में भारतीय-यूनानियों का शासन शकों द्वारा समाप्त कर दिया गया। शकों को सीथियन भी कहा जाता है। शक जनजातीय यानी कबाइली लोग थे, जो पहले मध्य एशिया में रहते थे। 165 ई.पू. के आसपास यू-ची नामक एक अन्य कबीले ने उन्हें उनके मूल निवास स्थान से खदेड़ दिया। यू-ची लोगों को बाद में कुषाण कहा जाने लगा। उन्हें भी बाद में मध्य एशिया से खदेड़ दिया गया और वे भारत आ गए। मध्य एशियाई कबीलों द्वारा भारत में की गई घुसपैठ का मुख्य कारण यही था कि मध्य एशिया तथा निकटवर्ती पश्चिमोत्तर चीन की स्थिति उस समय उनके लिए अनुकूल नहीं थी। ई.पू. तीसरी शताब्दी में चीन की बड़ी दीवार के निर्माण के बाद, हिउंग-नू, वु-सुन और यू-ची जैसी जनजातियों के लिए अपना स्थान छोड़कर दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़ने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं था। सबसे पहले अपना स्थान छोड़ने वाले यू-ची कबीले के लोग थे, उन्होंने शकों को विस्थापित कर दिया। तब शकों ने बैक्ट्रिया और पार्थिया पर धावा बोल दिया और फिर बोलन दर्रे से होकर भारत में घुस आए। शक लोग पाँच शाखाओं में बँटे हुए थे और वे पश्चिमोत्तर तथा उत्तर भारत के भिन्न-भिन्न भागों में बस गए। उनकी एक शाखा अफगानिस्तान में बसी। दूसरी शाखा ने पंजाब में अपना डेरा जमाया और तक्षशिला को अपनी राजधानी बनाया। तीसरी शाखा मथुरा में आ बसी। चौथी महाराष्ट्र और सौराष्ट्र में तथा पाँचवीं शाखा मध्य भारत में संस्थापित हुई और उसने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। शक जातियों ने ईसा पूर्व पहली शताब्दी से लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर राज किया।

वैसे तो शकों ने देश के भिन्न-भिन्न भागों पर शासन किया, किंतु जिन्होंने मध्य तथा पश्चिमी भारत पर शासन किया, उन्होंने ही प्रमुखता प्राप्त की। पश्चिमी भारत के शासकों में सबसे अधिक प्रतापी राजा नहपान था, जिसका उल्लेख महाराष्ट्र में पाए गए विभिन्न शिलालेखों तथा सातवाहनों के अभिलेखों में पाया जाता है। मध्य भारतीय शाखा का सबसे अधिक प्रख्यात शासक रुद्रदामन (रुद्रदामा) था, जिसने 130 से 150 ई. तक राज किया। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख से यह पता चलता है कि उसका शासन एक बहुत बड़े क्षेत्र पर फैला हुआ था, जिसमें गुजरात, सिंध, सौराष्ट्र, उत्तरी कोंकण, मालवा और राजस्थान के भी कुछ हिस्से शामिल थे। उसने काठियावाड़ में स्थित सुदर्शन झील के बाँध की मरम्मत करवाई, जो भारी वर्षा के कारण जगह-जगह से टूट गया था। इस बाँध का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रांतीय गवर्नर ने करवाया था।

रुद्रदामन के शासन काल में उसकी राजधानी उज्जयिनी संस्कृति तथा शिक्षा का प्रमुख केंद्र बन गई। बहुत से विद्वानों की राय है कि शक संवत् शकों द्वारा चलाया गया था। सन् 390 ई. के आसपास जब गुप्त वंश के शासक चंद्रगुप्त द्वितीय ने उसके अंतिम राजा को परास्त कर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया, तब इस राजवंश का अंत हो गया।

### कुषाण

चीन के इतिहासकारों का कहना है कि यू-ची एक यायावर जनजाति थी जो चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर रहती थी। 165 ई.पू. में इसका एक पड़ोसी

जनजाति हिउंग-नू से झगड़ा हुआ। इस लड़ाई में यू-ची कबीले की हार हुई और उन्हें अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा। वे पूर्व की ओर तो बढ़ नहीं सकते थे, क्योंकि चीन की दीवार बन चुकी थी और उसने उनका रास्ता रोक दिया था। इसलिए पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ना ही उनके लिए एकमात्र विकल्प था। पश्चिम की ओर बढ़ते समय यू-ची का वु-सुन नामक एक अन्य कबीले से झगड़ा हुआ, लेकिन उन्होंने वु-सुन को आसानी से हरा दिया। लगभग इसी समय, यू-ची दो समूहों में बँट गए। पहला समूह था— लघु यू-ची जो तिब्बत चला गया और दूसरा समूह था— महा यू-ची जो अंततः भारत में आ गया। वु-सुन के बाद यू-ची की जिन लोगों से मुठभेड़ हुई, वे शक थे, जो बैक्ट्रिया में बस गए थे, लेकिन शकों को अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा और वे भारत आ गए और यू-ची लोग शकों से खाली कराई गई जमीन पर बस गए। यहाँ आकर उन्होंने अपना यायावर जीवन छोड़ दिया, वे एक स्थान पर बस गए और खेती का धंधा करने लगे। उसके बाद, शायद इसी क्षेत्र में महा यू-ची पाँच शाखाओं में विभाजित हो गए।

चीनी स्रोतों के अनुसार पहला बड़ा यू-ची राजा कुजुल कैडफाइसिस था, जिसे कैडफाइसिस प्रथम भी कहा जाता है। उसने पाँचों समूहों को एक साथ संगठित किया और अफगानिस्तान पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उसने अपने आपको 'महाराजा' कहा। उसे *धर्मथिद* और *सचधर्मथिद* (सच्चे धर्म में स्थिर) भी कहा जाता है, इन पदवियों से यह प्रतीत होता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था।

कैडफाइसिस प्रथम के बाद उसका पुत्र वेम कैडफाइसिस यानी कैडफाइसिस द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसने कुषाण राज्य को पंजाब तक और शायद गंगा-यमुना के दोआब तक भी बढ़ा लिया। उसने सोने तथा ताँबे के सिक्के चलाए और इन सिक्कों पर उसका एक महान राजा तथा शिवभक्त के रूप में उल्लेख किया गया है। उसके कुछ सिक्कों पर नंदि (बैल) के साथ त्रिशूलधारी शिव का चित्र अंकित है।

कैडफाइसिस द्वितीय के बाद कनिष्क ने राज-पाट संभाला। कनिष्क कुषाण वंश का सबसे अधिक लोकप्रिय एवं प्रतापी राजा था। कनिष्क संभवतः 78 ई. में राजसिंहासन पर बैठा था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि कनिष्क ने ही *शक संवत्* की नींव डाली थी। अपने चरमोत्कर्ष के समय कनिष्क का साम्राज्य पश्चिमोत्तर में खोतान से पूर्व में बनारस तक और उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में सौराष्ट्र तथा मालवा तक फैला हुआ था। कनिष्क के इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर यानी आधुनिक पेशावर थी। कनिष्क के सिक्के लगभग इन सभी क्षेत्रों में पाए गए थे।

कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। कनिष्क के शासन काल में चतुर्थ बौद्ध परिषद् का आयोजन किया गया। कनिष्क की राजसभा पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, चरक तथा नागार्जुन जैसे विद्वानों की उपस्थिति से सुशोभित थी। उसके शासन काल में तक्षशिला एवं मथुरा कला तथा संस्कृति के महान केंद्र बन गए।

कनिष्क ने 78 ई. से 101 ई. तक राज किया। उसके बाद वाशिष्क, हुविष्क, वासुदेव और कुछ अन्य उत्तराधिकारियों ने राजगद्दी सँभाली। इनमें से अंतिम नाम (वासुदेव) विशुद्ध रूप से भारतीय है। इससे यह प्रकट होता है कि कुषाणों का पूर्ण रूप से भारतीयकरण हो चुका था। यद्यपि यह नाम (वासुदेव) वैष्णव देवता के नाम पर रखा गया है, लेकिन राजा वासुदेव स्वयं वैष्णव नहीं शैव था। वाशिष्क के बाद



***आकृति 15.4*** *कुषाणों के सिक्के*



***आकृति 15.5*** *कनिष्क की मूर्ति*

कुषाण शक्ति का पतन प्रारंभ हो गया तथापि कुषाण शासक कुछ बड़े सम्राटों के अधीन अपने छोटे-छोटे राज्यों पर चौथी शताब्दी तक स्वतंत्र रूप से शासन करते रहे।

## अभ्यास

1. मौर्यों के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करें।
2. सातवाहन कौन थे? उनकी राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन करें।
3. भारतीय-यूनानी कौन थे, हम उनके बारे में कैसे जानते हैं?
4. कुषाण कौन थे? उनके राजनीतिक इतिहास का वर्णन करें।
5. निम्नलिखित पर लघु टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) शक
   (ii) कनिष्क
   (iii) पार्थियाई
   (iv) खारवेल

**करने के लिए कार्य**

- भिन्न-भिन्न राजवंशों के सिक्कों के चित्र इकट्ठे करें। रुपयों के रूप में उनके मूल्य का पता लगाने की कोशिश करें।



# अध्याय 16

# दक्षिण भारत का प्रारंभिक इतिहास

इस क्षेत्र के लोगों और राज्यों के बारे में हमें जो प्राचीनतम उल्लेख मिले हैं, वे तीन रूपों में सुरक्षित हैं— अशोक के शिलालेखों, संगम साहित्य और मेगस्थनीज के विवरणों में। अशोक के दूसरे और तेरहवें शिलालेख में चोल, पाड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के दक्षिणी राज्यों का उल्लेख मिलता है।

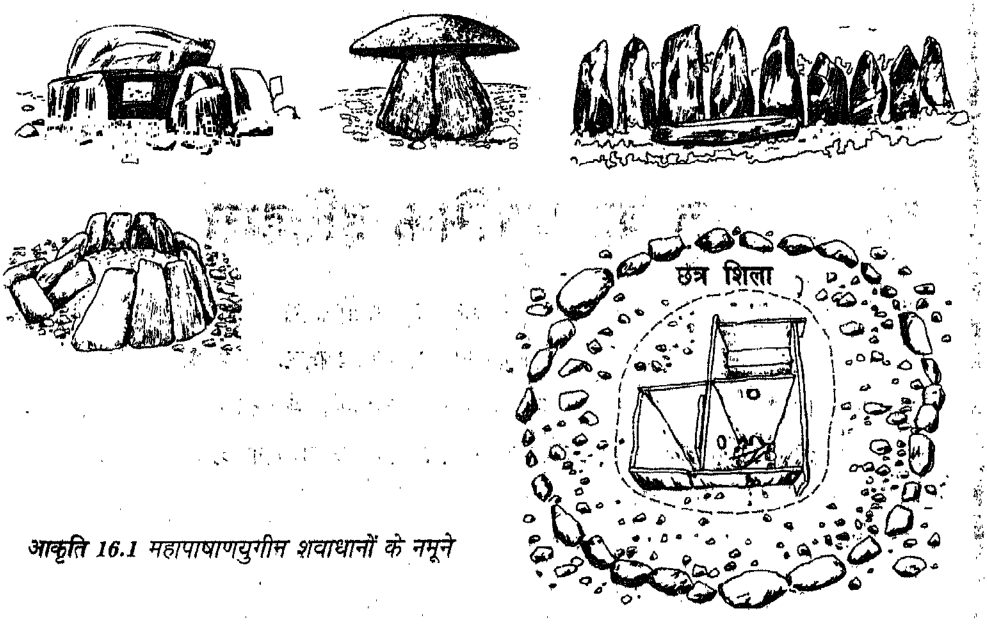
**हमने** पहले एक अध्याय में देखा है कि दक्षिण भारत, मुख्यतः तमिलनाडु और केरल के वर्तमान राज्यों में ई.पू. प्रथम सहस्राब्दी में महापाषाणयुगीन लोग बसते थे। इस अध्याय में हम महापाषाण युग से लगभग सन् 300 ई. तक की अवधि के दक्षिण भारत के इतिहास की जानकारी प्राप्त करेंगे।

## दक्षिण भारत का महापाषाण युग

महापाषाणयुगीन संस्कृति मुख्यतः अपनी शवाधान प्रथा के लिए जानी जाती है। उन शवाधानों को महापाषाण (मेगालिथ) का नाम दिया गया है, तब भी जबकि बड़े पत्थरों का इनसे कोई संबंध नहीं है। इन शवाधानों की निशानी है, बहुत बड़ी संख्या में लोहे के औजार और काले-तथा-लाल रंग के मिट्टी के बर्तन। ऐसा प्रतीत होता है कि नवपाषाण युग का सहसा ही लौह युग में परिवर्तन हो गया और इनके बीच कोई उल्लेखनीय ताम्र-पाषाणिक अथवा कांस्ययुगीन चरण आया ही नहीं। महापाषाणयुगीन शवाधानों की मुख्य किस्में ये हैं :

(i) *गर्तचक्र (पिट सर्कल) समाधियाँ :* शव को पहले मांस रहित बना दिया जाता था और तब उसे दफन किया जाता था। कब्र की वस्तुओं में बर्तन और लोहे की कला-वस्तुएँ शामिल होती थीं तथा गड्ढे के चारों ओर पत्थरों का एक चक्र बनाया जाता था।

(ii) *ताबूत (सिस्ट) :* इन समाधियों के अनेक प्रकार हैं। ताबूत ग्रेनाइट की शिलाओं से बनाए जाते थे, जिन पर झरोखे वाली अथवा उनके बिना एक या एक से अधिक आच्छादन-शिलाएँ (कैपस्टोन) होती थीं।




*आकृति 16.1 महापाषाणयुगीन शवाधानों के नमूने*

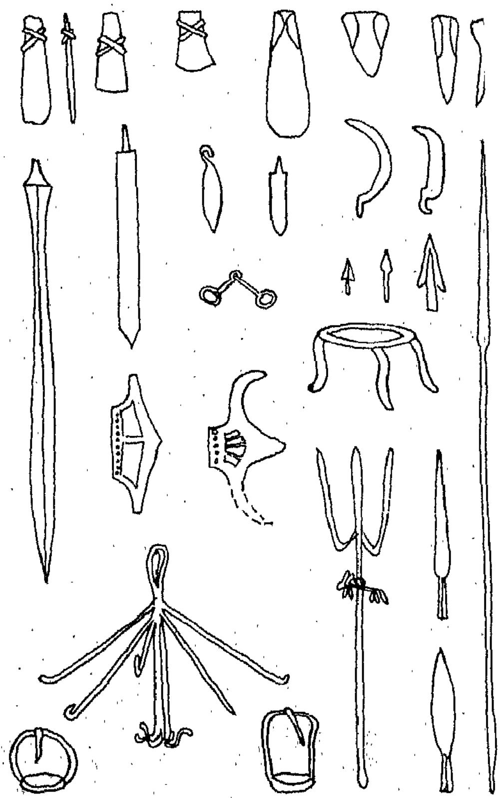
ताबूतों को पूरी तरह से, अथवा आधा दफनाया जाता था अथवा मात्र चट्टानों पर रख दिया जाता था। इनमें एक अथवा एक से अधिक शव हो सकते थे। ताबूतों के चारों ओर पत्थरों के एक अथवा एक से अधिक चक्र होते थे।

(iii) *लेटराइट कक्ष (चैंबर)* : मालाबार में ग्रेनाइट शिलाओं के स्थान पर, लेटराइट में खुदे समाधियों के कक्ष मिले हैं।

(iv) *पंक्तिबद्ध दीर्घाश्म स्तंभ (मेनहिर):* गुलबर्गा जिले में और हैदराबाद के दक्षिण में बहुत बड़ी संख्या में वर्गाकार अथवा विकर्ण के रूप में लगाए गए खड़े पत्थर (मेनहिर) पाए गए हैं, जिनकी ऊँचाई 2 से 6 मीटर तक है, लेकिन कश्मीर में मेनहिर अर्ध-गोलाकार रूप में लगाए गए हैं।

(v) *सैक्रोफैगस :* मिट्टी (टेराकोटा) के बने इन पायेदार कलशों के ऊपर कई बार पशुओं के सिर लगे मिले हैं, लेकिन ये कलश आम रिवाज में नहीं थे।

(vi) *अस्थि-कलश :* मांस हटाई गई अस्थियों को कलशों में दफन करने की प्रथा गत नवपाषाण युग से प्राप्त विरासत प्रतीत होती है। इन पर आच्छादन शिलाएँ लगाई हुई मिली हैं अथवा इनके चारों ओर पत्थरों के चक्र बने हुए हैं। इन अस्थि-कलशों की संख्या पूर्वी तट पर अधिक पाई गई है।



***आकृति 16.2*** *महापाषाणयुगीन औजार*

निस्संदेह महापाषाण युग में निर्मित वस्तुएँ अनेक रूपों की हैं, लेकिन आमतौर पर ये काले-और-लाल रंग के बर्तनों और विशिष्ट प्रकार के लोहे के औजारों के रूप में पाई गई हैं। भारत के संपूर्ण प्रायद्वीपीय भाग में इनमें एक आश्चर्यजनक एकरूपता पाई जाती है। मिट्टी के बर्तनों में शंकु आकार वाले अथवा लूप वाले ढक्कन, नौतली गुलदस्ते, साधार कटोरे, टोंटीदार तश्तरियाँ विशेष रूप से पाई जाती हैं। लोहे के उपकरणों में मुख्य किस्में ये हैं : आड़ी पट्टी वाली कुल्हाड़ियाँ, दराँती, तिपाइयाँ, त्रिशूल, बल्लमों के सिरे, तलवारें, दीपों की खूँटियाँ, बाणों के सिरे और दीप। घोड़े के साज़ के हिस्से और घंटियाँ भी आमतौर पर पाई जाती हैं। कभी-कभी, महापाषाण

युग के अवशेषों के साथ इंद्रगोप (कार्नेलियन) के रेखित मनके, स्वर्ण आभूषण और ताँबे तथा पत्थर की विविध प्रकार की वस्तुएँ भी पाई जाती हैं।

हमारी वर्तमान जानकारी के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि इन महापाषाणीय स्मारकों से भले ही उनका बाहरी आकार तथा अंतर्वस्तु कुछ भी हो, न केवल लौह युग के प्रारंभ होने के समय का अर्थात् भारत के इतिहास के उस काल का पता चलता है जब लोहे के औजारों और शस्त्रों का इस्तेमाल आमतौर पर होने लगा था, बल्कि इनसे उस समय का भी पता चलता है जब से काल-निर्धारित साहित्य उपलब्ध होना शुरू हो जाता है। इस प्रकार एक तरह से इन महापाषाणों के साथ हमारा प्रागैतिहासिक युग समाप्त हो जाता है और ऐतिहासिक युग प्रारंभ होता है। यद्यपि यह बात काफी हद तक सही है, किंतु अभी भी हमें इस बात की बहुत कम जानकारी है कि महापाषाण युग के लोग कैसे रहते थे, क्योंकि ऐसे किसी स्थल की खुदाई नहीं हुई है। स्वाभाविक रूप से इन महापाषाणों के निर्माताओं की जानकारी अभी भी उपलब्ध नहीं है। संस्कृत अथवा प्राकृत साहित्य में इन स्मारकों का कोई उल्लेख नहीं मिलता, हालांकि प्राचीन तमिल साहित्य में शवाधान की इन प्रथाओं का कुछ वर्णन अवश्य मिलता है।

## प्रारंभिक इतिहास

इस क्षेत्र के लोगों और राज्यों के बारें में हमें जो सबसे प्राचीन विवरण उपलब्ध होते हैं, वे तीन रूपों में अर्थात् अशोक के शिलालेखों, संगम साहित्य और मेगस्थनीज़ के वृत्तांतों में सुरक्षित हैं। अशोक के दूसरे तथा तेरहवें शिलालेख में चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और तांबपण्णी के दक्षिणी राज्यों का उल्लेख किया गया है। ये सभी राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर स्थित थे, लेकिन इन पड़ोसी राज्यों के प्रति अशोक की परोपकार की भावना का पता इस तथ्य से लगता है कि उसने इन राज्यों के पशुओं और मनुष्यों के लिए औषधियों और खाद्य पदार्थों आदि की व्यवस्था की थी। मेगस्थनीज़ ने भी इन राज्यों का जिक्र किया है। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि उसने तमिल राज्यों के एक परिसंघ को पराजित किया था।

दक्षिणी राज्यों का पहला विस्तृत वर्णन संगम साहित्य में मिलता है, जिसकी रचना ई. सन् की पहली चार शताब्दियों में हुई थी। यह उल्लेखनीय है कि तमिल दक्षिण भारत की बोलचाल और साहित्य की सबसे प्राचीन भाषा है और इस भाषा का सबसे पहला साहित्य संगम साहित्य है। यह साहित्य भाव गीतों, गीति-काव्यों और ग्राम्य-गीतों का संग्रह है, जिनकी रचना तीन उत्तरवर्ती साहित्यिक सभाओं में, जिन्हें *संगम* कहा जाता था, प्रस्तुत किए जाने के लिए विभिन्न कवियों और विद्वानों द्वारा की गई थी। इन संगमों की स्थापना पांड्य राजाओं द्वारा की गई थी। संगम साहित्य में ई.पू. तीसरी शताब्दी से तीसरी शताब्दी ई. तक की अवधि में दक्षिण भारत के समाज और जनजीवन के बारे में लोक-स्मृतियाँ सुरक्षित हैं।

अशोक के शिलालेखों, मेगस्थनीज़ के वृत्तांतों, संस्कृत तथा संगम साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिणी और उत्तरी भारत के बीच काफी बड़ी मात्रा में सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता था। नियमित स्थायी जीवन, मजबूत स्थिर समुदायों और सशक्त अर्थव्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप चोल, चेर और पांड्य राज्यों का उदय हुआ। संगम साहित्य की मान्यता है कि चेर, चोल और पांड्य राजवंश आदिकाल से चले आ रहे हैं।

## चोल वंश

चोल शासकों का आधिपत्य कावेरी नदी के थाले (डेल्टा) और उसके आस-पास के क्षेत्र पर था। काँची का क्षेत्र भी इस राज्य का भाग था। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में इसे चोलमंडलम् भी कहा जाता था। यह पांड्य राज्य के उत्तर-पूर्व में स्थित था। शुरू में इसकी राजधानी तिरुचिरापल्ली में उरैयूर में स्थित थी, लेकिन बाद में इसे पुहार में स्थानांतरित कर दिया गया, जिसे कावेरीपट्टनम् के नाम से पुकारा जाने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि ई.पू. दूसरी शताब्दी के मध्य में एलारा नाम के चोल राजा ने श्रीलंका पर विजय प्राप्त की और लगभग 50 वर्षों तक इस पर शासन किया।

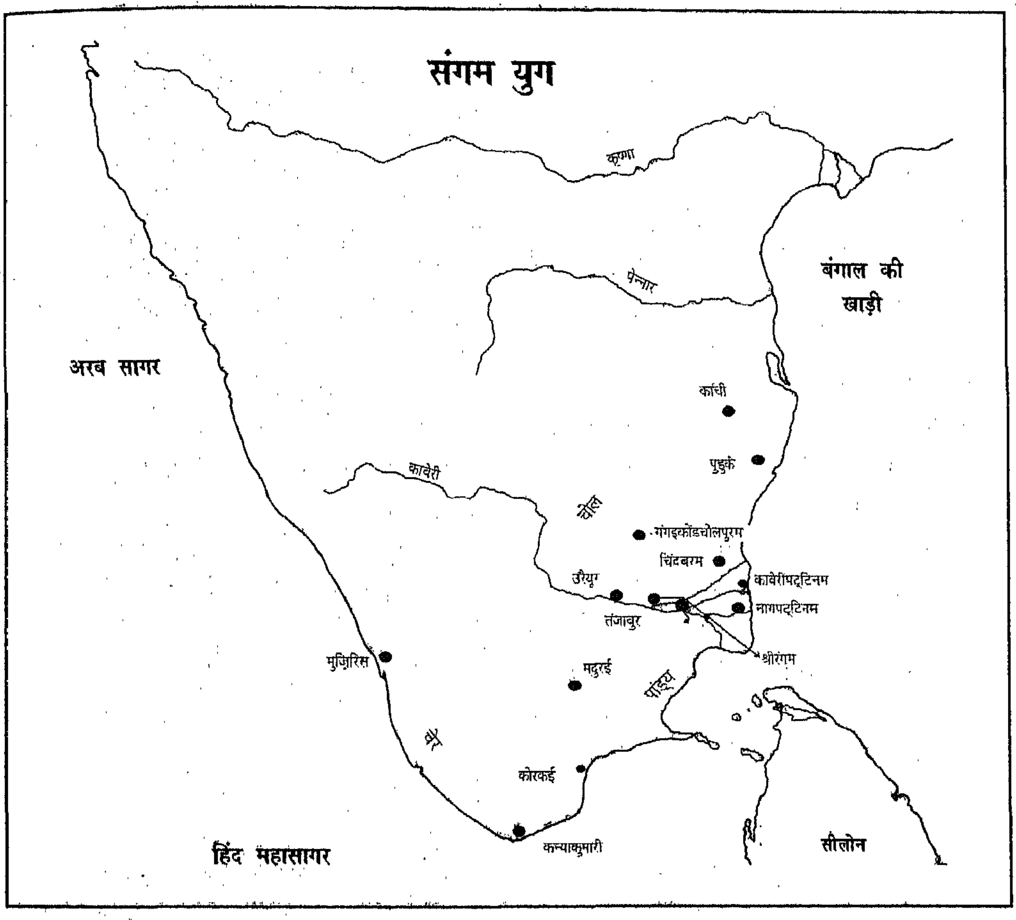
चोल वंश के प्रारंभिक राजाओं में करिकाल सबसे अधिक प्रसिद्ध राजा था। उसकी दो महान उपलब्धियाँ ये थीं : उसने चेर और पांड्य राजाओं की संयुक्त सेनाओं को करारी मात दी और श्रीलंका पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि करिकाल ने चेर और पांड्य राज्यों के नेतृत्व के अधीन लगभग एक दर्जन शासकों के परिसंघ को तंजौर के निकट वेन्नी में हुए एक भीषण युद्ध में पराजित किया और समूचे तमिल क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। करिकाल के पास एक शक्तिशाली नौसेना थी और उसने श्रीलंका पर विजय प्राप्त की। उसे इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसने कावेरी नदी के किनारों पर 160 किलोमीटर लंबे तटबंध बनाकर सिंचाई की बड़ी-बड़ी नहरों का निर्माण किया। उसने कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित सुप्रसिद्ध पत्तन पुहार को सुरक्षित बनाया। ये दोनों महान निर्माण-कार्य मुख्यतः श्रीलंका से युद्ध बंदियों के रूप में लाए गए 12,000 मजदूरों द्वारा किए गए। इस सब के फलस्वरूप, कृषि, व्यापार, वाणिज्य, कलाओं और शिल्पों, आदि का विकास हुआ। करिकाल साहित्य और शिक्षा का महान संरक्षक था। वह वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने अनेक वैदिक यज्ञ किए।

करिकाल के देहांत के बाद, चोल राज्य में अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। उसके उत्तराधिकारी बड़े कमजोर थे और राजपरिवार के सदस्य सत्ता और पद-प्राप्ति के लिए परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। करिकाल के बाद दूसरा एकमेव राजा, जिसे महान शासक के रूप में जाना जाता है, इल्लनजेतसेन्नि था, जिसने चेर शासकों के दो दुर्गों पर कब्जा किया, किंतु तथ्य यह है कि करिकाल के बाद चोल साम्राज्य का पतन हो गया और चेर तथा पांड्य शासकों ने चोल राज्य को नुकसान पहुँचाकर अपने राज्यक्षेत्रों का विस्तार किया। पल्लवों से पराजित होने के पश्चात्, चौथी से नौवीं शताब्दी ई. तक की अवधि में चोल राजवंश का ह्रास होता गया और वह एक छोटा-सा राजपरिवार बनकर रह गया।

## पांड्य वंश

पांड्य राज्य का मोटे रूप से तमिलनाडु के तिरुनेलवेली, रामनद और मदुरै के आधुनिक जिलों के क्षेत्र पर आधिपत्य था। इस राज्य की राजधानी मदुरै में थी। संगम साहित्य से कुछ छिटपुट सूचना और कुछ राजाओं के नामों की जानकारी मिलती है। नेदुनजेलियन का उल्लेख एक महान पांड्य राजा के रूप में किया गया है। चेर, चोल और पाँच अन्य छोटे राज्य उसके विरुद्ध इकट्ठे हो गए थे और उन्होंने मदुरै में उसके विरुद्ध धावा बोल दिया था, लेकिन उसने उनकी संयुक्त सेनाओं को हरा दिया। इस महान विजय का चिरकाल तक स्मरण किया जाता




आकृति 16.3 संगम युग

रहा और दसवीं शताब्दी ई. के एक शिलालेख में भी इसका उल्लेख किया गया है। यह भी कहा जाता है कि उसने अनेक वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने 210 ई. के आस-पास शासन किया था।

पांड्यों के राज में राजधानी मदुरै और पत्तन-नगर कोरकै व्यापार और वाणिज्य के बड़े केंद्र थे। पांड्यों का राज्य बहुत धनसंपन्न और समृद्ध था। व्यापारी रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार करके बहुत लाभ कमाते थे। पांड्य वंश के राजाओं ने रोमन सम्राट आगस्टस और ट्रोजन के दरबार में भी अपने राजदूत भेजे थे।

## चेर वंश

चेरों को केरलपुत्र भी कहा जाता है। इनका राज्य पांड्यों के राज्य के पश्चिम और उत्तर में स्थित था।

इस राज्य के क्षेत्र में समुद्र और कोंकण पर्वतमाला के बीच की भूमि की संकरी पट्टी शामिल थी। पांड्य और चोल राजाओं की तरह, चेर शासकों का भी दक्षिण भारत के इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान है। चेर शासक नेदुनजीरल आदन ने कदंब राजाओं पर विजय प्राप्त की, जिनकी राजधानी वनवासी (गोवा के निकट) में थी। उसने चोल वंश के राजा करिकाल के पिता के साथ भी युद्ध किया। इस युद्ध में दोनों राजा मारे गए। यह भी कहा जाता है कि उसने यवनों को भी पराजित किया। संभवतः यह उल्लेख यूनान (ग्रीस) और रोम के उन लोगों के बारे में है जो बहुत बड़ी संख्या में व्यापारियों के रूप में आए थे और जिन्होंने दक्षिण भारत में बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसा ली थीं। चेर परंपरा के अनुसार चेर राजवंश का सबसे महान शासक सेनगुट्टुवन था। कहा जाता है कि उसने चोल और पांड्य राजवंश के राजाओं को अपने अधीन किया था।

यह जानना रुचिकर होगा कि इन तीनों राजवंशों का दावा है कि उनके शासकों ने उत्तर में हिमालय तक विजय-यात्राएँ की थीं। चेर राजा नेदुनजीरल आदन को *इमयवरबंन* कहा जाता है, अर्थात् "वह शासक, जिसके राज्य की सीमा हिमालय पर्वत तक थी।" लेकिन यह स्पष्टतः एक अतिशयोक्ति थी। ईसा की तीसरी शताब्दी की समाप्ति तक, चेर राज्य की शक्ति का ह्रास हो गया और इसके बाद हम आठवीं शताब्दी में पुनः उनके बारे में सुनते हैं।

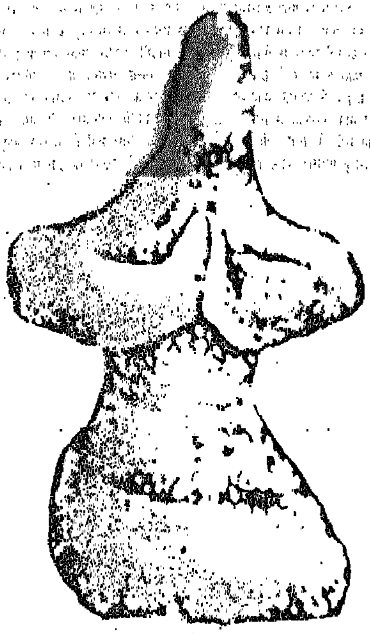
लेकिन दक्षिण भारत के इन तीन प्रारंभिक राज्यों के बारे में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे निरंतर एक-दूसरे के साथ लड़ते रहते थे और जो राज्य अधिक शक्तिशाली हो जाता था, उसके विरुद्ध नए गठजोड़ बनाते रहते थे और ऐसा करते समय पिछली मित्रता और गठजोड़ों की परवाह नहीं करते थे। श्रीलंका के साथ भी उनका युद्ध लगातार होता रहता था।

## अभ्यास

1. दक्षिण भारत में महापाषाणयुगीन संस्कृति की चर्चा करें।
2. महापाषाणयुगीन लोगों की अर्थव्यवस्था का वर्णन करें।
3. चेर, पांड्य और चोल राजवंश के राजनीतिक इतिहास का वर्णन करें।

**करने के लिए कार्य**

- महापाषाणीय शवाधानों और औजारों के चित्र एकत्र करें और उन्हें कक्षा में दिखाएँ।
- भारत का मानचित्र बनाएँ और उसमें चोल, पांड्य और चेर राज्यों की अवस्थिति दिखाएँ।



अध्याय 17

# शुंग और सातवाहन शासन काल में समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति

**मौर्य** वंश के पतन और गुप्त वंश के उत्थान के बीच की पाँच शताब्दियों में बहुत राजनीतिक उथल-पुथल हुई और अस्थिरता की स्थिति बनी रही, लेकिन इसी काल में साहित्य, विज्ञान, कला, स्थापत्य आदि क्षेत्रों में बहुत प्रगति हुई।

**मौर्य** वंश के पतन और गुप्त वंश के उत्थान के बीच जो पाँच शताब्दियाँ बीतीं, उनमें बहुत राजनीतिक उथल-पुथल हुई और अस्थिरता की स्थिति बनी रही, लेकिन इसी अवधि में साहित्य, विज्ञान, कला, स्थापत्य आदि क्षेत्रों में बहुत प्रगति हुई। विज्ञान और कलाओं के क्षेत्र में कई नए मार्ग खुले, जिनसे भावी विकास को आधार मिला। इसके अतिरिक्त, इस काल में विदेशों के साथ भी घनिष्ठ सांस्कृतिक और आर्थिक संबंध थे। भारत को इन विदेशी संपर्कों से लाभ ही हुआ।

## भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में, इस अवधि में उत्तर और दक्षिण भारत दोनों क्षेत्रों में बहुविध साहित्यिक गतिविधियों का विकास हुआ। दक्षिण भारत में द्रविड़ भाषाओं और साहित्य ने उन्नति की। उत्तर में संस्कृत भाषा और साहित्य और प्राकृत के विभिन्न रूपों की, जिसका अपना एक अलग साहित्य है, प्रगति हुई।

इस अवधि की सबसे अधिक उल्लेखनीय रचनाएँ *रामायण* और *महाभारत* दो महान महाकाव्य हैं। कुछ *धर्मशास्त्रों* की रचना भी इसी काल में हुई थी।

*स्मृतियों* ने पिछले दो हजार वर्षों में हिंदुओं के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन *स्मृतियों* में धार्मिक कर्तव्य, व्यवहार, विधि (कानून) और सामाजिक रीति-रिवाज निर्धारित किए गए हैं। सामान्य रूप से *स्मृतियों* को *धर्मसूत्रों* का ही विस्तारित और तत्कालीन संस्करण माना जा सकता है। इन *धर्मसूत्रों* की रचना छठी शताब्दी ई.पू. से तीसरी शताब्दी ई.पू. तक की अवधि में हुई थी। *स्मृतियों* की रचना इसके लगभग तत्काल पश्चात् शुरू हुई और लगभग आठ सौ वर्षों तक अथवा इससे भी अधिक समय तक चलती रही।

*मानव धर्मशास्त्र* अथवा *मनुस्मृति* न केवल इस कोटि की प्राचीनतम रचना है, बल्कि सबसे अधिक सुपरिचित कृति भी है, जिसका समूचे भारत भर में आज भी वर्चस्व बना हुआ है। इसकी रचना ई.पू. प्रथम शताब्दी के आस-पास हुई थी। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण स्मृतियाँ हैं *नारदस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहस्पतिस्मृति* और *कात्यायनस्मृति*। ये तत्कालीन समाज के कानूनों और सामाजिक रीति-रिवाजों के बारे में जानने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। ये स्मृतियाँ दैवी मूल की रचनाएँ घोषित की गई थीं।

व्याकरण के क्षेत्र में सर्वाधिक असाधारण कृति, *महाभाष्य* की रचना पतंजलि द्वारा दूसरी शताब्दी ई.पू. में की गई थी। यह पाणिनि की *अष्टाध्यायी* की टीका है। पतंजलि के बाद संस्कृत व्याकरण की शिक्षा का केंद्र दक्कन में चला गया, जहाँ प्रथम शताब्दी ई. में कातंत्र शाखा का विकास-विस्तार हुआ। सर्ववर्मन ने कातंत्र व्याकरण की रचना की। सर्ववर्मन सातवाहन राजा हाल के राजदरबार का एक सुप्रतिष्ठित विद्वान था। यह कृति बड़ी संक्षिप्त और छोटी थी और इससे लगभग छः महीनों के अंदर संस्कृत सीखने में सहायता मिलती थी। हाल ने प्राकृत में एक महान काव्य *गाथासप्तशती* की रचना की।

इस काल की एक महान साहित्यिक विभूति अश्वघोष था। वह न केवल एक नाट्य लेखक और कवि था, बल्कि एक महान बौद्ध दार्शनिक भी था। उसने *सौंदरानंद, बुद्धचरित, वज्रसूची* और अन्य अनेक ग्रंथों की रचना की। *बुद्धचरित* गौतम बुद्ध की संपूर्ण जीवनी है, जो महाकाव्य के रूप में

लिखी गई है। इस पुस्तक का संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया है। अश्वघोष के नाटकों के कुछ भाग मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। भासकृत *स्वप्नवासवदत्ता* इस काल का एक अन्य संस्कृत नाटक है।

नृत्य और नाट्य कला को पाणिनि के समय तक संहिताबद्ध किया जा चुका था, जिसका उल्लेख कौटिल्य और पतंजलि द्वारा किया गया था। कला के इन सभी आदि रूपों से *नाट्यशास्त्र* के विकास में योगदान मिला, जिसकी रचना भरत द्वारा की गई थी।

इस काल की पालि भाषा की एक महत्त्वपूर्ण कृति *मिलिंदपन्हो* है। इस पुस्तक में बौद्ध मत के सिद्धांतों की व्याख्या मिलिंद (जिसकी पहचान आम तौर पर भारतीय-यूनानी राजा मिनेंडर के रूप में की जाती है) और उसके गुरु महान बौद्ध दार्शनिक, नागसेन के बीच हुए वार्तालाप के रूप में की गई है।

## संगम साहित्य

तमिल दक्षिण भारत की बोलचाल और साहित्य की भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा है। इसके साहित्य के सबसे पहले के ज्ञात दौर को तीन संगमों अर्थात् विद्वज्जनों की अकादमियों अथवा समितियों से जोड़ा जाता है। ये संगम पांड्य राजाओं के राज्यकाल में फले-फूले थे। प्रत्येक संगम में सुप्रतिष्ठित कवि और मेधावी विद्वान शामिल थे, जो उन्हें प्रस्तुत की गई रचनाओं में से सर्वोत्तम रचनाओं का चुनाव करते थे और उन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाते थे।

यह विश्वास किया जाता है कि इन सभाओं द्वारा तैयार साहित्य का संकलन 300 और 600 ई. के बीच की अवधि में किया गया था। इस समूची साहित्य निधि में *एतुतुथोकै* (आठ संकलन) संग्रह सबसे प्राचीन समझा जाता है, जिसकी रचना तीसरी शताब्दी ई.पू. से तीसरी शताब्दी ई. तक की अवधि में हुई थी और शेष अधिकांश साहित्य का संकलन बाद में किया गया था।

*तिरुवल्लुवर* रचित *तिरुक्कुरल* अथवा *कुरल* नामक ग्रंथ लघु उपदेशात्मक कविताओं में सर्वोत्तम माना जाता है और इसकी शिक्षाओं को तमिलों के लिए शाश्वत प्रेरणा और मार्गदर्शन का स्रोत समझा जाता है। *शिलप्पदिकारम्* और *मणिमेखलै* तमिल भाषा के दो महाकाव्य हैं, जिनका तमिल साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है और ये दक्षिण भारत के इतिहास को समझने के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

## सामाजिक स्थिति

इस काल में वर्णाश्रम व्यवस्था से समाज का नियमन होता था। समाज चार वर्णों में बँटा था, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन वर्णों के कर्तव्यों, उनकी स्थिति और उनके व्यवसायों का वर्णन *धर्मशास्त्रों* में किया गया है। वर्ण-व्यवस्था में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है, मिश्रित (*संकर*) जातियों की संख्या में वृद्धि। *मनुस्मृति* के अनुसार विभिन्न मिश्रित (संकर) वर्णों की उत्पत्ति का कारण विभिन्न वर्णों के बीच विवाह होना है। इन्हें *अनुलोम* अर्थात् उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की नारी के बीच विवाह, अथवा *प्रतिलोम* अर्थात् निचले वर्ण के पुरुष और ऊँचे वर्ण की नारी के बीच विवाह कहा जाता है। *अनुलोम* से जन्मे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति *प्रतिलोम* से जन्मे व्यक्ति से ऊँची होती थी और वे अपने पिता के व्यवसाय का पालन करते थे। बौद्ध ग्रंथों और अन्य साक्ष्यों से इस बारे में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि तथाकथित संकर जातियों

की उत्पत्ति वास्तव में भिन्न-भिन्न कलाओं, शिल्पों और व्यवसायों वाले व्यक्तियों के संघों/श्रेणियों (गिल्डों) जैसे संगठनों से हुई थी। यह सामान्य सिद्धांत है कि अंतरजातीय विवाहों के कारण संकर जातियों का जन्म हुआ, सतही और सुविधाजनक प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रंथों से भी यह प्रकट होता है कि उन दिनों जातियाँ कठोरतापूर्वक या अनन्य रूप से व्यवसायों के साथ नहीं जुड़ी हुई थीं। उनमें बताया गया है कि कोई क्षत्रिय यथास्थिति कुम्हार, टोकरी बनाने वाले शिल्पी, चिक बनाने वाले कारीगर, माली और रसोइए का काम करता था; एक सेट्ठि (वैश्य) के बारे में उल्लेख है, जो दर्जी और कुम्हार का काम करता था और इन दोनों कार्यों से उसकी प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आती थी। हमने पढ़ा है कि शाक्य और कोलिय शाखा के क्षत्रिय अपने खेतों में हल चलाते थे। *वासेत्थ सुत्त* में ब्राह्मणों द्वारा कृषकों, दस्तकारों, संदेशवाहकों, यज्ञकर्ताओं और भूमिपतियों के रूप में काम किए जाने का उल्लेख है। *शिलाखंडों* में ब्राह्मणों द्वारा विभिन्न व्यवसायों; जैसे— चिकित्सकों, ओझाओं, स्थपतियों, कथावाचकों, पशुपालकों, कृषकों और इसी प्रकार के अन्य काम किए जाने का उल्लेख है। *जातकों* में ब्राह्मणों द्वारा खेती, पशुपालन, व्यापार, शिकार, बढ़ईगिरी, बुनकरी, यात्री-समूहों की रक्षा, बाण चलाना, वाहन चलाना और यहाँ तक कि साँपों को पकड़ना-पालना जैसे व्यवसाय किए जाने का उल्लेख है। *जातकों* में एक ब्राह्मण कृषक का उल्लेख एक परम पावन व्यक्ति और यहाँ तक कि बोधिसत्व के रूप में भी किया गया है।

इस काल की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी भारतीय-यूनानियों, शकों, यवनों, कुषाणों, पार्थियनों जैसे विदेशियों का क्रमिक रूप से भारतीय समाज में घुल-मिल जाना। ये विदेशी भारत में विजेताओं के रूप में आए, लेकिन उन्होंने भारतीय संस्कृति और जीवन पद्धति को इतने पूर्ण रूप में अपना लिया कि उनकी अलग पहचान अथवा समाज के रूप में उनके अलग अस्तित्व का कोई चिह्न शेष नहीं रहा।

***आश्रम*** **:** जिस प्रकार समाज चार वर्णों में विभाजित था, वैसे ही व्यक्तियों के जीवन को चार चरणों या अवस्थाओं में विभाजित किया गया था। यहाँ पर यह बता दिया जाए कि जीवन का इस प्रकार चार भागों में विभाजन वैदिक काल से चला आ रहा है और धर्मसूत्रों में हमें इसका काफी विशद विवेचन मिलता है। व्यक्ति के जीवन की ये चार अवस्थाएँ या आश्रम हैं :

(ii) *ब्रह्मचर्य* : इस *आश्रम* में यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात्, व्यक्ति अपने गुरु के घर में विद्यार्थी के रूप में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था।

(ii) *गृहस्थ* : वेदों अथवा उनके किसी अंग में पारंगत होने के बाद व्यक्ति अपने माता-पिता के घर लौटता था, विवाह करता था और गृहस्थ बनता था। एक गृहस्थ के बहुविध कर्तव्य बताए गए हैं, जो मोटे तौर पर इस प्रकार हैं (1) यज्ञ, (2) अध्ययन, (3) दान, और गृहस्थ को अपने आपको तीन प्रकार के ऋणों से उऋण अथवा मुक्त करना होता था : देव-ऋण को यज्ञ द्वारा, पितृ-ऋण को संतानोत्पत्ति द्वारा और ऋषि-ऋण को स्वाध्याय और धार्मिक जीवन द्वारा उतारा जाता था।

(iii) *वानप्रस्थ* : जब व्यक्ति अपनी आयु के मध्य में पहुँच जाता था और पोते-पोतियों को देख लेता था तो वह तपस्वी बनने के लिए वन में जाने के लिए गृह-त्याग कर देता था।

तपस्वी बनने के लिए यह आवश्यक था कि उसके पास अपने स्वामित्वाधीन कोई वस्तु न हो, वह वर्षाकाल में एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जाए, केवल भिक्षा माँगने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव में जाए, केवल अधोवस्त्र धारण करे अथवा तन ढकने के लिए सम्यक् रूप से धुले हुए पुराने कपड़े पहने, किसी गाँव में दूसरी रात न ठहरे और भोजन के प्रयोजन से बीजों को नष्ट न करे (जैसे मुसली से धान कूटकर), लेकिन भिक्षा के रूप में प्राप्त पके भोजन पर निर्भर रहे।

(iv) *संन्यास* : *संन्यास* आश्रम में व्यक्ति ध्यान और तपश्चर्या द्वारा अपने आप को भौतिक सुखों से दूर रखता था, वानप्रस्थाश्रम में रहने के लिए बनाई गई अपनी कुटिया का त्याग करके आश्रयहीन घुमक्कड़ बन जाता था और इस प्रकार पार्थिव बंधनों को तोड़ देता था। यह चौथा *आश्रम* वह आश्रम है जिसमें व्यक्ति सच और झूठ, सुख और दुख, वेदों और इस संसार का त्याग कर देता है और इसके पश्चात् केवल आत्मा की खोज में लीन हो जाता है।

चार आश्रमों की यह व्यवस्था व्यक्तियों को जीवन में ऐसे व्यवसाय चुनने के अवसर प्रदान करने के लिए तैयार की गई थी, जो उनकी बौद्धिक क्षमता और मानसिक प्रवृत्तियों अथवा रुचियों के सर्वाधिक अनुकूल हों। यह पूर्णतः आवश्यक नहीं था कि कोई व्यक्ति एक के बाद एक इन चारों आश्रमों का कड़ाई से पालन करे। इस विकल्प का चुनाव करना प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर छोड़ दिया गया था। परिवार में माता-पिता, बच्चे, पोते-पोतियाँ और दोहते-दोहतियाँ, चाचा-ताऊ और उनकी संतानें, नौकर-चाकर आदि शामिल होते थे।

## पारिवारिक जीवन

समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली का चलन था। व्यक्ति के स्थान पर परिवार को सामाजिक व्यवस्था की इकाई समझा जाता था। माता-पिता और बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना, बच्चों का सर्वोच्च कर्तव्य माना जाता था। एक ही जाति के सदस्यों के बीच विवाह को भी प्राथमिकता दी जाती थी, हालांकि भिन्न-भिन्न जातियों के बीच अंतर्विवाह का चलन था। एक ही गोत्र और प्रवर में विवाह करना प्रतिबंधित था। *धर्मशास्त्रों* में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है। ये हैं— *ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस और पैशाच*। इनमें से अंतिम प्रकार के विवाह की सभी धर्मशास्त्रों में निंदा की गई है। नारियों को न केवल अच्छी शिक्षा प्राप्त होती थी, बल्कि समाज और परिवार में उनको सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। दो श्रेणियों की छात्राओं का उल्लेख मिलता है— *ब्रह्मवादी* अथवा पवित्र ग्रंथों का आयुपर्यंत अध्ययन करने वाली महिलाएँ और *सद्योदवाह*, जो अपना विवाह होने तक विद्यार्जन करती थीं। उन्हें संगीत, नृत्य और चित्रकला जैसी ललित कलाओं का प्रशिक्षण भी प्राप्त होता था। मेगस्थनीज़ और कौटिल्य के वर्णनों से यह प्रकट होता है कि उनमें से कुछ सैनिक और प्रशासनिक प्रशिक्षण भी प्राप्त करती थीं। आदर्श विवाह वे होते थे, जिनमें कन्याओं के पिता और अभिभावक वर का चुनाव उसकी योग्यताओं के आधार पर करते थे। महिलाओं को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। कई बार वे कला और विज्ञान की विभिन्न

शाखाओं और प्रशासन के क्षेत्र में प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच जाती थीं, जैसा कि उस काल के साहित्य से प्रकट होता है। यहाँ तक कि उस समय की वेश्याओं को जो सामाजिक स्थिति प्राप्त थी, वैसी स्थिति उन्हें संसार में अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं थी। उस काल के कई नाटकों की कथावस्तु वेश्याओं के इर्द-गिर्द बुनी हुई है। हमें सती प्रथा के बारे में भी उल्लेख मिलते हैं। परिवार की संपत्ति में सभी पुत्रों का समान भाग था। दुर्भाग्यवश बहुत-से *धर्मशास्त्र* महिलाओं के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं करते, लेकिन *याज्ञवल्क्य* ने उत्तराधिकार के मामले में वरीयता सूची निर्धारित की है, जिसमें पुत्रों के तत्काल बाद पत्नी और पुत्रियों का स्थान है। यदि कोई भी पुत्र जीवित न हो तो पत्नी के उत्तराधिकार के अधिकार को अधिकतर प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकार किया गया है। तथापि स्त्री को रत्नाभूषणों, वस्त्रों आदि के रूप में कुछ निजी संपत्ति (स्त्री-धन) रखने की भी अनुमति थी। *अर्थशास्त्र* स्त्री को चाँदी के 2000 *पणों* तक धन अपने कब्जे में रखने की अनुमति देता है और इससे अधिक राशि उसके पति द्वारा उसकी ओर से न्यास के रूप में रखी जा सकती थी।

## धर्म

इस काल में नए-नए विचारों का प्रस्फुटन हुआ, जिनके परिणामस्वरूप नई दार्शनिक विचार-धाराओं और धार्मिक संप्रदायों ने जन्म लिया, जिनसे समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और जो उस समय के सभी चार प्रमुख धार्मिक संप्रदायों— वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन संप्रदायों, में दिखाई देते हैं।

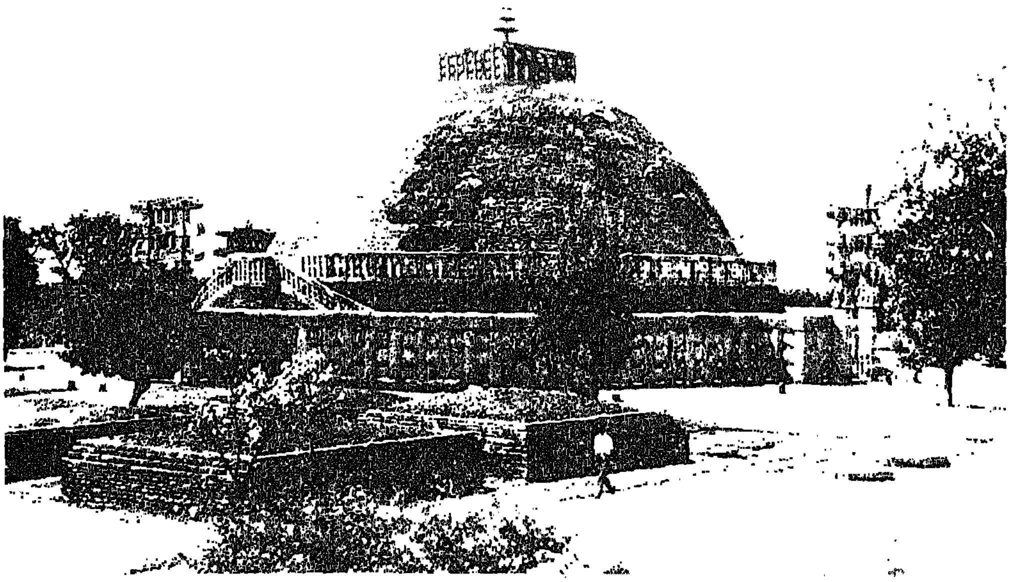
### बौद्ध धर्म

सम्राट अशोक के राज्य में बौद्ध मत भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया था। प्रथम शताब्दी ई.पू. से भारत में जो विदेशी आक्रमणकारी आए, वे बौद्ध धर्म की उदारता और सरलता के कारण उसके प्रति आकर्षित हुए और उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म अपना लिया। यूनान का राजा मेनान्डर इनमें से एक था, जिसका बौद्ध परंपराओं में राजा मिलिंद के रूप में उल्लेख है, लेकिन बौद्ध मत के विदेशी संरक्षकों में सबसे बड़ा नाम कनिष्क का है। बौद्ध जगत में उसकी ख्याति अशोक के बाद दूसरे स्थान पर आती है। उसके राज्यकाल में बौद्ध धर्म का विस्तार मध्य एशिया, चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया और पश्चिम में हुआ। अशोक की भाँति कनिष्क ने एक बौद्ध सभा का आयोजन किया— यह चौथी सभा थी जो कश्मीर में वसुमित्र और अश्वघोष के संयुक्त सभापतित्व में आयोजित की गई थी। इस सभा के आयोजन के पश्चात् बौद्ध धर्म दो प्रमुख संप्रदायों—हीनयान और महायान में बँट गया। हीनयान में बौद्ध मत की पुरानी व्यवस्था और दर्शन का अनुसरण किया जाता रहा, जबकि महायान के अंतर्गत पुरानी व्यवस्था में कुछ नए तत्त्व शामिल किए गए।

पुरानी व्यवस्था में जो नए तत्त्व शामिल किए गए थे, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(i) इस धारणा में विश्वास करना कि बोधिसत्व वे व्यक्ति थे जो बुद्ध बनने की प्रक्रिया में थे, लेकिन अभी बुद्ध नहीं बने थे।

(ii) अन्य प्रतीकों के स्थान पर मूर्ति के रूप में बुद्ध की विस्तृत कर्मकांड के साथ पूजा की जाने लगी । हीनयान मतावलंबियों के अनुसार



***आकृति 17.1*** *साँची का महान स्तूप*

बुद्ध एक महान गुरु थे, जबकि महायान संप्रदाय के अनुयायी उन्हें भगवान मानने लगे।

(iii) हीनयान मत के अनुयायी व्यक्ति के मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानते थे, जबकि महायान मत के अनुयायी सभी प्राणियों की मुक्ति में विश्वास करते थे।

(iv) संस्कृत को धार्मिक साहित्य की भाषा के रूप में अपना लिया गया और एक नया धर्मसूत्र विकसित किया गया जो पुराने धर्मसूत्र से कई मूलभूत बातों में भिन्न था।

यह माना जाता है कि महायान दर्शन पद्धति के विकास में नागार्जुन का हाथ था, जो कनिष्क का समकालीन था। उसने बौद्ध दर्शन की माध्यमिक विचार-पद्धति का प्रतिपादन किया, जिसे आम भाषा में शून्यवाद कहा जाता है।

## जैन धर्म

इस काल में बौद्ध मत के साथ-साथ जैन मत का भी प्रसार हुआ और उसे राजाओं और धनी व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त था। जैन मुनियों के समूहों ने देश के विभिन्न भागों में रहना शुरू कर दिया। एक समूह मगध से पश्चिम की ओर गया और सौराष्ट्र में जाकर बस गया, जबकि दूसरा समूह कलिंग में जाकर बसा, जहाँ उसे राजा खारवेल का राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। दक्षिण भारत में उनकी अधिक संख्या कर्नाटक और तमिलनाडु में थी। आधुनिक कर्नाटक का श्रवणबेलगोला नामक स्थान जैन धर्म का महान केंद्र बन गया। विभाजन के बावजूद, जैन समुदाय जैन धर्म की मूल शिक्षाओं और विचारधारा के प्रति अधिक निष्ठावान बने रहे और इसीलिए इसके मतावलंबियों की संख्या काफी हद तक स्थिर बनी रही है।

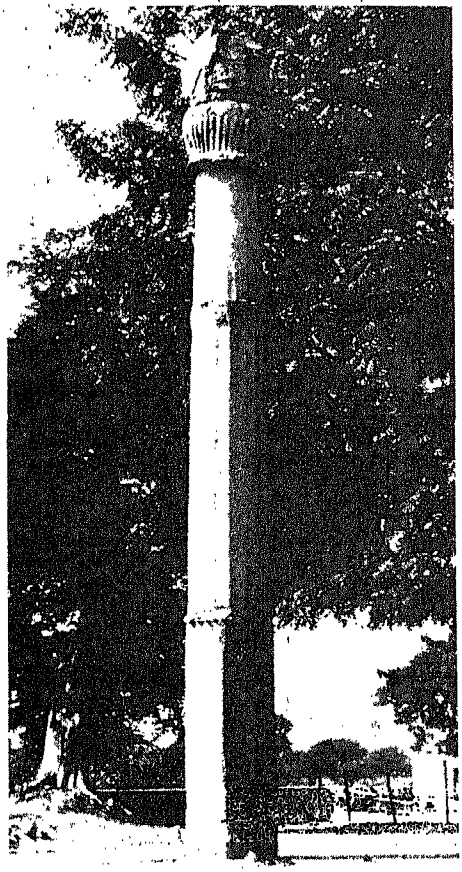
## वैदिक धर्म

इन सभी शताब्दियों के दौरान वैदिक धर्म अपरिवर्तित नहीं बना रहा। कुछ वैदिक देवता चुपचाप विस्मृति के गर्त में खो गए और कुछ का नए विशेषणों के साथ नए देवों के रूप में पुनर्जन्म हुआ। यह वह समय था, जब वैदिक धर्म ने वह रूप धारण किया, जिसे आज हिंदू धर्म कहा जाता है। यह नया धार्मिक विकास *उपनिषदों* में वर्णित परमात्मा अथवा विश्वात्मा की संकल्पना वाले दर्शन पर आधारित था। इस संकल्पना से इस काल में देवत्रयी अर्थात् देवों की त्रिमूर्ति का विचार विकसित हुआ। ये देव थे— सृजनकर्ता के रूप में *ब्रह्मा*, पालनकर्ता के रूप में *विष्णु* और विनाशकर्ता के रूप में *शिव* (जिन्हें रुद्र अथवा महेश भी कहा जाता है।) जो अंततः सृष्टि का नाश करते हैं, जब यह पापमय हो जाती है। इन तीनों देवों में से विष्णु और शिव के संप्रदाय, जो कभी-कभी शक्ति संप्रदाय के साथ जुड़ जाता है, अधिक लोकप्रिय हुए।

वैष्णव धर्म का एक रूप भागवत धर्म है। भागवत धर्म के सर्वोच्च आराध्य देव वासुदेव कृष्ण थे जो देवकी के पुत्र और वृष्णि वंश के थे। जैसा कि शिलालेखों से पता चलता है। दूसरी शताब्दी ई.पू. तक इस नए संप्रदाय का प्रसार काफी बड़े क्षेत्र में हो गया था, बेसनगर (जिला विदिशा, मध्य प्रदेश) के प्रसिद्ध शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि यूनान के राजा एंटियालकिडास का राजदूत हिलियोडोरस अपने आपको भागवत कहता था और उसने बेसनगर में वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज की स्थापना की। इससे यह प्रकट होता है कि बौद्ध मत की तरह भागवत धर्म भी इतना लोकप्रिय था कि विदेशी उसकी ओर आकर्षित होते। भागवत मत के दर्शन का वर्णन *भगवद् गीता* में किया गया है। भागवत संप्रदाय से संबंधित अन्य शिलालेख घोसुंडी (राजस्थान), मथुरा (उत्तर प्रदेश) और नासिक (महाराष्ट्र) में प्राप्त हुए हैं।

शैव मत वैदिक देवता रुद्र से और हड़प्पा काल के पशुपति नामक देवता से विकसित हुआ प्रतीत होता है। शिव की पूजा में बहुत-से प्रजनन संबंधी उपासना के प्रतीक जैसे *लिंग* और *नंदि* आदि शामिल थे और यह मत शाक्त मत से भी जुड़ा हुआ था। शैवों की उपासना पद्धति की सर्वाधिक सामान्य वस्तु लिंग है, जिसके आरंभक उदाहरण हड़प्पा काल में पाए गए हैं। शैव मत का एक महत्त्वपूर्ण संप्रदाय पाशुपत संप्रदाय था, जिसकी स्थापना लगभग दूसरी शताब्दी ई.पू. में लकुलीन अथवा लकुलीश द्वारा की गई थी। शैव मत ने भी विदेशियों को आकर्षित किया। कुषाण वंश का दूसरा राजा वेम कडफाइसिस शैव था। उसके कुछ सिक्कों के पृष्ठ भाग पर लंबे त्रिशूल और बैल के साथ शिव की आकृति है और सिक्के पर उसका उल्लेख शिव भक्त के रूप में किया गया है।

इस काल में वैष्णव और शैव मत के अतिरिक्त जो अन्य छोटे-मोटे संप्रदाय लोकप्रिय हुए, उनका संबंध शक्ति, गणपति, स्कंद और सूर्य, आदि से था। इन सभी संप्रदायों का विशेष पहलू यह था कि इनमें कर्मकांड पर बल दिए जाने के स्थान पर धीरे-धीरे इस विचार पर अधिक बल दिया जाने लगा कि भगवान और भक्त के बीच संपूर्ण वैयक्तिक संबंध स्थापित करना संभव है। यह एक ऐसा संबंध था, जिसमें भगवान अपने भक्त पर अपनी कृपा कर सकता था और भक्ति की मात्रा अलग-अलग व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होती थी। व्यक्तिगत भक्ति के इस विचार को बाद में उत्तरवर्ती हिंदू धर्म की गतिशील शक्ति बनना था।



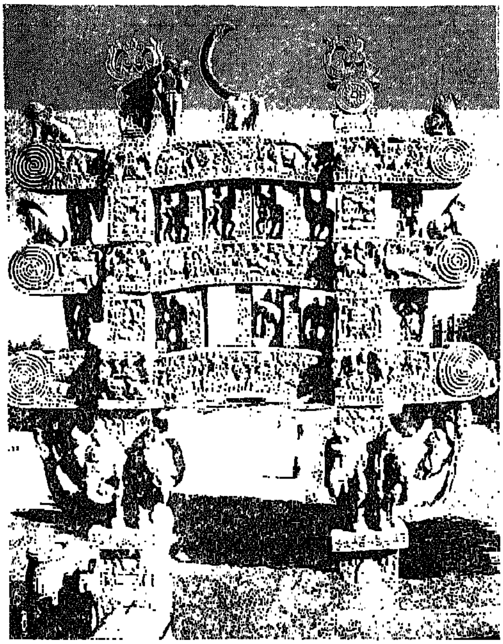
*आकृति 17.2 विदिशा के पास हेलियोडोरस का बेसनगर स्तंभ*

ईसा की पहली शताब्दी में पश्चिम के व्यापारियों के साथ भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ। ईसाई धर्म के आगमन को संत थॉमस के उपाख्यान से जोड़ा जाता है। एडीसा के कैथोलिक चर्च के अनुसार संत थॉमस धर्म-प्रचार के लिए दो बार भारत आए थे।

## आर्थिक स्थिति

इस काल में कृषि, उद्योग और व्यापार क्षेत्रों में चहुँमुखी विकास हुआ। कृषि अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय था। ग्राम के बाहर ग्राम की खेती-योग्य भूमि-ग्रामक्षेत्र होती थी और पक्षियों तथा पशुओं जैसे नाशक प्राणियों से बचाने के लिए उसे बाड़ा द्वारा सुरक्षित बनाया जाता था और पहरेदारों द्वारा उसकी रक्षा की जाती थी। भूमि पर अलग-अलग व्यक्तियों का स्वामित्व होता था और राज्य का भी। कई बार जोत की भूमि का क्षेत्र बहुत बड़ा अर्थात् 1000 एकड़ तक होता था। आमतौर पर जोत की भूमि छोटे आकार की होती थी, ताकि अलग-अलग परिवार उस पर खेती कर सकें। ग्राम की खेती योग्य भूमि के बाद पशुओं को चराने के लिए सांझी गोचर-भूमि होती थी और कुछ गोचर-भूमि राज्य के पास भी होती थी। कौटिल्य ने ग्राम योजना की संपूर्ण व्यवस्था का विवरण दिया है। गाँव की भूमि को खेती की भूमि, खेती न की जाने वाली भूमि, उपवनों, वनों, गोचर-भूमि (चरागाहों), आदि के रूप में विभाजित किया जाता था। फसलों में विभिन्न किस्मों के चावल, मोटे अनाज, तिल, केसर, दालें, गेहूँ, अलसी, गन्ने, सरसों की फसलें शामिल थीं और इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सब्ज़ियाँ और फल उगाए जाते थे। गाँव की सीमा पर सामान्यतया एक जंगल होता था। गाँवों में बढ़ई, कुम्हार, लोहार, नाई, रस्से बनाने वाले, धोबी आदि कारीगर होते थे।

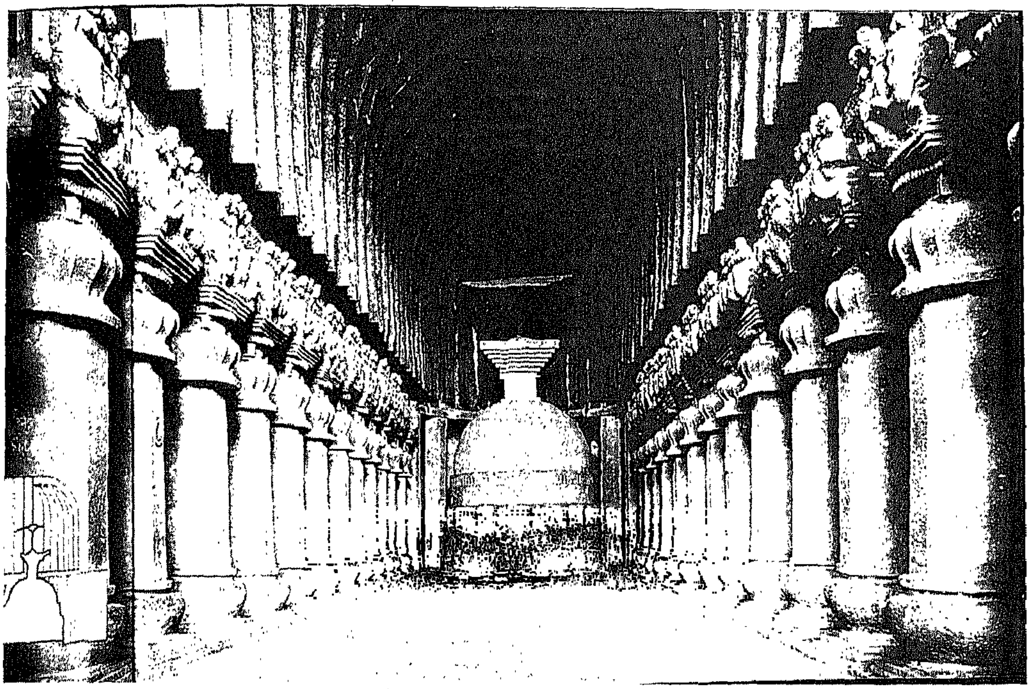
इस काल में व्यापार और उद्योग में असाधारण प्रगति हुई। कलाओं, शिल्पों और व्यवसायों की बहुत बड़ी संख्या का उल्लेख न केवल साहित्य और शिलालेखों में किया गया है, अपितु मूर्तियों में भी उनका दर्शन होता है। साहित्य में अठारह प्रकार के व्यवसाय संघों (गिल्ड) का उल्लेख किया गया है। ये व्यवसाय संघ अर्थव्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण संस्था बन गए। ये व्यवसाय संघ कार्य के सुनिर्धारित नियमों को कार्यान्वित करते थे और



*आकृति 17.3 साँची स्तूप का प्रवेश द्वार*

तैयार उत्पादों की गुणवत्ता और उनकी कीमतों को नियंत्रित करते थे, ताकि शिल्पियों और ग्राहकों दोनों के हितों की रक्षा की जा सके। व्यवसाय संघों के सदस्यों के व्यवहार को व्यवसाय संघ संबंधी न्यायालयों द्वारा नियंत्रित किया जाता था। ये व्यवसाय संघ बैंकर, पूँजी प्रदाता और न्यासी के रूप में भी काम करते थे। इन कार्यों का निष्पादन एक अलग श्रेणी के व्यापारियों द्वारा किया जाता था, जिन्हें उत्तर भारत में श्रेष्ठि और दक्षिण भारत में चेट्टी (या सेट्ठि) कहा जाता था। ये व्यवसाय संघ परोपकारपूर्ण और कल्याणकारी कार्य भी करते थे, जैसे विदिशा में हाथी दाँत का काम करने वाले शिल्पियों के संघ ने साँची में स्थित स्तूपों के प्रवेश द्वारों और स्तूपों के चारों ओर के जंगले पर पत्थर की मूर्तियों को उत्कीर्ण कराया था। खनन और धातु उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग बन गए थे। शहरों में विभिन्न वस्तुओं के लिए मंडियाँ और बाजार स्थापित किए गए थे। शीघ्र खराब होने वाली वस्तुओं की मंडियाँ शहरों के बाहर उनके दरवाजों के निकट स्थापित की गई थीं। सोने और अन्य वस्तुओं की प्रतिभूति के आधार पर ऋण दिए जाते थे। लाभकारी दरों वाले ब्याज पर धन उधार दिया जाता था और दरों का हर वर्ष नवीकरण किया जाता था। नासिक गुफा शिलालेख में व्यवसाय संघों के पास जमा कराए गए धन पर दिए जाने वाले ब्याज की दरों का उल्लेख किया गया है। ब्याज की सामान्य दर 12 प्रतिशत से 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष के बीच होती थी।

व्यापार उद्योग की स्वाभाविक परिणति होता है और यह औद्योगिक उत्पादों के वितरण का मुख्य माध्यम है। मौर्य काल से भारत के अधिकतर भागों में आंतरिक और विदेशी दोनों प्रकार का व्यापार जोरदार ढंग से होता था। देश के सभी आंतरिक शहर और पत्तन एक सुनियोजित और बढ़िया तरीके से गुंथी हुई सड़क प्रणाली के जरिए एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। बहुत-से आधुनिक राष्ट्रीय मार्गों का विकास इसी काल में हुआ था; इनमें ग्रांड ट्रंक रोड भी शामिल थी, जो उत्तरापथ का भाग थी और जिसे बाद में चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा विकसित किया गया था। इसी सड़क का बाद में शेरशाह सूरी द्वारा और आगे विकास तथा रखरखाव किया गया। पहली शताब्दी में मानसूनी हवाओं की खोज से भारत के पश्चिमी पत्तनों और मिस्र के सिकंदरिया (एलेक्ज़ेंडरिया) पत्तन के बीच के फासले को कम करने में सहायता मिली। मानसूनी हवाओं की सहायता से इस सारे फासले को लगभग चालीस दिनों के अंदर तय किया जा सकता था। समुद्री मार्ग और स्थल मार्ग द्वारा



*आकृति 17.4 कार्ले की चैत्य-गुफा*

जिसे आम तौर पर सिल्क मार्ग कहा जाता है, रोम के साथ भारत के व्यापार में विपुल वृद्धि हुई। इस मार्ग ने विश्व को चीन से रोम तक जोड़ दिया और न केवल व्यापारिक वस्तुओं, बल्कि संस्कृति, विचारों और धर्म आदि के आदान-प्रदान के वाहक के रूप में भी काम किया।

जहाँ तक व्यापारिक वस्तुओं का संबंध है, *पेरिप्लस ऑफ एरिथ्रियन सी* के लेखक, प्लिनी, टोलेमी आदि जैसे रोमन इतिहासकारों के विवरणों में, और तमिल तथा संस्कृत दोनों भाषाओं के भारतीय साहित्य में व्यापारिक प्रतिष्ठानों और व्यापार की वस्तुओं; जैसे– भारतीय मसालों, चंदन की लकड़ी और अन्य प्रकार की लकड़ियों, मोतियों, विभिन्न प्रकार के कपड़े, समुद्री उत्पादों, धातुओं, उप-रत्नों और पशुओं का उल्लेख मिलता है। अरिकामेडु एक महत्त्वपूर्ण रोमन बस्ती और व्यापारिक केंद्र था। यह एक बंदरगाह के निकट स्थित था और इसकी खुदाई 1945 में हुई थी। रोमन लोग वस्तुओं की कीमत की अदायगी मुख्य रूप से सोने की मुद्रा में करते थे। दक्कन तथा दक्षिण भारत में मिले रोमन सिक्कों के भारी भंडार से पता चलता है कि इस व्यापार की मात्रा कितनी अधिक थी और यह व्यापार भारत के लिए कितना लाभकारी था। रोमन इतिहासकार प्लिनी को इस बात का बड़ा खेद था कि भारत के साथ होने वाले व्यापार से रोम के खजाने पर भारी बोझ पड़ता था, जब हर वर्ष विलास-वस्तुओं के लिए रोम को लगभग 55 करोड़ *सेस्टेर्स* भारत को अदा करने पड़ते थे। इस संपर्क का एक स्थायी परिणाम यह था

काल की विभिन्न रचनाओं में भारत के बारे में काफी विस्तृत वर्णन किए गए हैं।

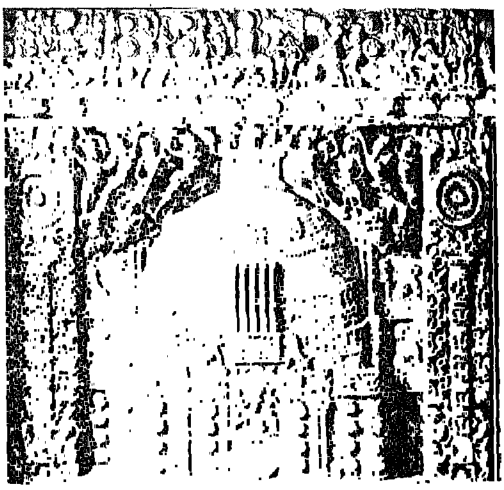
रोम और पश्चिम के साथ व्यापार और संपर्क भारत के लिए वाणिज्य और व्यापार करने का एकमेव मार्ग नहीं था। इस काल में भारत और चीन के बीच के संबंधों में प्रगति हुई तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रवेश हुआ। इस काल के साहित्य में दक्षिण-पूर्व-एशिया के लिए सुवर्णभूमि शब्द का प्रयोग किया गया है।

## कला और स्थापत्य

तक्षशिला, शाकल, भीटा, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, पाटलिपुत्र, नागार्जुनकोंडा, अमरावती, कावेरीपट्टनम की खुदाई से और साहित्य में इनमें से कुछ नगरों के वर्णन से पता चलता है कि ये नगर योजनाबद्ध तरीके से बसाए गए थे और दीवारों तथा खाइयों के द्वारा इन्हें सुरक्षित बनाया गया था। ऊँचे-ऊँचे मीनारों वाले सुंदर और बड़े-बड़े प्रवेश-द्वार निर्मित किए गए थे। मकान बड़े और सुंदर होते थे।

स्थापत्य के क्षेत्र में नए-नए कार्य किए गए। कुछ विद्वानों का विचार है कि शुंग काल बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया का द्योतक है, लेकिन कला और स्थापत्य के क्षेत्र की गतिविधियों से पता चलता है कि स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। साँची, अमरावती, भरहुत और सारनाथ बौद्ध कला और स्थापत्य कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, जो इस काल में फली-फूलीं। स्तूप एक अर्धगोलाकार गुंबद अथवा टीला होता है, जो स्वयं बुद्ध अथवा किसी पावन भिक्षु के अवशेषों अथवा किसी पवित्र ग्रंथ के ऊपर निर्मित होता है। अवशेष स्तूप के आधार के केंद्र में एक छोटे कक्ष में एक पेटिका में रखे जाते हैं। स्तूप में बाड़े अथवा जंगले से सुरक्षित एक पथ होता है जिसे *प्रदक्षिणा पथ* कहते हैं। जंगले में चार प्रमुख स्थलों पर प्रवेश द्वारों के लिए स्थान खुला होता है। प्रथम शताब्दी ई.पू. में निर्मित साँची के स्तूप के चार प्रवेश द्वार अत्यंत कलात्मक हैं और उनके एक-एक इंच स्थान का उपयोग नक्काशी के लिए किया गया है और वे भारत की कला और स्थापत्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इनमें से एक प्रवेश द्वार विदिशा के हाथी दाँत का काम करने वाले शिल्पियों के व्यवसाय-संघ द्वारा दानस्वरूप दिया गया था।

स्थापत्य कला के एक अन्य रूप का परिचय शैलकृत गुफाओं से मिलता है। ये गुफाएँ दो प्रकार की हैं। स्तूप और पूजा कक्ष वाली गुफा को *चैत्य* कहा जाता है और मठ वाली गुफा को *विहार* कहा जाता है। कारले की प्रसिद्ध गुफा का ढाँचा बड़ा पेचीदा है और यह सारी शैलकृत है यानी चट्टानों को काटकर बनाई गई है। इनमें से कुछ गुफाओं की छत पर लकड़ी की खपच्चियों वाले ढोल की शक्ल के प्रकोष्ठ



***आकृति 17.5*** *अमरावती स्तूप*

की अनुकृति होती है। इससे पत्थरों में लकड़ी के निर्माण के प्रभाव का संकेत मिलता है।

## मूर्ति कला

मौर्य काल के बाद का समय एक ऐसा समय था जब मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में बहुत काम हुआ। भरहुत, साँची, बोध गया, मथुरा, अमरावती, गांधार कलात्मक गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गए थे। मथुरा और गांधार शैलियाँ कुषाण काल में खूब फली-फूलीं। मथुरा शैली को यह गौरव प्राप्त है कि बुद्ध की पहली मूर्ति का निर्माण इसी शैली में हुआ। मथुरा ने मूर्तियों के और भी बहुत-से बढ़िया नमूने तैयार किए, जिनमें ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म के देवताओं की मूर्तियाँ, यक्षों और यक्षिणियों की आदम-कद मूर्तियाँ और राजाओं की प्रतिमाएँ भी शामिल हैं।

पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कला का मिश्रित भारतीय-यूनानी रूप विकसित हुआ, जिसमें यद्यपि विषय-वस्तु भारतीय होती थी, लेकिन उसके निरूपण पर पश्चिमी कला का भारी प्रभाव दिखाई देता है। इसे साधारण रूप से गांधार कला शैली कहा जाता है। गांधार कला शैली में लगभग अनन्य रूप से बौद्ध विषय-वस्तु का ही प्रस्तुतीकरण किया गया है। गचकारी (स्टूको) गांधार कला में एक लोकप्रिय माध्यम था और अफगानिस्तान के विहारों को बहुत बड़ी संख्या में गचकारी वाली मूर्तियों से सजाया गया था। गांधार शैली के कलाकारों ने बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में विभिन्न आकार की मूर्तियाँ बनाईं। बामियान में उपलब्ध बुद्ध की विशाल प्रतिमाएँ गांधार कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।



***आकृति 17.6*** *बुद्ध की प्रतिमा, मथुरा से*



***17.7*** *जैन तीर्थंकर की प्रतिमा, मथुरा से*

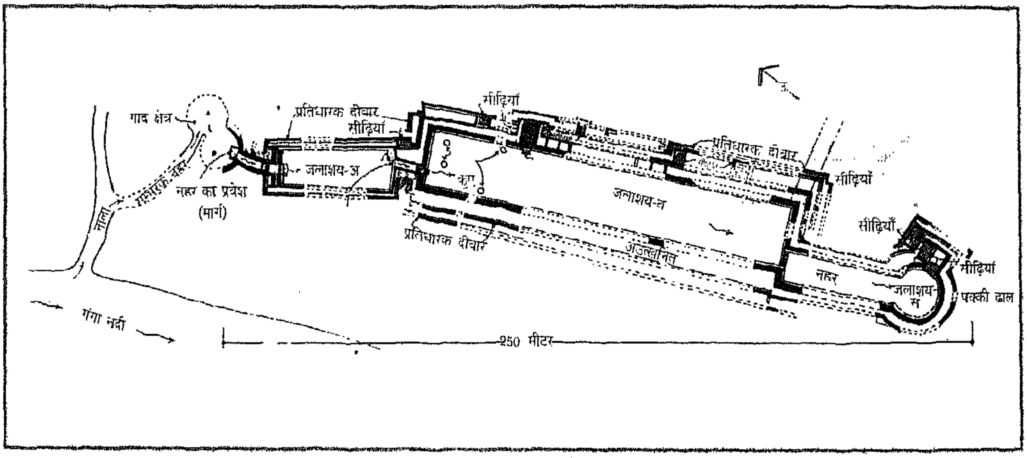


*आकृति 17.8 उपवासी बुद्ध की प्रतिमा, गांधार से*

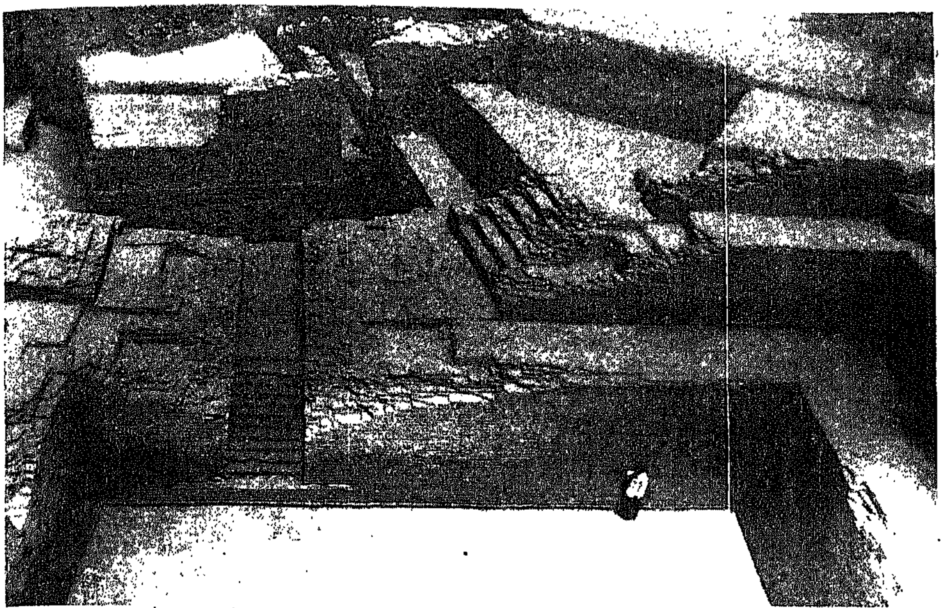
पकी मिट्टी की वस्तुएँ बनाने की कला (टेराकोटा आर्ट) भी इस काल में फली-फूली। इन वस्तुओं के निर्माण के सबसे बड़े केंद्र अहिच्छत्र, मथुरा, कौशाम्बी, भीटा, राजघाट, पाटलिपुत्र, ताम्रलिप्ति, महास्थान आदि थे।

## विज्ञान और प्रौद्योगिकी

बाँधों और सिंचाई संबंधी निर्माण-कार्यों के अवशेषों से इंजीनियरी संबंधी कौशलों का परिचय प्राप्त होता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है : चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में निर्मित बाँध, जिसकी मरम्मत शक राजा रुद्रदामन द्वारा कराई गई थी। एक सबसे अधिक उल्लेखनीय ढाँचा, जो शृंगवेरपुर की खुदाई में प्राप्त हुआ है, चार तालाबों का संकुल है। इससे तत्कालीन जल वैज्ञानिक इंजीनियरी के काफी उन्नत स्तर का पता चलता है। ये तालाब लाखों ईंटों से बनाए गए हैं। इनमें एक नहर के जरिए गंगा नदी से पानी लाया जाता था। इस जल-संकुल की लंबाई लगभग 250 मीटर और चौड़ाई 38 मीटर है। इसमें लगभग अस्सी लाख लीटर पानी आ सकता था। इमारत के निर्माण और नगर-आयोजन में रेखागणित का उपयोग स्पष्ट दिखाई देता है। खगोल विज्ञान के क्षेत्र में, भारतीय खगोल शास्त्रियों ने सूर्य, चंद्र, पाँच ग्रहों और दो पातों *राहु* और *केतु* की परिक्रमण अवधि की गणना करके




*आकृति 17.9 शृंगवेरपुर से उत्खनित जलाशय का नक्शा*



*आकृति 17.10 शृंगवेरपुर के जलाशयों में से एक का उत्खनित दृश्य*

अशुद्‌ध मानों (वेल्यूज) को संशोधित करने और सही मान अपनाने के बाद अपेक्षाकृत बहुत अधिक विस्तृत खगोलीय प्रणाली विकसित की थी। ग्रहणों का भी सही-सही पूर्वानुमान किया था। वाराहमिहिर ने अपनी पुस्तक *पंचसिद्‌धांतिका* में इन सभी तथ्यों का वर्णन किया है। इस पुस्तक में वाराहमिहिर के समय में विद्‌यमान, खगोल विज्ञान की पाँच शाखाओं का सारांश दिया गया है।

भारतीय चिकित्सा पद्‌धति ने इस काल में उल्लेखनीय प्रगति की। यह शरीर के तीन तत्वों—वात, पित्त और कफ के सिद्‌धांत पर आधारित थी; इन तीनों के सही संतुलन से शरीर स्वस्थता को प्राप्त करता है। शल्य चिकित्सा के उपकरणों में साधारणतः पच्चीस किस्मों के चाकू और सुइयाँ, तीस किस्मों की सलाइयाँ और पट्‌टी करने आदि की 26 वस्तुएँ शामिल थीं।

आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में है। इस काल में चिकित्सा तक्षशिला और वाराणसी जैसे शिक्षा केंद्रों में अध्ययन का नियमित विषय बन गई थी। वाराणसी स्थित विद्‌यालय को शल्य-चिकित्सा में विशेषज्ञता प्राप्त थी। *सुश्रुत संहिता* शल्य-चिकित्सा का एक विश्वकोश है, जिसका संकलन महान शल्य-चिकित्सक सुश्रुत द्‌वारा किया गया था। तक्षशिला में आत्रेय के शिष्यों द्‌वारा उसकी शिक्षाओं को इकट्‌ठा किया गया जिसका संकलन चरक ने *चरक संहिता* के रूप में किया। चरक और सुश्रुत कुषाण शासक कनिष्क के समकालीन थे।

चरक और सुश्रुत की संहिताएँ विभिन्न भाषाओं में अनूदित होकर दूर-दूर तक मंचूरिया, चीन और मध्य एशिया में पहुँचीं। इस बात के साक्ष्य हैं कि भारतीय जड़ी-बूटियों और औषधीय पौधों की जानकारी यूनानियों और रोमनों के माध्यम से पाश्चात्य

जगत तक पहुँच गई थी। थीयोफ्रेस्टस ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ प्लांट्स* में भारत की विभिन्न जड़ी-बूटियों के चिकित्सकीय उपयोग के बारे में ब्योरा दिया है। ईसा की आठवीं शताब्दी में *चरक* और *सुश्रुत संहिताओं* का अरबी भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका प्रभाव मध्य युग में यूरोपीय और पश्चिमी एशियाई चिकित्सा पद्धतियों पर पड़ा।

ईसाई युग की शुरुआत के समय तक ताँबे, लोहे, इस्पात, पीतल और उनकी मिश्रधातुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा था। सोने और चाँदी के सिक्कों की बहुत बड़ी संख्या से धातु की विशुद्धता और उस काल की कारीगरी का पता चलता है।

## भारत और बाहरी संसार के साथ उसके संबंध

जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं, भारत ने हड़प्पा काल में ही विदेशों के साथ अपने संपर्क स्थापित कर लिए थे, जो आगे भी बराबर जारी रहे। हड़प्पा और मेसोपोटामिया के शहरों में हुई खुदाई से ऐसी सामग्री और अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि इन दोनों के बीच व्यापारिक संबंध थे। चौदहवीं शताब्दी ई.पू. के बोगाज कोई के शिलालेखों में इंद्र, मित्र, वरुण और जुड़वाँ नासत्यों जैसे देवताओं के नामों, भारतीय मूल के अंकों और अन्य शब्दों का उल्लेख है, जिनसे परस्पर घनिष्ठ संबंध होने का पता चलता है।

छठी शताब्दी ई.पू. में फारसी साम्राज्य का उदय होने पर भारत और पश्चिम के बीच नियमित संबंधों की नींव रखी गई। फारस के लोगों ने डेरियस प्रथम के अधीन अफगानिस्तान से भूमध्य सागर तक के विशाल भू-भाग का एकीकरण किया। उस पर ठीक से अपना नियंत्रण कायम रखने के लिए उन्होंने सड़क और डाक-व्यवस्था स्थापित की और संचार के अन्य साधन बनाए तथा उनके द्वारा भारत के साथ अपने संबंधों को सुदृढ़ किया, जिससे दोनों देशों के बीच व्यापार और विचारों के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन मिला।

चौथी शताब्दी ई.पू. के अंतिम चतुर्थांश में सिकंदर द्वारा किए गए आक्रमण से इस संपर्क में एक नया आयाम जुड़ गया। सिकंदर भारत के पश्चिमोत्तर सीमा क्षेत्रों तक आया और उसने अपने रास्ते में यूनानी लोगों के अन्य शहरों और बस्तियों की स्थापना की। मिस्र में सिकंदरिया (अलेक्ज़ेंड्रिया) का शहर पूर्व और पश्चिम के बीच संपर्क का एक महान केंद्र बन गया। मौर्य वंश के प्रथम तीन शासकों, अर्थात् चंद्रगुप्त मौर्य, बिंदुसार और अशोक ने पश्चिम के यूनानी राज्यों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित किए। हमारे पास चंद्रगुप्त मौर्य और सीरिया के यूनानी राजा सेल्यूकस के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित होने के प्रमाण हैं। मेगस्थनीज़ और डाइमेकस मौर्य राजाओं के दरबार में सेल्यूसिड राजाओं के राजदूत के रूप में कार्य करते थे। डायोनीसियस मौर्य राजदरबार में मिस्र के राजा टोलेमी फिलाडेलफस का राजदूत था। भारत और पश्चिम के बीच स्थापित राजनयिक संबंधों का अशोक के तेरहवें शिलालेख में भी उल्लेख है, जिसमें पाँच यूनानी राजाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है और यह दावा किया गया है कि अशोक के धर्मप्रचारकों के क्रियाकलापों के कारण उसके धर्म का प्रचार इन देशों में हुआ।

इस वाणिज्यिक और राजनीतिक संपर्क का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत और पश्चिमी देशों के अधिकाधिक लोग एक-दूसरे के देशों में जाने लगे। इन संपर्कों और संबंधों को स्ट्रैबो की पुस्तक *ज्योग्राफी*, एरियन की पुस्तक *इंडिका*, ज्येष्ठ प्लिनी

की पुस्तक *नैचुरल हिस्ट्री*, *पेरीप्लस ऑफ एरीथ्रियन सी* और टोलेमी की पुस्तक *ज्योग्राफी* में अभिलेखबद्ध किया गया है। भारत को संसार में तब तक एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था, जैसा कि यूनानी-रोमन जानते थे।

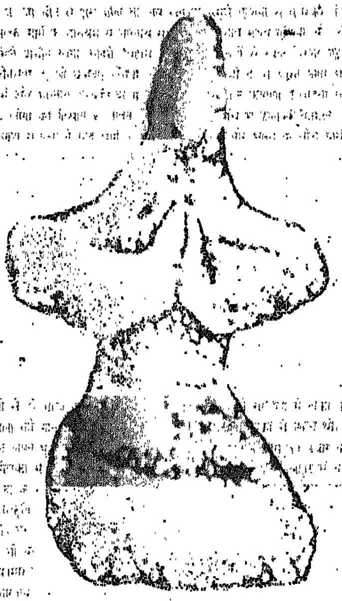
बहुत-से भारतीय नरेशों ने अपने राजदूत रोम भेजे थे। सर्वाधिक सुविदित राजदूत लगभग 25 ई. पू. में रोम भेजा गया। उसे रोम पहुँचने में लगभग चार वर्ष लगे। उसने रोमन राजा, आगस्टस को पशु और अन्य उपहार भेंट किए। भारतीय कला और सिक्कों में यूनानी संस्कृति के प्रभाव चिह्न दिखाई देते हैं। गांधार कला शैली और भारतीय-यूनानी तथा कुषाण राजाओं के सिक्के इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। धर्म के क्षेत्र में दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया; जैसा कि यूनानी-रोमन संसार में हुए दार्शनिक विकास से झलकता है। इन वाणिज्यिक और सांस्कृतिक संपर्कों के द्वारा ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ई. तक भारत पहुँच गया था। भारतीय धर्म; जैसे— भागवत धर्म, शैव धर्म और बौद्ध धर्म ने विदेशियों को प्रभावित किया। कुषाण, शक, भारतीय-यूनानी, पार्थियन वंश के लोगों और राजाओं ने भारतीय धर्म और संस्कृति को अपना लिया तथा भारतीय समाज के अंग बन गए। इस काल में भारत और मध्य एशिया, चीन और पूर्वी एशिया के बीच भी सांस्कृतिक संपर्क बनने शुरू हुए। इन पर अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित को स्पष्ट करें :
   *संगम, धर्मशास्त्र, बोधिसत्व, प्रतिलोम, अनुलोम, श्रेणी, प्रदक्षिणापथ।*
2. इस काल की भाषा और उसके साहित्य के बारे में एक टिप्पणी लिखें।
3. महायान संप्रदाय की उत्पत्ति का वर्णन करें।
4. भागवत धर्म पर एक टिप्पणी लिखें।
5. इस काल की सामाजिक स्थिति का वर्णन करें।
6. चार आश्रमों के बारे में एक टिप्पणी लिखें।
7. व्यापार और वाणिज्य के विशेष संदर्भ में आर्थिक स्थिति का वर्णन करें।
8. स्थापत्य के क्षेत्र में हुए विकास के बारे में टिप्पणी लिखें।
9. गांधार और मथुरा कला शैली के बारे में टिप्पणी लिखें।
10. विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए विकास के बारे में लिखें।
11. बाहर के संसार के साथ भारत के संपर्क के बारे में एक निबंध लिखें।

**करने के लिए कार्य**

- भारत के नक्शे में भारत के महत्वपूर्ण व्यापार-केंद्रों को जोड़ने वाले प्रमुख मार्ग प्रदर्शित करें।
- भारत के नक्शे में सिल्क मार्ग दिखाएँ और उसे भारतीय व्यापारिक मार्गों के साथ जोड़ें।
- संग्रहालय में जाएँ और इस काल के सिक्कों के चित्र एकत्र करें और उनकी पहचान करें।



# अध्याय 18

# गुप्त वंश से हर्ष तक का भारत

कुछ शताब्दियों पहले के ... का निर्माण करके और भारतीय संस्कृति की अनेक प्रवृत्तियों को, जो पहले की अवधियों में प्रारंभ हुई थीं, सुबद्धता प्रदान ... से प्रभावित किया।

## गुप्त वंश का उदय

**जैसा** कि आपने पिछले अध्याय में देखा है, उत्तरी भारत समय-समय पर विदेशी लोगों; जैसे—यवनों (यूनानियों, रोमनों और पश्चिमी एशिया के लोगों को दिया गया नाम), कुषाणों, शकों, पार्थियनों आदि के आधिपत्य में आया। प्रथम शताब्दी ई.पू. से लेकर इन लोगों ने पश्चिमोत्तर भारत में बसना शुरू कर दिया। इनमें से अधिकांश लोग मध्य एशिया में उथल-पुथल की स्थिति होने के कारण भारत आए थे। उन्होंने अपने आपको भारतीय संस्कृति के अनुरूप ढाल लिया और साथ ही उसमें कुछ नए तत्त्व भी जोड़े। प्रथम शताब्दी ई.पू. और तीसरी शताब्दी ई. के बीच की अवधि में दक्कन में सातवाहन, उत्तर में कुषाण और पश्चिम में शक तीन बड़ी राजनीतिक शक्तियों के रूप में उभरे एवं उन्होंने इन क्षेत्रों में स्थिरता स्थापित करने वाले तत्वों के रूप में कार्य किया। सातवाहनों और कुषाणों के साम्राज्यों का तीसरी शताब्दी ई. के मध्य में अंत हो गया तथा उत्तर भारत में गुप्त वंश नामक एक नए राजघराने का उदय हुआ। कुछ शताब्दियों पहले के मौर्य वंश की तरह, गुप्त राज वंश ने एक बड़े साम्राज्य का निर्माण करके और भारतीय संस्कृति की कुछ प्रवृत्तियों को जो पहले की अवधियों में प्रारंभ हुई थीं, सुदृढ़ता प्रदान करके भारत के इतिहास को स्थायी रूप से प्रभावित किया। गुप्त सम्राट न केवल अपनी राजनीतिक शक्ति और सुदृढ़ता के लिए, बल्कि विज्ञान, कला, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के लिए भी जाने जाते हैं।

गुप्त वंश के शुरू के राजाओं के बारे में हमें कोई विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में समुद्रगुप्त के पूर्वजों के रूप में महाराज श्रीगुप्त और महाराज घटोत्कच का उल्लेख किया गया है। इत्सिंग जो 671 ई. से 695 ई. तक भारत में रहा था, ने श्रीगुप्त का उल्लेख गया में चीनी यात्रियों के लिए बनवाए गए एक के निर्माता के रूप में किया था, यह मंदिर उसकी यात्रा से 500 वर्ष पहले बनाया गया था। इस राजा श्रीगुप्त की पहचान गुप्त वंश के इस नाम के सबसे पहले राजा के रूप में की गई है, जिसका उल्लेख इलाहाबाद के स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में किया गया है। पुराणों में यह कहा गया है कि गुप्त वंश के प्रारंभिक राजाओं का गंगा के साथ लगते क्षेत्र (मध्य गंगा द्रोणी बेसिन), प्रयाग (इलाहाबाद और उसके आसपास के क्षेत्र), साकेत (अयोध्या क्षेत्र) तथा मगध क्षेत्र पर आधिपत्य था। श्रीगुप्त के बाद उसके पुत्र घटोत्कच ने उत्तराधिकारी के रूप में राज सँभाला और उसे भी गुप्त वंश के अभिलेखों में महाराज: कहा गया है।

सन् 320 ई. में चंद्रगुप्त प्रथम अपने पिता घटोत्कच के बाद राजा बना। यह कहा जाता है कि उसने महान गुप्त साम्राज्य की नींव डाली। चंद्रगुप्त प्रथम ने एक लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया। लिच्छवि (जिससे गौतम बुद्ध का संबंध था) एक प्राचीन और सुप्रतिष्ठित गणराज्य था और काफी शक्तिशाली था और उत्तर भारत में उसका तब भी बहुत सम्मान था। चंद्रगुप्त प्रथम का यह वैवाहिक संबंध उसके राजनीतिक जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, जिसका प्रमाण चंद्रगुप्त प्रथम एवं कुमारदेवी किस्म के सिक्कों से मिलता है। इन सिक्कों पर चंद्रगुप्त प्रथम और कुमारदेवी के चित्र अंकित हैं तथा लिच्छवियों के नाम का उल्लेख है। चंद्रगुप्त प्रथम और कुमारदेवी के पुत्र समुद्रगुप्त ने इलाहाबाद के शिलालेख में बड़े गर्व के साथ अपना

उल्लेख लिच्छवियों के दौहित्र अर्थात् लिच्छवियों की पुत्री के पुत्र के रूप में किया था। चंदगुप्त प्रथम ने एक नए संवत् अर्थात् गुप्त संवत् का सूत्रपात किया, जो सन् 320 ई. में उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय से शुरू होता है। वह पहला गुप्त नरेश था जिसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की और सोने के सिक्के चलाए।

## समुद्रगुप्त

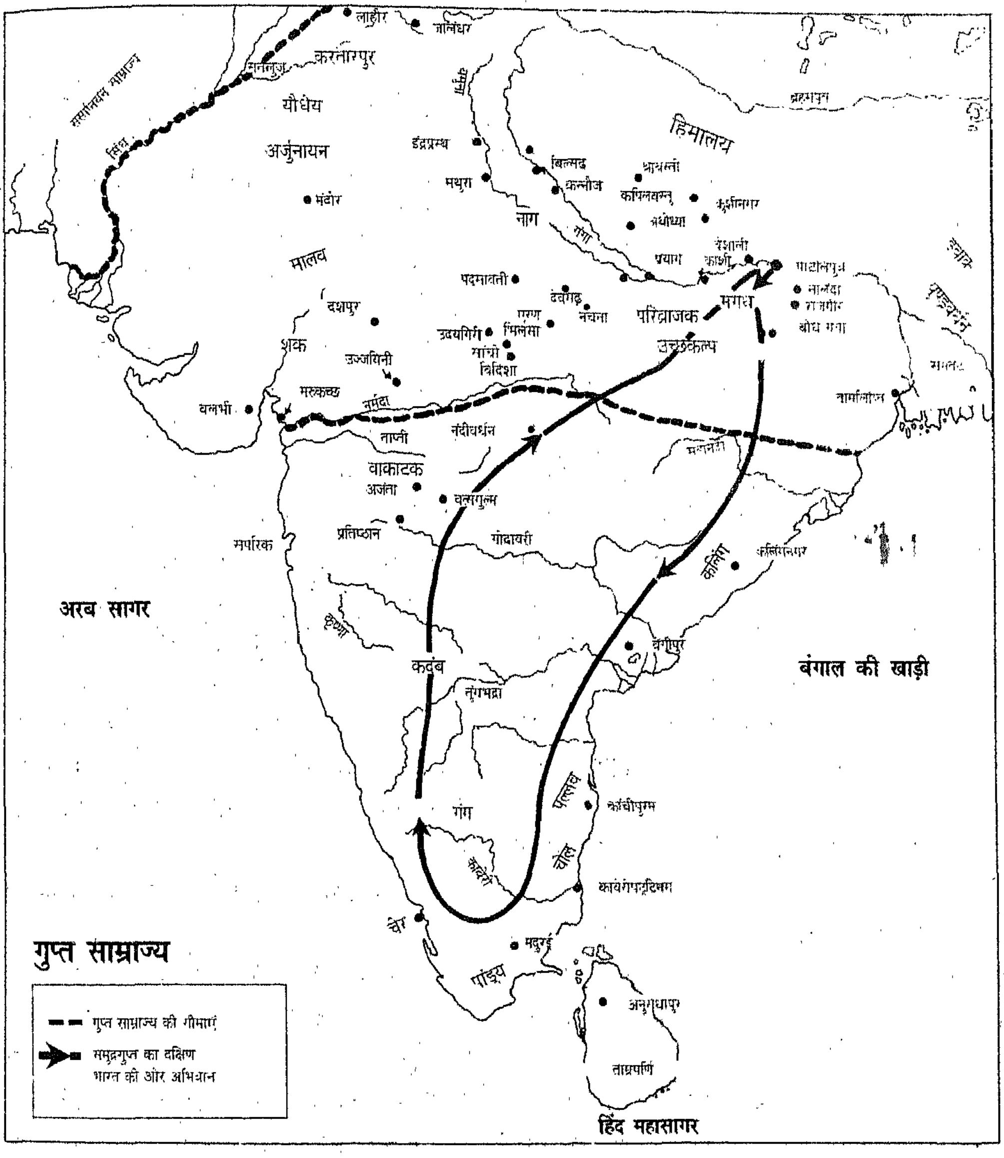
समुद्रगुप्त ने 340 ई. के आसपास अपने पिता के बाद राजकाज सँभाला। उसने एक महान सम्राट और विजेता के रूप में ख्याति प्राप्त की। उसके पिता ने उसके गुणों के कारण, जो उसे एक अच्छा राजा बना सकते थे, अपने उत्तराधिकारी के रूप में उसका चुनाव किया। इलाहाबाद के स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख में समुद्रगुप्त के जीवन और व्यक्तित्व का विस्तृत विवरण दिया गया है। यह स्तंभ लेख उसके एक पदाधिकारी हरिषेण द्वारा तैयार किया गया था और इलाहाबाद के अशोक स्तंभ पर उत्कीर्ण किया गया था।

समुद्रगुप्त की सैनिक उपलब्धियों में उन राजाओं और शासकों की एक लंबी सूची शामिल है, जिन्हें उसने पराजित कर अपने अधीन कर लिया था। आर्यावर्त में उसने नौ राजाओं और राजकुमारों को राज्यच्युत किया और उनके राज्यों पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

समुद्रगुप्त का अगला महत्वपूर्ण अभियान दक्षिण भारत पर था। शिलालेख में दक्षिण (दक्षिणापथ) के कुल मिलाकर बारह नरेशों और राजकुमारों की सूची दी गई है। इस क्षेत्र के राजाओं के मामले में उसने राजाओं को पहले बंदी बनाने, उसके बाद उन्हें मुक्त करने और तत्पश्चात् उन्हें उनके राज्यक्षेत्रों का फिर से शासक बनाने की नीति का अनुसरण किया। इस प्रकार राजसी कृपा प्रदर्शित करके उसने उनकी राजनिष्ठा अर्जित कर ली। अपने दक्षिण भारतीय अभियान में समुद्रगुप्त मध्यदेश के पूर्वी और दक्षिणी भागों के रास्ते से उड़ीसा की ओर बढ़ा और तब वह पूर्वीतट के साथ-साथ आगे बढ़ता हुआ काँची और उसके आगे तक जा पहुँचा और महाराष्ट्र व खानदेश के रास्ते से अपनी राजधानी में वापस लौटा। इन विजय-अभियानों के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया। इस अवसर पर उसने सोने के सिक्के जारी किए, जिन पर बलि के घोड़े की आकृति थी और उन पर अंकित लेख में यह बताया गया था कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था।

इलाहाबाद के स्तंभ पर अंकित लेख में उसके राज्य की सीमाओं पर स्थित चौदह राज्यों की सूची भी दी गई है। इन राज्यों के शासक उसे कर देते थे, उसके आदेशों का पालन करते थे और उसके दरबार में उपस्थित होकर अपने आज्ञापालक होने का प्रमाण देते थे। ये राज्य पूर्वी राजस्थान, उत्तरी मध्य प्रदेश, असम और नेपाल में स्थित थे। इसके अलावा कुछ वन नरेशों (आटविक राजाओं) का भी उल्लेख है, जिन्हें समुद्रगुप्त ने अपना परिचारक (सहायक) बनाया था।

इस स्तंभ लेख में राजनीतिक शक्तियों के एक अन्य समूह की सूची भी दी गई है; जैसे— कुषाण, शक, मुरुंड और सिंहल (श्रीलंका) एवं अन्य द्वीपों के निवासी। इन शासकों ने समुद्रगुप्त के दरबार में अपने राजदूत भेजे थे। एक चीनी स्रोत के अनुसार श्रीलंका के राजा मेघवर्ण ने बोध गया में बौद्ध यात्रियों के लिए एक विहार और एक अतिथि गृह बनवाने के लिए समुद्रगुप्त की अनुमति प्राप्त करने के लिए उसके पास अपना राजदूत भेजा था।




*आकृति 18.1 गुप्त साम्राज्य का मानचित्र*

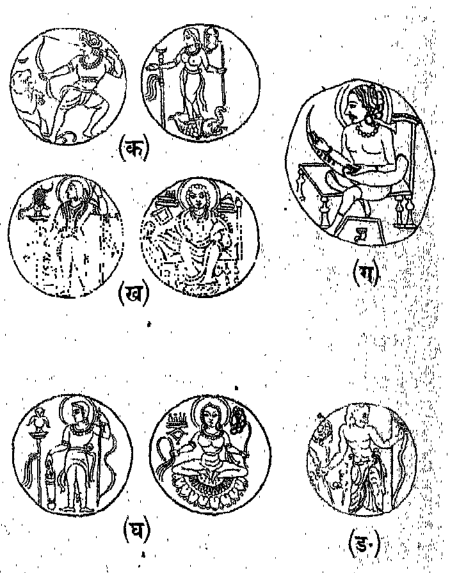
समुद्रगुप्त बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। वह न केवल युद्ध कला में प्रवीण था, अपितु शास्त्रों में भी पारंगत था। उसे कविराज अर्थात् कवियों का राजा कहा जाता है। इलाहाबाद के स्तंभ-लेख में उसे एक महान संगीतज्ञ कहा गया है। उसके गीतात्मक किस्म के सिक्कों से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिनमें

उसे वीणावादन करते हुए दिखाया गया है। उसने अपने दरबार में विद्वानों को प्रश्रय दिया था और उन्हें अपने मंत्रियों के रूप में नियुक्त किया था। समुद्रगुप्त का देहांत लगभग 380 ई. में हुआ और उसके बाद उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय राजसिंहासन पर बैठा।

## चंद्रगुप्त द्वितीय

गुप्त साम्राज्य समुद्रगुप्त और दत्तदेवी के पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में क्षेत्रीय विस्तार और सांस्कृतिक उन्नति दोनों रूपों में कीर्ति और वैभव के उच्चतम शिखर पर जा पहुँचा। अपने पिता की भांति, चंद्रगुप्त द्वितीय भी अपने पिता द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुना गया था। चंद्रगुप्त द्वितीय को अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में एक सुदृढ़ और सुसंगठित साम्राज्य प्राप्त हुआ, जिसका उसने और आगे विस्तार किया। उसने वाकाटकों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया और अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्त का विवाह वाकाटक वंश के रुद्रसेन द्वितीय के साथ किया। चंद्रगुप्त द्वितीय ने संभवतः यह विवाह शकों पर आक्रमण करने से पहले किया था, जिससे कि उसे यह भरोसा हो जाए कि दक्कन में उसका समर्थन करने वाली एक मित्र-शक्ति मौजूद है। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद प्रभावतीगुप्त ने अपने दो अवयस्क पुत्रों की ओर से प्रतिशासक अर्थात् रीजेंट के रूप में कार्य किया। उसके प्रतिशासन काल में जो बीस वर्षों तक रहा और उसके बाद भी गुप्तों व वाकाटकों के बीच मैत्रीपूर्ण व घनिष्ठ संबंध बने रहे।

उसकी सबसे बड़ी सफलता थी, शक्तिशाली शकों पर उसकी विजय। शकों के समृद्ध साम्राज्य पर कब्जा होने से, जिसमें गुजरात और मालवा का कुछ भाग शामिल था, गुप्त साम्राज्य न केवल मजबूत




*आकृति 18.2 समुद्रगुप्त के (क, ख, ग) और चंद्रगुप्त के (घ, ङ) सिक्के*

बन गया, बल्कि पश्चिमी समुद्री पत्तनों से उसका सीधा संपर्क स्थापित हो गया। इससे समुद्रपारीय व्यापार और वाणिज्य को असाधारण प्रोत्साहन मिला। उज्जैन जो व्यापार, धर्म और संस्कृति का एक महान केंद्र था, इस विजय के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की दूसरी राजधानी बना। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कदाचित् इस विजय प्राप्ति के बाद ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। यही विक्रमादित्य उपाख्यानों में विद्वानों के प्रश्रयदाता और विदेशी शासन के पंजे से मुक्ति दिलाने वाले महान मुक्तिदाता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। कुछ विद्वानों को इस बात में संदेह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय और विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने शक क्षत्रपों पर अपनी विजय की स्मृति में चाँदी के कालांकित सिक्के जारी किए।

महरौली के लौह स्तंभ पर जो मूल रूप से विष्णु के मंदिर (दिल्ली में कुतुब मीनार के निकट) के सामने स्थापित था, एक लेख अंकित है। उसमें चंद्र नाम के राजा की कीर्ति का वर्णन किया गया है। उसमें यह कहा गया है कि उसने वंग (बंगाल) में शत्रु-समूहों पर विजय प्राप्त की थी, अपने शौर्य-समीर से दक्षिणी समुद्र को सुगंधित बनाया था और वह्लीकों (सिंधु नदी के पार) पर काबू पाया था। इस लौह स्तंभ के राजा चंद्र की पहचान सामान्य रूप से चंद्रगुप्त द्वितीय के रूप में की जाती है। इसका अर्थ यह होगा कि उसका साम्राज्य बंगाल से पश्चिमोत्तर सीमा तक फैला हुआ था।

चंद्रगुप्त द्वितीय का शासन, उसके विजय अभियानों के अलावा, उसके द्वारा साहित्य और कला को दिए गए संरक्षण और कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन के उच्च स्तर के लिए भी याद किया जाता है। संस्कृत का महाकवि कालिदास उसके दरबार का एक सदस्य था। चीन के बौद्ध यात्री, फाहियान ने 405 ई. से 411 ई. तक भारत की यात्रा की, बौद्ध पांडुलिपियों व ग्रंथों का संग्रह किया और भारतीय विहारों में अध्ययन किया था। उसने भारत का वर्णन एक सुखी और समृद्ध देश के रूप में किया था।

## कुमारगुप्त प्रथम

चंद्रगुप्त द्वितीय का देहांत 413 ई. के आसपास हो गया और उसके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम राजा बना, और उसने चालीस वर्षों से अधिक समय तक राज किया। अपने दादा समुद्रगुप्त की तरह उसने अश्वमेध किस्म के सिक्के जारी किए। हो सकता है कि उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया हो, हालांकि हमें उसकी सैनिक उपलब्धियों के बारे में कोई जानकारी नहीं है, किंतु शिलालेखों से पता चलता है कि उसने अपने विशाल साम्राज्य को संगठित किया और चालीस वर्षों की लंबी अवधि तक उसमें शांति, समृद्धि और सुरक्षा बनाए रखी। उसकी चतुराई और योग्यता के प्रमाण के लिए यह कोई कम श्रेय की बात नहीं है। कुमारगुप्त के शासन के अंतिम वर्षों में गुप्त साम्राज्य को पुष्यमित्रों द्वारा, जो नर्मदा के किनारे बसा हुआ एक समुदाय था, चुनौती दी गई, किंतु कुमारगुप्त प्रथम के पुत्र और भावी राजा स्कंदगुप्त ने उनका युद्ध में दमन करके फिर से शांति स्थापित कर दी।

## स्कंदगुप्त

कुमारगुप्त प्रथम का 455 ई. में देहावसान हो गया और उसके बाद उसका पुत्र स्कंदगुप्त शासक बना। उसका सिंहासनारोहण शांतिपूर्वक नहीं हुआ, और कदाचित् उसके व उसके भाई पुरुगुप्त के बीच संघर्ष हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि स्कंदगुप्त के शासनकाल में युद्धों की भरमार रही। उसके सबसे बड़े शत्रु मध्य एशिया में रहने वाले दुर्दांत बर्बर हूण थे, जो उसी समय पश्चिम में शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के लिए खतरा बने हुए थे। श्वेत हूणों के नाम से पुकारी जाने वाली उनकी एक शाखा ने ऑक्सस घाटी पर कब्जा कर लिया और वे फारस और भारत दोनों की ओर बढ़े। उन्होंने हिंदुकुश को पार करके गांधार प्रदेश पर कब्जा कर लिया और गुप्त साम्राज्य को ललकारा। स्कंदगुप्त ने हूणों को ऐसी करारी हार दी कि उन्होंने लगभग पचास वर्षों तक गुप्त साम्राज्य को फिर छेड़ने की हिम्मत नहीं की, हालांकि उन्होंने इस अवधि में फारस में तबाही मचाए रखी। स्कंदगुप्त के शासनकाल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार।

यह झील चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में बनाई गई थी। हम पढ़ चुके हैं कि इससे पहले इस झील की मरम्मत शक क्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के शासनकाल में की गई थी।

## गुप्त वंश का पतन

इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्ष 467 ई. में स्कंदगुप्त की मृत्यु होने के 100 वर्ष बाद तक गुप्त वंश का अस्तित्व बना रहा। स्कंदगुप्त के बाद उसका भाई पुरुगुप्त राजा बना। उसकी उपलब्धियों के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है और शायद उसकी कोई उपलब्धि थी भी नहीं। इसके बाद गुप्त वंश का एकमेव शासक, जो साम्राज्य के काफी बड़े भाग पर शासन करता रहा था, बुद्धगुप्त था, जिसके शिलालेख बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में मिले हैं। उसके उत्तराधिकारी प्रशासन को सँभाल नहीं पाए और वे कुछ राज्यपालों और अधिकारियों के विद्रोह और हूणों के आक्रमण का सामना नहीं कर सके। यद्यपि हूणों का शासन भारत में विदेशी शासनों में सबसे कम अवधि का शासन था, लेकिन गुप्त साम्राज्य को इससे बहुत धक्का लगा। हूणों ने तोरमाण के नेतृत्व में 512 ई. में एक बार फिर आक्रमण किया। उन्होंने ग्वालियर और मालवा तक उत्तरी भारत के एक काफी बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। तोरमाण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मिहिरकुल था, जिसने शाकल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। भारत में हूणों का शासन बहुत ही कम समय के लिए रहा। ह्वेनसांग ने इसका वर्णन किया है कि मिहिरकुल ने किस प्रकार मगध पर आक्रमण किया और गुप्तवंश के राजा बालादित्य द्वारा उसे बंदी बनाया गया और किस प्रकार मगध की राजमाता द्वारा हस्तक्षेप किए जाने पर उसकी जान बख्शी गई। मालवा से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार, मालवा के एक स्थानीय शक्तिशाली शासक यशोवर्मन ने भी मिहिरकुल को पराजित किया था। यह ज्ञात नहीं है कि उसने यह कार्य स्वतंत्र रूप से किया था अथवा बालादित्य के सहयोगी के रूप में।

## गुप्त वंश के बाद का उत्तर भारत

गुप्त वंश के पतन के समय से लेकर सातवीं शताब्दी के शुरू में हर्ष के उदय होने के समय तक, उत्तर भारत में चार प्रमुख राज्य फले-फूले। ये थे : मगध के गुप्त, मौखरि, पुष्यभूति और मैत्रक। इन राज्यों के बीच गुप्त वंश के गत वैभव को प्राप्त करने की होड़ थी। मगध का यह गुप्त वंश, मगध का एक छोटा-सा राजवंश था (इसे गलती से गुप्त सम्राटों का राजवंश न समझ लिया जाए)। यह तय करना संभव नहीं है कि इनका गुप्त सम्राटों के राजवंश के साथ किसी प्रकार का कोई संबंध था अथवा नहीं। इस परिवार के कुछ राजा बहुत शक्तिशाली थे और उन्होंने ब्रह्मपुत्र तक कई बार विजय अभियान किए। मौखरियों का कब्जा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कन्नौज के आसपास था। मौखरियों ने मगध के कुछ भाग को जीत लिया था। ईशानवर्मन और उसका बेटा सर्ववर्मन शक्तिशाली मौखरि राजा हुए और उन्होंने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। ईशानवर्मन को इसलिए याद किया जाता है कि उसने हूणों का डटकर वीरतापूर्वक सामना किया था, जो एक बार फिर भारत के हृदयस्थल की ओर बढ़ आए थे।

पश्चिम में मैत्रक घराने ने भटार्क के नेतृत्व में सौराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी वलभी थी। मैत्रकों के शासन में वलभी न

केवल शिक्षा और संस्कृति का बल्कि व्यापार एवं वाणिज्य का भी केंद्र बन गई थी। इन चार मुख्य राज्यों में मैत्रकों का राज्य सबसे लंबे समय तक कायम रहा और मैत्रकों ने आठवीं शताब्दी के मध्य तक उस समय शासन किया, जब तक कि अरबों के आक्रमणों के कारण उनका पतन नहीं हो गया।

एक अन्य राजवंश, जिसकी स्थापना लगभग उसी समय हुई थी, जब मैत्रक वलभी वंश स्थापित हुआ था, वह थानेश्वर के पुष्यभूतियों का था। इस राजवंश ने भारतीय इतिहास में कहीं अधिक विशिष्ट भूमिका निभाई थी। पुष्यभूति परिवार हूणों के हमले के बाद सामने आया और उसने प्रभाकरवर्धन के सिंहासनारूढ़ होने के बाद अपने राजनीतिक अस्तित्व को उजागर किया। प्रभाकरवर्धन ने परमभट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। बाणभट्ट द्वारा उसका उल्लेख "''''हूण रूपी मृग के लिए सिंह, सिंधु नरेश के लिए ताप, गुजरात के राजा की नींद उड़ाने वाला, गांधार के स्वामी गंध-मादन हाथी के लिए पित्त ज्वर, लाटों के कौशल का विनाशकर्ता, मालवा की भाग्यदेवी रूपी लता के लिए परशु" के रूप में किया है।"

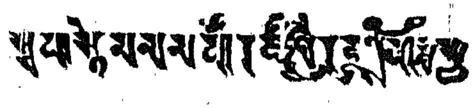
प्रभाकरवर्धन की प्रभुसत्ता का संभवतः पश्चिमोत्तर में संपूर्ण पंजाब तक और दक्षिण में मालवा के कुछ भाग तक विस्तार था। उसके शासन के अंतिम चरण में हूणों का आक्रमण हुआ। प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र थे, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन व राज्यश्री नाम की एक पुत्री थी, जिसका विवाह मौखरि राजा ग्रहवर्मन के साथ हुआ था। जब प्रभाकरवर्धन अपने राज्य की सीमाओं का पश्चिम और दक्षिण की ओर तेजी से विस्तार कर रहा था, तो बंगाल और असम में दो शक्तिशाली राज्यों की स्थापना हुई।

जब गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ तो लगभग 525 ई. के लगभग बंगाल में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। गौड़ प्रदेश ने, जिसमें बंगाल के पश्चिमी और उत्तरी भाग शामिल थे, अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी, लेकिन मौखरियों ने उसे दबा दिया। इसके आधी शताब्दी के बाद गौड़ों के सिंहासन पर शशांक आरूढ़ हुआ। उसने अपनी राजधानी कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद के निकट) में स्थापित की और शीघ्र ही वह संपूर्ण बंगाल का स्वामी बन गया। उसने उड़ीसा को जीत लिया और फिर पश्चिम में मौखरियों के विरुद्ध कन्नौज की ओर बढ़ा। मौखरि नरेश ग्रहवर्मन का विवाह प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। इस वैवाहिक संबंध ने दोनों परिवारों की स्थिति को मजबूत बना दिया। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद शशांक ने मालवा के राजा की सहायता से कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। राजा ग्रहवर्मन मारा गया और रानी राज्यश्री को कारावास में डाल दिया गया। यह समाचार सुन कर राज्यवर्धन ने गौड़ और मालवा के राजाओं का दमन करने के लिए अपने सैन्यबल के साथ तत्काल कूच किया, किंतु वह शशांक द्वारा धोखे से मार दिया गया।

## हर्ष

राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई हर्षवर्धन, जिसे शीलादित्य भी कहा जाता है, सोलह वर्ष की आयु में 606 ई. में पुष्यभूति सिंहासन पर बैठा और उसने इकतालीस वर्षों तक शासन किया। ग्रहवर्मन की मृत्यु के पश्चात् मौखरि राज्य के मंत्रियों ने अपने राज्य की गद्दी हर्ष को पेश की। पहले के अधिकतर भारतीय राजाओं की तुलना में हर्ष के समय का विवरण अधिक अच्छी तरह से अभिलेखबद्ध है।

कवि बाणभट्ट ने *हर्षचरित* (हर्ष की जीवनी) में उसके सत्ता में आने की सभी घटनाओं का विस्तृत ब्यौरा दिया है। इसके साथ ही चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी हर्ष और उसके शासनकाल के भारत के बारे में विस्तारपूर्वक लिखा है।

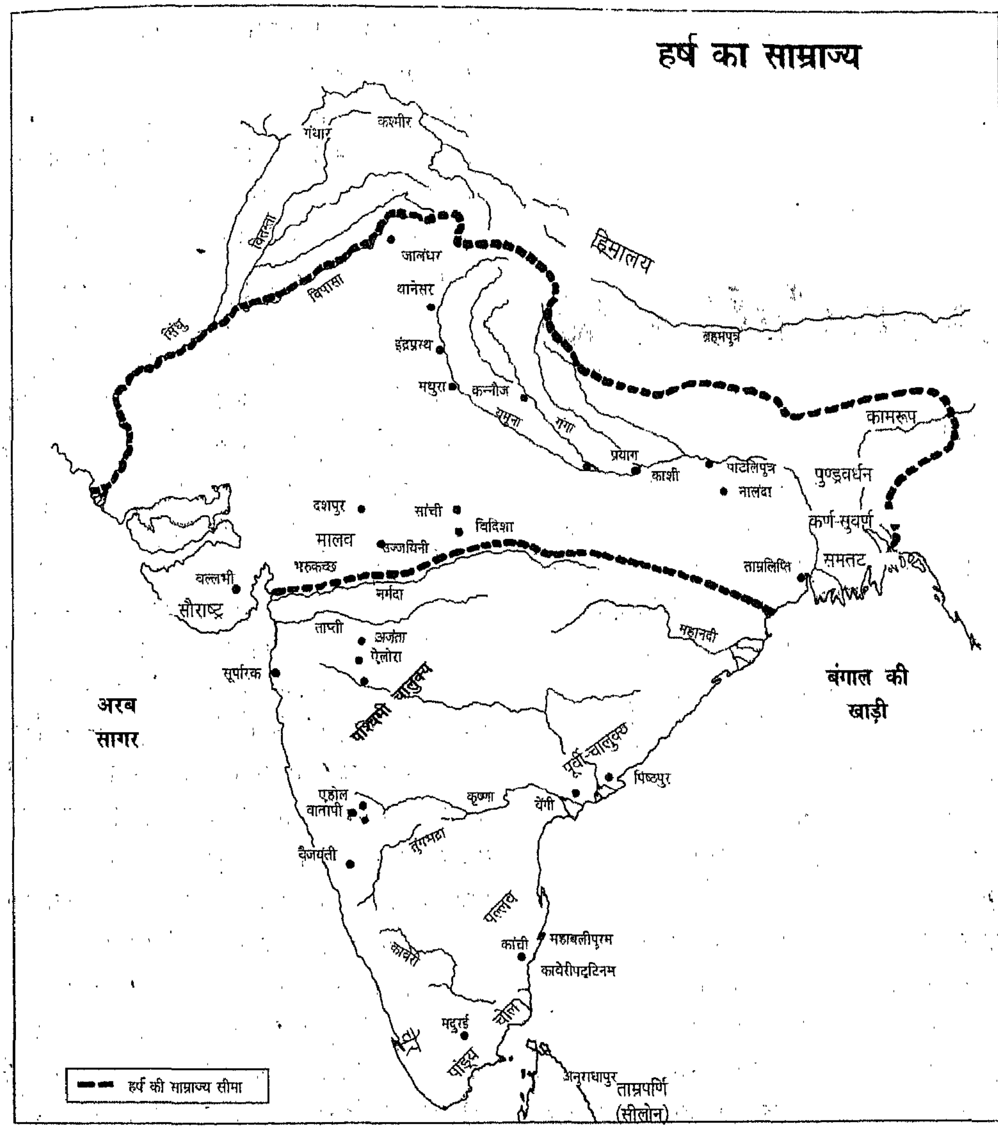


***आकृति 18.3** अपनी हस्तलिपि में हर्ष के हस्ताक्षर*

सिंहासन पर बैठने के बाद, हर्ष ने सबसे पहले अपनी विधवा बहन को विंध्य वन से बचाया, जहाँ पर वह अपनी सभी परिचारिकाओं के साथ अग्नि में कूदने जा रही थी। इसके बाद हर्ष अपने भाई राज्यवर्धन और अपने बहनोई, ग्रहवर्मन की मौत का बदला लेने के लिए शशांक के विरुद्ध पूर्व की ओर बढ़ा। हर्ष गौड़ के विरुद्ध अपने पहले अभियान में सफल नहीं हुआ, लेकिन शामनकाल की समाप्ति के करीब, गौड़नरेश शशांक की मृत्यु के बाद, अपने दूसरे अभियान में उसने मगध को और शशांक के साम्राज्य को भी जीत लिया। गौड़ प्रदेश को हर्ष और कामरूप के राजा भास्करवर्मन ने, जो हर्ष का सहयोगी था, आपस में बाँट लिया। हर्ष को अपने सैनिक अभियान में सफलता मिली और उसने उत्तरी भारत का काफी बड़ा भाग जीत लिया। ह्वेनसांग ने लिखा है कि "वह निरंतर युद्ध करता रहा, जब तक कि उसने छः वर्षों में पाँच भारतीय राजाओं को जीत नहीं लिया। तब अपने राज्यक्षेत्र का विस्तार करने के बाद उसने अपने सैन्यबल में वृद्धि की, और हस्ति सेना की संख्या बढ़ाकर 60,000 एवं अश्वारोही सैनिकों की संख्या बढ़ाकर 1,00,000 कर दी तथा उसके बाद उसने एक बार भी शस्त्र उठाए बिना तीस वर्षों तक शांतिपूर्वक राज किया।" हर्ष ने अपने साम्राज्य को नर्मदा के पार बढ़ाने के लिए अभियान शुरू किया, लेकिन वह ऐसा करने में सफल नहीं हुआ। ऐहोल के शिलालेख में यह उल्लेख है कि हर्ष को बादामी के चालुक्य राजा, पुलकेशिन द्वितीय के हाथों हार का सामना करना पड़ा। ह्वेनसांग ने भी यह लिखा है कि हर्ष चालुक्य नरेश को हरा नहीं सका। हर्ष के साम्राज्य का विस्तार पंजाब से उत्तरी उड़ीसा तक और हिमालय से नर्मदा के किनारों तक था। वलभी का मैत्रक नरेश ध्रुवभट्ट द्वितीय और कामरूप का राजा भास्करवर्मन उसके मित्र थे।

भारत के इतिहास में हर्ष ने जो अमर कीर्ति अर्जित की है, वह उसके विजय-अभियानों के कारण उतनी नहीं है, जितनी कि उसके शांतिपूर्ण कार्यों के लिए है, जिनका विशद वर्णन ह्वेनसांग द्वारा और उसके जीवन चरित लेखक बाणभट्ट द्वारा किया गया है। यह महान सम्राट न केवल विद्या का संरक्षक था, बल्कि स्वयं भी एक सुयोग्य लेखक था। उसने तीन संस्कृत नाटक लिखे थे— *नागानंद, रत्नावली* और *प्रियदर्शिका*। उसने अपने यहाँ विद्वानों का एक मंडल बनाया था, जिनमें से *हर्षचरित* और *कादंबरी* का लेखक बाणभट्ट सबसे अधिक विख्यात है।

हर्ष न केवल एक कुशल प्रशासक था, बल्कि एक सहिष्णु राजा भी था। वह व्यक्तिगत रूप से राजकाज की जाँच करता रहता था और स्थिति को अपनी आँखों से देखने के लिए अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों की यात्रा करता था । धार्मिक आस्था की दृष्टि से वह एक शैव था, लेकिन अन्य धार्मिक संप्रदायों के प्रति भी समान भाव से सम्मान दर्शाता था। ह्वेनसांग ने उसका वर्णन एक उदार बौद्ध के




*आकृति 18.4 हर्ष के साम्राज्य का मानचित्र*

रूप में किया है, जो अन्य संप्रदायों के देवताओं का भी सम्मान करता था। उसके दान-पुण्य के कार्यों से सभी समुदायों, संप्रदायों और धर्मों को लाभ मिलता था। अशोक की भांति, उसने विश्राम गृह तथा अस्पताल बनवाए एवं अनेक ब्राह्मण, बौद्ध और जैन प्रतिष्ठानों को दान दिया।

ह्वेनसांग ने हर्ष के शासनकाल की दो सर्वाधिक प्रसिद्ध घटनाओं अर्थात् कन्नौज और प्रयाग में आयोजित सभाओं का वर्णन किया है। कन्नौज की सभा ह्वेनसांग के सम्मान में आयोजित की गई थी, जिसके लिए राजा के मन में बहुत स्नेह और आदर था। इस सभा में बीस राजाओं, चार हजार बौद्ध भिक्षुओं, लगभग तीन हजार जैनियों और ब्राह्मणों ने भाग लिया था।


*आकृति 18.5* ह्वेनसांग

कन्नौज के समारोह के बाद, हर्ष ने ह्वेनसांग के साथ प्रयाग (इलाहाबाद) प्रस्थान किया, जहाँ पर वह हर पाँच वर्षों की समाप्ति के बाद गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर धार्मिक अनुष्ठान किया करता था। वहाँ वह एक लंबे *दान-सत्र* का आयोजन करता था, जो लगभग तीन महीने तक चलता था। इन तीन महीनों में उसकी लगभग सारी धन संपत्ति समाप्त हो जाती थी जो पिछले पाँच वर्षों में जमा हुई थी। यहाँ तक कि हर्ष अपने वस्त्र और रत्न-आभूषण भी दान कर देता था और एक बार तो उसने पहनने के लिए अपनी बहन से भीख माँगकर एक साधारण वस्त्र लिया था। हर्ष ने अपने जीवन-काल में प्रयाग में ऐसी छः सभाओं (दान-सत्रों) में भाग लिया और अपना सब कुछ दान में दे दिया। हर्ष ने 641 ई. में ह्वेनसांग के साथ अपना एक राजदूत चीन भेजा और बदले में चीन से एक राजदूत आया। हर्ष का देहांत 647 ई. में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के बाद उसके राजसिंहासन पर बैठने वाला उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था और उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य उसके मंत्री द्वारा हड़प लिया गया।

## दक्कन और दक्षिण भारत

दक्कन और दक्षिण भारत में तीसरी शताब्दी ई. के पूर्वार्ध में सातवाहनों के शासन के समाप्त होने के बाद, तीसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में वाकाटक सत्तारूढ़ हुए। इस राजवंश के संस्थापक विंध्यशक्ति के बारे में कोई अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी, प्रवरसेन, पश्चिमी और मध्य भारत में वाकाटक साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। वही एकमेव ऐसा वाकाटक शासक था, जिसे सम्राट की पदवी दी गई थी। उसने वाजपेय यज्ञ और चार अश्वमेध यज्ञ किए। वाकाटक साम्राज्य को प्रवरसेन के उत्तराधिकारियों द्वारा दो भागों में विभाजित कर दिया गया। एक मुख्य शाखा थी और दूसरी शाखा को वत्सगुल्म शाखा कहा जाता था। पश्चिमी और मध्य दक्कन में राजनीतिक शक्ति के रूप में वाकाटकों के महत्व को चंद्रगुप्त द्वितीय द्वारा महसूस किया गया जिसने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्त का विवाह वाकाटक परिवार में किया। वाकाटक और गुप्त बहुत लंबे समय तक एक-दूसरे के मित्र बने रहे। वाकाटकों के बाद तीन प्रमुख राज्यों अर्थात् बादामी के चालुक्यों, कांचीपुरम के पल्लवों और मदुरै के पांड्यों का दक्कन और दक्षिण भारत में लगभग 300 वर्षों तक आधिपत्य रहा।

दक्कन में वाकाटकों के बाद बादामी के चालुक्य सत्ता में आए। चालुक्यों ने वातापी (यानी बादामी)

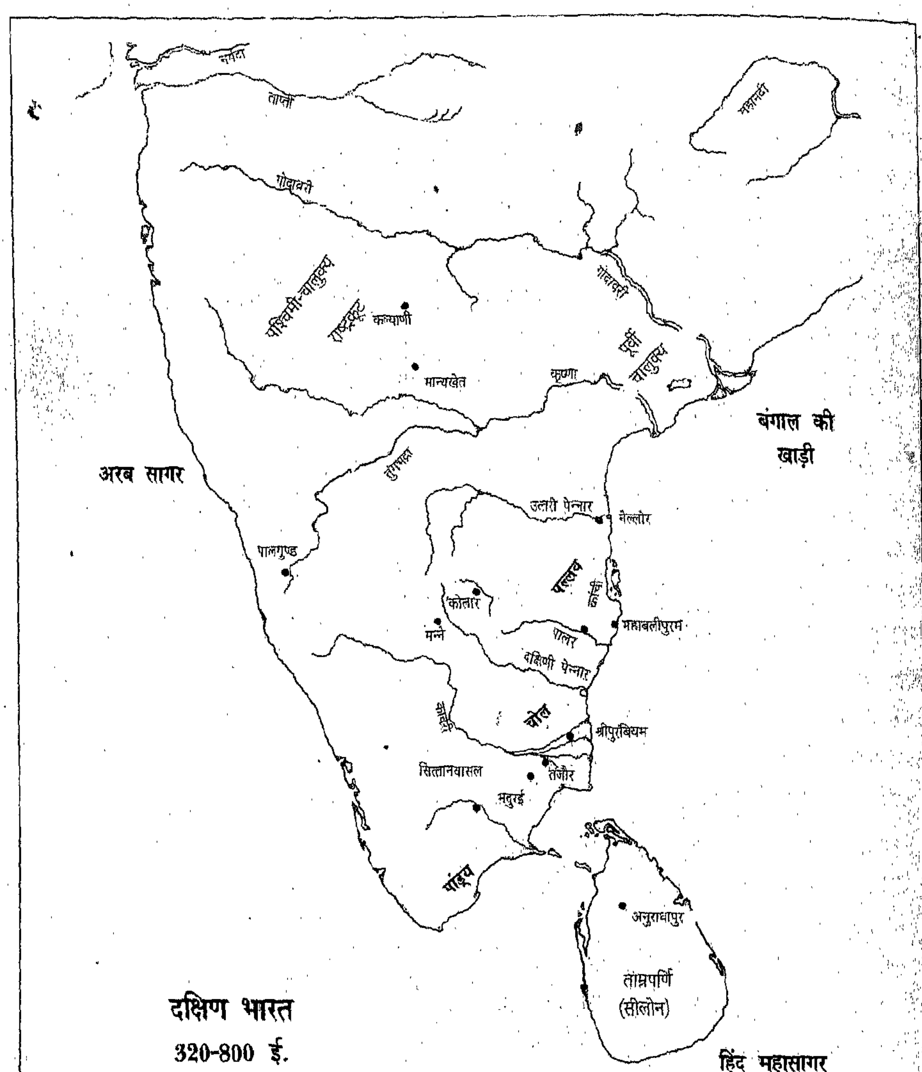
और ऐहोल को अपना आधार बनाकर अपना विस्तार शुरू किया तथा वहाँ से उत्तर की ओर बढ़े और उन्होंने नासिक के आसपास के क्षेत्र व ऊपरी गोदावरी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य वंश का सबसे प्रतापी राजा था, जिसने 610 ई. से 642 ई. तक शासन किया। वह कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। उसकी विजयों और चालुक्यों के प्रारंभिक इतिहास का विस्तृत विवरण ऐहोल के शिलालेख में पाया जाता है, जिसकी रचना रविकीर्ति द्वारा की गई थी। पुलकेशिन द्वितीय के पुत्र विष्णुवर्धन ने चालुक्य राज्य की पूर्वी शाखा की नींव डाली, जिसकी राजधानी पहले पिष्टपुरी में और बाद में वेंगी में थी। यह शाखा मुख्य शाखा यानी पश्चिमी शाखा से स्वतंत्र बनी रही और बारहवीं शताब्दी तक अपने राज्य पर बिना किसी हस्तक्षेप के उसका प्रभुत्व बना रहा। बादामी के चालुक्यों के बाद राष्ट्रकूट सत्तासीन हुए और उन्होंने दक्कन में अपना विशाल साम्राज्य बनाए रखा। इस वंश का सबसे पहला ज्ञात शासक दंतिदुर्ग प्रथम था, जिसने 752 ई. में चालुक्यों को हरा कर बादामी पर कब्जा कर लिया।

दक्कन में चालुक्यों और पल्लवों के समकालीन थे—गंग और कदंब। पश्चिमी गंगों ने, जिन्हें यह नाम इसलिए दिया गया है कि उनकी कलिंग के पूर्वी गंगों से अलग पहचान की जा सके, आधुनिक मैसूर के काफी बड़े भाग पर शासन किया। इस क्षेत्र को उनके नाम पर गंगवाड़ी कहा जाता था। इस वंश के संस्थापक कोंकणीवर्मन धर्ममहाधिराज ने संभवतः चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में शासन किया था और उसकी राजधानी कोलार में थी। गंग राजाओं ने 350 से 550 ई. तक स्वतंत्र रूप से शासन किया। उनके पल्लवों, बादामी के चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के साथ जो उनके समकालीन थे, वैवाहिक संबंध थे।

गंग राजा दुर्विनीत एक प्रसिद्ध शासक था। वह कन्नड़ और संस्कृत साहित्य का विद्वान था। श्रीपुरुष इस वंश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण शासक था, वह अपनी राजधानी मण्यपुर (बंगलौर के निकट मन्ने) ले गया। उसका राज्य 'श्रीराज्य' कहलाता था, जो स्पष्टतः उसके राज्य के समृद्ध होने का प्रमाण है।

कदंब वंश की स्थापना मयूरशर्मन नामक एक विद्वान ब्राह्मण द्वारा की गई थी। यह कहा जाता है कि वह कांची में शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया था, लेकिन कुछ पल्लव अधिकारियों ने उसे अपमानित किया। अपने अपमान का बदला लेने के लिए, वह एक सैनिक बन गया। उसने अपनी सेना बनाई और राज्याधिकारियों को पराजित कर दिया, फिर पल्लवों ने भी मयूरशर्मन की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी। कदंबों ने 345 से 365 ई. तक बनवासी से राज्य किया। काकुस्थवर्मन (435-455 ई.) इस वंश का सबसे प्रतापी राजा और प्रशासक था। उसने अपने राज्य क्षेत्र का विस्तार किया और गंग और गुप्त वंश के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए। उसकी मृत्यु के बाद परिवार का दो हिस्सों में बंटवारा हो गया और एक शाखा बनवासी से तथा दूसरी शाखा त्रिपर्वत से राज करती रही। त्रिपर्वत के शासक कृष्णवर्मा प्रथम ने परिवार को फिर से एक कर दिया, लेकिन बादामी के चालुक्यों ने 540 ई. के आसपास कदंबों को पराजित कर उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

दक्षिणी प्रायद्वीप में पल्लव, पांड्य और चोल नामक तीन राजवंश प्रमुख शक्ति थे। पल्लवों ने तीसरी शताब्दी ई. में सातवाहनों के पतन के बाद नौवीं शताब्दी ई. में चोल वंश के उदय होने तक बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पल्लवों के मूल के बारे में विवाद है। पल्लव राजा दो समूहों में विभाजित थे।




*आकृति 18.6 दक्षिण भारत का मानचित्र*

प्रारंभिक पल्लव और बृहद् पल्लव। प्रारंभिक पल्लवों के बारे में हमें संस्कृत और तमिल शिलालेखों से जानकारी मिलती है। उन्होंने कई यज्ञ किए थे और एक सुसंगठित क्षेत्र पर उनका शासन था, जिसके अंतर्गत प्रायद्वीप का उत्तरी भाग शामिल था जो पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ था। सिंहविष्णु एक प्रसिद्ध राजा हुआ, जिसने छठी शताब्दी ई. में शासन किया था। उसने अपने परिवार

के प्रभाव और प्रतिष्ठा में वृद्धि की। उसका पुत्र व उत्तराधिकारी महेंद्रवर्मन प्रथम (600-630 ई.) बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। वह कवि भी था और गायक भी। उसने *मत्तविलास प्रहसन* नामक एक प्रहसन (मजाकिया नाटक) संस्कृत में लिखा था। उसके काल में समूचे मंदिर को ठोस चट्टान काटकर बनाने की प्रथा शुरू की गई। महाबलिपुरम् के रथ इस कला के सुंदर उदाहरण हैं। वह चालुक्य राजा, पुलकेशिन् द्वितीय और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। इस काल में एक ओर पुलकेशिन् द्वितीय और हर्ष के बीच युद्ध हुआ और दूसरी ओर पुलकेशिन् द्वितीय और महेंद्रवर्मन् प्रथम के बीच। इन दोनों में पुलकेशिन् द्वितीय को विजय प्राप्त हुई।

महेंद्रवर्मन प्रथम को पराजित करने के बाद, पुलकेशिन द्वितीय ने उसके राज्य के उत्तरी प्रांतों पर कब्जा कर लिया। तदनंतर पुलकेशिन द्वितीय को महेंद्रवर्मन प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन द्वारा पराजित किया गया। नरसिंहवर्मन बादामी तक बढ़ आया और उसने उस पर घेरा डाल कर कब्जा कर लिया। इस विजय के पश्चात् नरसिंहवर्मन ने *वातापीकोंड* की उपाधि धारण कर ली। यह भी कहा जाता है कि उसने चोल, चेर, पांड्य और कलभ्र राजाओं को भी पराजित किया था। नरसिंहवर्मन ने श्रीलंका के एक राजकुमार मानवर्मन को शरण दी थी और उस देश की राजगद्दी प्राप्त करने में उसे सहायता देने के लिए दो नौ सैनिक बेड़े श्रीलंका भेजे थे। वह दक्षिण भारत का एक सर्वाधिक शक्तिशाली शासक था और उसने पल्लवों की शक्ति व प्रतिष्ठा को श्रीलंका और दक्षिण-पूर्वी एशिया तक फैलाया।

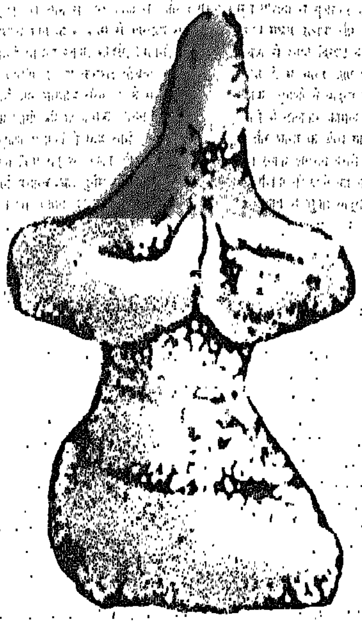
नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासनकाल (695-722 ई.) शांतिपूर्ण था। यह स्थापत्य कला की उल्लेखनीय गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध है। इस काल में एक विशेष शैली का प्रारंभ हुआ, जिसे आमतौर पर मंदिर स्थापत्य की द्रविड़ शैली कहा जाता है। पल्लव शासक ने चीन के सम्राट के पास भी अपने राजदूत भेजे थे।

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, पल्लवों को चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय (733-745 ई.) के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। यह कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने कांची को तीन बार रौंद डाला। पल्लवों को दंतिवर्मन के शासनकाल (लगभग 796-840 ई.) के दौरान पांड्यों और राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से भी भारी क्षति पहुँची। इन संघर्षों के कारण पल्लवों की शक्ति का शीघ्र ही ह्रास होना शुरू हो गया और उनके बाद चोल सत्तासीन हो गए, जिनके भाग्य में दक्षिण की सबसे अधिक शक्तिशाली शक्ति बनना लिखा था और जिनके प्रभाव और शक्ति को श्रीलंका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों द्वारा भी महसूस किया गया।

## अभ्यास

1. चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल तक गुप्त वंश के उदय का वर्णन करें।
2. समुद्रगुप्त के शासनकाल में गुप्त साम्राज्य के विस्तार का वर्णन करें।
3. समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व की चर्चा करें।
4. चंद्रगुप्त द्वितीय की उपलब्धियों की चर्चा करें। उसे 'विक्रमादित्य' के नाम से क्यों जाना जाता था?
5. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर चर्चा करें।
6. गुप्त वंश के बाद भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करें।
7. पुष्यभूति कौन थे? उनके राजनीतिक इतिहास के बारे में लिखें।
8. हर्ष के व्यक्तित्व और उसकी उपलब्धियों का वर्णन करें।
9. सातवाहनों के बाद, आठवीं शताब्दी ई. तक दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करें।
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
    (i) कुमारगुप्त
    (ii) पुलकेशिन द्वितीय
    (iii) महेंद्रवर्मन
    (iv) नरसिंहवर्मन
11. कांची के पल्लवों और बादामी के चालुक्यों और उनके राजनीतिक संबंधों की चर्चा करें।

- भारत का नक्शा खींचें और उसमें गुप्त साम्राज्य का विस्तार दर्शाते हुए महत्वपूर्ण नगरों को दिखाएँ।
- गुप्त काल की कुछ साहित्यिक कृतियाँ एकत्र करें और कक्षा में उन्हें पढ़ें।
- नालंदा विश्वविद्यालय के बारे में सामग्री और उसके पुरावशेषों के फोटो इकट्ठे करें।
- विश्वविद्यालय में अपनाई जाने वाली शिक्षा-प्रणाली की चर्चा कक्षा में करें।
- भारत के रेखाचित्र (खाके) में दक्षिण भारतीय राज्यों को उनकी राजधानियों और अन्य महत्वपूर्ण स्थानों के साथ दिखाएँ।
- इस काल के पुरातात्विक स्मारकों का सम्मिलित चित्र (कोलॉज) बनाएँ।



## अध्याय 19

# गुप्त से हर्ष काल तक भारत की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दशा

साम्राज्यों का उत्थान और पतन होता रहता है, और समय की रेत पर राजघराने बनते और मिटते रहते हैं, किंतु जब हमारा ध्यान अस्त्र-शस्त्रों की इन टकराहटों से हटकर दूसरी ओर जाता है तो हमें समय का वैभव दिखाई देता है।

**इससे** पिछले अध्याय में हमने उस मनोमुग्धकारी घटनाचक्र की एक झलक देखी थी जो पाँच सौ वर्षों की अवधि में घटित हुआ था। साम्राज्यों का उत्थान और पतन होता रहता है; और समय की रेत पर राजघराने बनते और मिटते रहते हैं, किंतु जब हमारा ध्यान अस्त्र-शस्त्रों की इन टकराहटों से हटकर दूसरी ओर जाता है तो हमें समय का वैभव दिखाई देता है। इस वैभव में राज्य-व्यवस्था, धर्म, समाज, आर्थिक जीवन, साहित्य, कला और स्थापत्य एवं प्रौद्योगिकी की स्थिति शामिल है।

## राज्य-व्यवस्था और प्रशासन

इस अवधि में जिन सरकारों की स्थापना हुई, वे काफी सुसंगठित थीं। इसका पता इस तथ्य से लगता है कि समय-समय पर होने वाले युद्धों के आघात और उत्तराधिकार के अनेक मामलों में विवाद उत्पन्न होने के बावजूद गुप्तों, चालुक्य और पल्लव राजाओं का शासन क्रमशः दो सौ वर्ष, चार सौ वर्ष और छः सौ वर्ष तक बना रहा। संचार के धीमे साधनों वाले उन दिनों में, यह सचमुच एक असाधारण बात है कि वे इतने लंबे काल तक, इतने विशाल राज्यक्षेत्रों को इकट्ठे रख सके। प्रशासन-तंत्र इन सभी मामलों में न्यूनाधिक रूप से एक-जैसा ही था, सिवाय इसके कि प्रशासन के अंगों और संघटकों में समय और स्थान के अनुसार थोड़ी-बहुत भिन्नता थी। हो सकता है कि पदाधिकारियों के नाम बदल गए हों, लेकिन उनके कार्य नहीं बदले।

पहले की तरह राज्य को प्रशासनिक सुविधा के लिए कई प्रांतों में विभाजित किया जाता था, जिन्हें उत्तर में *भुक्ति* और दक्षिण में *मंडल* अथवा *मंडलम्* कहा जाता था। तदनंतर प्रांतों का उप-विभाजन उत्तर में *विषय* अथवा *भोग* और दक्षिण में *कोट्टम* अथवा *वलनाडु* के रूप में किया जाता था। प्रशासन की अन्य इकाइयाँ अवरोही क्रम में इस प्रकार थीं: जिले *अधिष्ठान* अथवा *पट्टन* उत्तर में और *नाडु* दक्षिण में; ग्राम समूह अर्थात् आधुनिक तहसील, जिन्हें उत्तर में *वीथि* और दक्षिण में *पट्टल* और *कुर्रम* कहा जाता था। गाँव सबसे नीचे की प्रशासनिक इकाई था।

प्रशासन का काम चलाने के लिए अनेकानेक केंद्रीय, प्रांतीय और स्थानीय पदाधिकारी होते थे। गुप्तों ने प्रशासन के पुराने नौकरशाही रूप को जारी रखा, हालांकि यह अधिक विस्तृत रूप से संगठित था। *भुक्ति* का प्रशासक, जिसे *उपरिक* कहा जाता था, राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। वह बाद में *विषय* के प्रभारी अधिकारी को नियुक्त करता था, जिसे *विषयपति* कहा जाता था। गुप्त काल के शिलालेखों से *विषयपतियों* के कार्यों के बारे में बड़ी दिलचस्प जानकारी प्राप्त होती है। उनके मुख्यालय नगरों में होते थे, जहाँ उनके अपने अधिकारी होते थे और उनके प्रशासनिक कार्यों में उनकी सहायता के लिए चार सदस्यों वाले सलाहकार बोर्ड होते थे, जो विभिन्न अनुभागों का प्रतिनिधित्व करते थे; जैसे— (i) *नगरश्रेष्ठि* (व्यापारियों और बैंकरों की श्रेणी (गिल्ड) का प्रमुख) विशेष रूप से विशिष्ट गिल्ड का और सामान्य रूप से शहरी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता था, (ii) *सार्थवाह* (व्यापारियों के गिल्ड का प्रमुख) विभिन्न व्यापारिक समुदायों का प्रतिनिधित्व करता था, (iii) *प्रथमकुलिक* (शिल्पियों का प्रमुख) शिल्पियों की विभिन्न श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करता था, तथा (iv) *प्रथमकायस्थ* (मुख्य प्रतिलिपिक) जो कायस्थ अथवा आधुनिक समय के मुख्य सचिव जैसे, सरकारी पदाधिकारी का प्रतिनिधित्व करता था। इस निकाय को *अधिष्ठानाधिकरण* कहा जाता था।

इसी प्रकार प्रत्येक नगर की एक परिषद् होती थी। गाँव ग्रामीण निकायों के नियंत्रणाधीन होते थे, जिनमें गाँव का मुखिया और गाँव के बड़े-बूढ़े शामिल होते थे। इस काल में स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं, जैसे गाँव समितियों तथा जिला समितियों आदि का उल्लेखनीय रूप से विकास हुआ। यह बात देखने में आई है कि बहुत पुरातन काल से उनका अस्तित्व था। देश के विभिन्न भागों से प्राप्त उस काल के सैकड़ों शिलालेखों और साहित्य से इन संस्थाओं के स्वरूप और इनके क्रियाकलापों आदि के बारे में व्यापक जानकारी प्राप्त होती है। इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्राचीन भारतीयों ने कितना आश्चर्यजनक संगठन विकसित किया था। इस प्रकार के ग्रामीण प्रशासनों का चलन अभी भी बना हुआ है।

गुप्त राजाओं द्वारा अधिकारियों के दो नए वर्ग निर्मित किए गए। ये थेः *संधिविग्रहिक*—शांति और युद्ध का मंत्री, अर्थात् आधुनिक विदेश मंत्री, और *कुमारामात्य* — उच्चपदस्थ अधिकारियों का समूह, जिसका संबंध न केवल राजा से बल्कि युवराज से भी था और जिसे कई बार जिलों का प्रभारी बना दिया जाता था। महत्त्वपूर्ण अधिकारियों का एक अन्य वर्ग *आयुक्तों* का था, जो संभवतः वही है, जिनका उल्लेख अशोक के शिलालेखों और कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में *युक्तों* के रूप में किया गया है। यह देखने में आया है कि गुप्त काल में बहुत-से अधिकारियों के पदनामों से पहले *महा* विशेषण जोड़ दिया जाता था; जैसे— *महाप्रतिहार, महाबलाधिकृत* और *महादंडनायक* आदि।

इन सभी पदाधिकारियों और अधिकारियों की शक्तियों का निर्गम स्रोत राजा ही होता था, जिसकी सहायता युवराज द्वारा की जाती थी। यह राजाओं की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि का काल था। गुप्त राजाओं ने *महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर,* जैसी कई उपाधियाँ धारण की थीं। उदाहरणार्थ, इलाहाबाद के स्तंभ-लेख में समुद्रगुप्त की तुलना न केवल इंद्र, वरुण, कुबेर और यम आदि देवताओं के साथ की गई है, बल्कि उसका वर्णन 'पृथ्वी पर निवास करने वाले परमेश्वर' के रूप में किया गया है। इससे पूर्व काल में ऐसे नामों का उपयोग विदेशी मूल के राजाओं जैसे यूनानियों और कुषाणों द्वारा किया जाता था, भारतीय मूल के किसी राजा द्वारा कदापि नहीं। भारतीयों में गुप्त वंश के राजा ही ऐसे पहले शासक थे, जिन्होंने ऐसी गौरवपूर्ण उपाधियों को अपनाया।

किंतु उस काल के साहित्य में लोकप्रिय शासन के पुराने आदर्शों की मुक्त रूप से चर्चा की गई है। *स्मृतियों* में कहा गया है कि "राजा का निर्माण ब्रह्मा द्वारा प्रजा के सेवक के रूप में किया गया है जो अपने पारिश्रमिक के रूप में राजस्व लेता है" राजा को अपने मंत्रियों की सहायता से शासन चलाने और व्यवसाय संघों (गिल्ड) और निगम-निकायों के निर्णयों का आदर करने की सलाह दी गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में राजाओं की शक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक अंकुश लगा हुआ था राजाओं को सलाह दी गई थी कि वे विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से प्रजाजनों से संपर्क बनाए रखें। हर्ष ने अपने अधिकारियों के माध्यम से और व्यक्तिगत रूप से दौरे करके जनमत के साथ निरंतर संपर्क बनाए रखा था। इससे उसे प्रशासन की देखभाल करने का अवसर भी प्राप्त होता था।

हमें गुप्त राजाओं की सेना की संख्या-सूचक जानकारी प्राप्त नहीं है, जैसी कि हमें चंद्रगुप्त मौर्य और हर्ष की सेना की संख्या के बारे में जानकारी है। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के विजय-

अभियानों से इस बात की पुष्टि होती है कि राजाओं की अपनी स्थायी सेना थी। गुप्त राजाओं का वर्णन श्रेष्ठ महारथी योद्धाओं और अश्वारोहियों के रूप में किया जाता है और उनके सिक्कों (मुद्राओं) पर उनकी यह छवि अंकित है।

गुप्त काल प्राचीन भारत में विधि (कानून) और न्याय के प्रशासन के इतिहास का एक विशिष्ट काल था। इस काल में विधि-साहित्य के विपुल भंडार की रचना हुई, जो विधि-व्यवस्था में हुई विशिष्ट प्रगति का परिचायक है। उस काल के विधि-निर्माताओं ने पहली बार दीवानी और फौजदारी कानून (आपराधिक विधि) के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची। *बृहस्पतिस्मृति* में भूमि के अठारह प्रकार के अधिकार गिनाए गए हैं और यह कहा गया है कि इनमें से चौदह का मूल संपत्ति (*धनमूल*) है और चार का मूल क्षति (*हिंसामूल*) है। भूमि में निजी-संपत्ति (स्वामित्व) के बढ़ जाने के कारण जिसे धन के एवज में बेचा जा सकता था, हमें उस काल की विधि-पुस्तकों और शिलालेखों में भूमि के विभाजन, उसकी बिक्री, उसे बंधक रखने और भूमि की पट्टेदारी, आदि के बारे में विस्तृत विधियाँ मिलती हैं।

कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में करों की जो सूची दी गई है, वह गुप्त राजाओं के शिलालेखों में उपलब्ध सूची से कहीं अधिक बड़ी है। इससे शायद यह पता चलता है कि गुप्त काल में राज्य की समृद्धि के कारण कराधान का भार कम हो गया था। इस काल में आपातकालीन करों का कोई संकेत नहीं मिलता। भू-राजस्व नकदी और वस्तु, दोनों रूपों में उगाहा जाता था, जो उत्पाद के चौथे भाग से छठे भाग तक होता था। शिलालेखों में वर्णित विभिन्न अधिकारी राजस्व के निर्धारण संग्रह और भूमि के लेन-देन, आदि के उपयुक्त अभिलेख रखते थे।

## भाषा और साहित्य

यह काल भारतीय साहित्य का उज्ज्वल काल था, जिसमें काव्य, नाटक, व्याकरण अथवा गद्य सभी विधाओं ने उन्नति की। इस काल में जिस विलक्षण साहित्य भंडार की रचना हुई, वह उस काल की शिक्षा-प्रणाली का प्रत्यक्ष परिणाम था। *पुराणों* में, जिनकी संख्या अठारह है, उस काल की परंपराएँ, उपाख्यान, नैतिक संहिताएँ, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत और इतिहास सुरक्षित हैं। *स्मृतियाँ* छंदोबद्ध ग्रंथ हैं, जिनमें समाज के मार्गदर्शन और विनियमन के लिए नियम और विनियम दिए गए हैं। वे वैदिक साहित्य के *धर्मसूत्रों* और *गृह्यसूत्रों* पर आधारित हैं, लेकिन उन्हें समाज की बदलती हुई स्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए उनमें परिवर्धन और परिवर्तन किए गए हैं। वे पद्य में लिखित हैं। *स्मृतियों* पर टीका लिखने का दौर गुप्त काल के बाद शुरू हुआ।

*रामायण* और *महाभारत* के दो महाकाव्यों के संकलन का कार्य चौथी शताब्दी ई. तक पूरा हो चुका था। इस काल में अनेक प्रकार की बहुत-सी दार्शनिक कृतियों की रचना हुई; जैसे— *महायान* और बौद्ध विचारधारा की अन्य शाखाओं और शैव तथा वैष्णव मत की विभिन्न शाखाओं की दार्शनिक कृतियाँ।

काव्य रचना के क्षेत्र में कालिदास का नाम भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वोपरि है। उन्हें काव्य, नाटक और गद्य-लेखन के क्षेत्र में सर्वोत्तम पुस्तकों की रचना करने का श्रेय दिया जाता है। *मेघदूत, रघुवंश* और *कुमारसंभव* जैसी उसकी काव्य-रचनाएँ और *अभिज्ञानशाकुंतलम्* जैसे उसके नाटक विश्व की सर्वोत्तम साहित्यिक कृतियों में शामिल किए जाते हैं और संसार की अनेक भाषाओं में उनका अनुवाद किया गया है। कालिदास उज्जैन

के राजा विक्रमादित्य के दरबार की शोभा बढ़ाते थे; इस विक्रमादित्य की पहचान चंद्रगुप्त दि्वतीय से की गई। इस काल के कुछ शिलालेखों में भी संस्कृत काव्य की अधिकांश विशेषताएँ कुछ हद तक विद्‌यमान हैं। इलाहाबाद के स्तंभ पर हरिषेण का लेख, वत्सभट्टि दि्वारा रचित मंदसोर का शिलालेख, जूनागढ़ का शिलालेख, रविकीर्ति दि्वारा रचित ऐहोल शिलालेख आदि साहित्यिक अभिव्यक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

नाटक के क्षेत्र में भास, शूद्रक, कालिदास और भवभूति के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। शूद्रक *मृच्छकटिक* नाटक का रचयिता है। उसके नाटक की कथावस्तु एक ब्राह्मण और एक सुंदर वेश्या पुत्री के बीच प्रेम-प्रसंग पर आधारित है। इसे प्राचीन भारत के सर्वोत्तम नाटकों में स्थान प्राप्त है। विशाखदत्त ने *मुद्राराक्षस* और *देवीचंद्रगुप्तम्* नामक दो नाटक लिखे थे। ये दोनों सर्वाधिक प्रसिद्‌ध ऐतिहासिक नाटक हैं। *मालविकाग्निमित्रम्, अभिज्ञानशाकुंतलम्* और *विक्रमोर्वशीयम्* कालिदास दि्वारा लिखित तीन प्रसिद्‌ध नाटक हैं। भवभूति ने *उत्तररामचरित, मालती-माधव* आदि की रचना की थी।

गद्‌य के क्षेत्र में प्रारंभिक उल्लेखनीय कृतियों में दंडी दि्वारा लिखित *दशकुमारचरित* और सुबंधु दि्वारा लिखित *वासवदत्ता* हैं। एक सर्वाधिक प्रसिद्‌ध कथाग्रंथ *पंचतंत्र* है, जिसकी रचना विष्णु शर्मा ने की थी और जिसे आठवीं शताब्दी ई. में फारसी और अरबी में अनूदित किया गया था और तब से लगभग सभी यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद किया जा चुका है। *हितोपदेश* नामक लोकप्रिय कृति *पंचतंत्र* पर आधारित है। बाणभट्ट दि्वारा लिखित हर्ष की जीवनी *हर्षचरित* उस काल की एक उत्कृष्ट रचना है।

इस काल में पाणिनि और पतंजलि के व्याकरण ग्रंथों के आधार पर संस्कृत व्याकरण का भी विकास हुआ। भर्तृहरि दि्वारा रचित तीन *शतकों* का उल्लेख भी किया जा सकता है। भर्तृहरि को पतंजलि के *महाभाष्य* पर टीका लिखने का श्रेय भी दिया जाता है। यह काल चंद्रगुप्त दि्वतीय के राजदरबार के देदीप्यमान नक्षत्र अमर सिंह दि्वारा *अमरकोश* की रचना के लिए भी विशेष रूप से याद किया जाता है। संस्कृत सीखने वाले विद्‌यार्थी इस कोश को कंठस्थ करते हैं।

प्राकृत इस काल में भी उतनी ही लोकप्रिय थी, जितनी कि इससे पहले के काल में। श्वेतांबर जैन संप्रदाय के शास्त्र अर्ध-मागधी प्राकृत में और दक्षिण के दिगंबर जैन संप्रदाय के धार्मिक ग्रंथ महाराष्ट्री और सौराष्ट्री प्राकृतों में लिखे गए थे। बौद्‌ध ग्रंथों की टीकाएँ पालि भाषा में लिखी गई थीं। उस काल में पालि और प्राकृत व्याकरण की जो प्रसिद्‌ध पुस्तकें लिखी गईं, वे हैं : वररुचि दि्वारा लिखित *प्राकृतप्रकाश* और चंड दि्वारा लिखित *प्राकृतलक्षण*। पालि के व्याकरण की पुस्तक का नाम *कात्यायन-प्रकरण* है।

## तमिल साहित्य

इस काल के तमिल साहित्य में बहुत-सी ऐसी कृतियाँ शामिल हैं जो संगम काल की रचनाओं से मिलती-जुलती हैं। वैष्णव और शैव संतों के भक्ति गीतों की विशेषता है, भावों की सबलता तथा गंभीरता और साहित्यिक अभिव्यक्ति का सौंदर्य। *नायनार* संतों में तिरुमुलर का बहुत ऊँचा स्थान है। उनके दि्वारा रचित भक्ति गीतों का संकलन *ग्यारह तिरुमुराई* में किया गया था, जिन्हें भारतीयों दि्वारा अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। एक अन्य महत्वपूर्ण कृति में तिरसठ शैव संतों की जीवनियाँ दी गई हैं।

वैष्णव संत जिन्हें *आलवार* कहा जाता है, पारंपरिक रूप से बारह हैं। *नलयिरप्रबंधम्* के रूप में प्रसिद्ध उनकी कृतियों के संग्रह में 4000 पद हैं। इसे तमिल का सर्वाधिक पवित्र ग्रंथ माना जाता है और दक्षिण भारत के सभी प्रमुख मंदिरों में विशेष पर्वों के अवसर पर इसके समारोह आयोजित किए जाने से धार्मिक ग्रंथ-लेखन की भाषा के रूप में तमिल की स्थिति ऊँची हो गई।

## विदेशी विवरण

तीन महान चीनी यात्री फाहियान, ह्वेनसांग और इत्सिंग पाँचवीं और सातवीं शताब्दी ई. के बीच की अवधि में ज्ञान, पांडुलिपियों और अवशेषों की खोज में भारत आए। फाहियान चार अन्य भिक्षुओं के साथ चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया। उसने मध्य एशिया और कश्मीर के रास्ते से भारत में प्रवेश किया और संपूर्ण उत्तर भारत की यात्रा की। वह तीन वर्षों तक पाटलिपुत्र में रहा, जहाँ उसने संस्कृत सीखी। चूंकि उसकी रुचि केवल बौद्ध धर्म में थी, इसलिए उसके विवरण में अधिक राजनीतिक जानकारी नहीं है, लेकिन उसने उस काल में उत्तरी भारत का एक सामान्य विवरण दिया है। उसके विवरण से गुप्त काल में शांतिपूर्ण और कल्याणकारी वातावरण के विद्यमान होने का पता चलता है।

ह्वेनसांग हर्ष के शासनकाल में भारत आया। वह भारत में तेरह वर्ष (630-643 ई.) रहा, जिनमें से आठ वर्ष उसने हर्ष के साम्राज्य भी में बिताए। फाहियान की तरह ह्वेनसांग मध्य एशिया के रास्ते से भारत आया था, लेकिन उसने फाहियान के विपरीत, अपने यात्रा-विवरणों में उन विभिन्न भारतीय राज्यों का ब्योरा दिया है, जहाँ पर वह गया था। उसकी पुस्तक *'सि-यू-की'* प्राचीन भारतीय इतिहास का एक बहुमूल्य स्रोत है। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया, जो उस काल में एक सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित शिक्षा का केंद्र था। उसे कन्नौज के राजा हर्षवर्धन और असम के राजा भास्करवर्मन द्वारा सम्मानित किया गया था। उसने 657 बौद्ध ग्रंथों और 150 अवशेषों से लदे 20 घोड़ों के साथ भारत से प्रस्थान किया और उसने अपने जीवन के शेष वर्ष बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन और अनुवाद करने में बिताए। ह्वेनसांग ने चीन में बौद्ध धर्म के पाँव मजबूती से जमाने में और इन दो देशों के बीच सांस्कृतिक संबंध सुधारने में सर्वाधिक योगदान दिया।

ह्वेनसांग के उदाहरण से चीन के बौद्ध भिक्षुओं को बहुत बड़ी संख्या में भारत की यात्रा करने की प्रेरणा मिली। चीनी ग्रंथों में उन साठ भिक्षुओं की जीवनियाँ दी गई हैं, जिन्होंने सातवीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में भारत की यात्रा की थी। बाद में आए इन यात्रियों में सबसे महत्त्वपूर्ण इत्सिंग था। वह समुद्री मार्ग से भारत आया और भारत आते समय उसने कई वर्ष सुमात्रा और श्री विजय में व्यतीत किए, जहाँ उसने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। वह दस वर्ष नालंदा में रहा, जहाँ उसने बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन तथा अनुवाद किया और 400 संस्कृत पांडुलिपियों के साथ चीन लौटा। उसने बहुत-से ग्रंथों का अनुवाद किया और एक संस्कृत-चीनी कोश तैयार किया। अपनी पुस्तक—*भारत और मलय द्वीपसमूह में पालन किए जाने वाले बौद्ध धर्म का अभिलेख* में उसने इन दोनों देशों में बौद्ध धर्म और वहाँ की सामान्य स्थिति का विवरण दिया है।

## आर्थिक स्थिति

पिछले अध्यायों में यह दिखाया गया है कि गुप्त साम्राज्य की स्थापना से बहुत पहले, भारत ने कृषि, उद्योग और व्यापार की एक उन्नत प्रणाली विकसित कर ली थी। यह आर्थिक स्थिरता और समृद्धि उस सर्वांगीण सांस्कृतिक प्रगति का आधार बनी, जो गुप्त काल में हुई थी।

इस काल में कृषि-प्रणाली भली-भांति विकसित थी। बेहतर और अधिक कृषि उत्पादन के लिए वैज्ञानिक तरीके अपनाए जाते थे। *बृहत्संहिता* और *अमरकोश* में पौधों और उद्यानों, वनों, फसलों और खाद आदि के अध्ययन के लिए विशेष अध्याय शामिल हैं।

कच्ची सामग्री की प्रचुरता और शिल्पियों तथा कारीगरों के कौशल और उद्यमशीलता के कारण उद्योग की विभिन्न शाखाओं को पूर्व काल के उच्च स्तर पर बनाए रखा गया। साहित्यिक रचनाओं में वस्त्रों की विभिन्न प्रकार की सामग्रियों का उल्लेख है। इनमें सूत, रेशम, ऊन और लिनन शामिल हैं। ह्वेनसांग ने भारतीयों की वस्त्र-सामग्री को इन शीर्षों के अंतर्गत वर्गीकृत किया है— रेशम, सूत, लिनन, ऊन और बकरी के बाल। *अमरकोश* में बढ़िया अथवा बारीक और मोटी किस्मों के कपड़े के लिए और श्वेतित (ब्लीच्ड), अश्वेतित सिल्क और इस प्रकार के अन्य कपड़े के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले विभिन्न शब्दों का उल्लेख किया गया है। अजंता के भित्तिचित्रों से भी बुनाई की विभिन्न तकनीकों का पता चलता है। दशपुर, बनारस, मथुरा और कामरूप कपड़ा-उत्पादन के बड़े केंद्र थे। मंदसोर शिलालेख में सिल्क बुनकरों के संघों और उस काल के निगमों के क्रियाकलापों का ब्योरा दिया गया है। पहले की तरह, हाथीदाँत का काम भी फलता-फूलता रहा। भीटा की खुदाई में प्राप्त हुई एक मुद्रा (सील) से हाथीदाँत का काम करने वाले शिल्पियों के संघों के बारे में जानकारी मिलती है। चमड़ा उद्योग ने भी उन्नति की। समकालीन मूर्तियों और चित्रों में हमें चमड़े की बनी जूतियाँ और जूते दिखाई पड़ते हैं। आभूषण बनाने की कला भी उसी उन्नत अवस्था में थी, जैसी कि वह पहले के काल में थी। *बृहत्संहिता* में कम से कम बाइस रत्नों का उल्लेख है। *रत्न परीक्षा*, अर्थात् रत्नों को परखने की कला को वात्स्यायन द्वारा अपनी पुस्तक *कामसूत्र* में चौंसठ कलाओं में शामिल किया गया है। साहित्यिक साक्ष्यों और उस काल के विदेशी विवरणों से यह सिद्ध होता है कि इस काल में रत्नों का उपयोग अनेकानेक प्रयोजनों के लिए किया जाता था।

पहले की शताब्दियों की तरह तकनीकी विज्ञानों का उपयोग धातुओं के निर्माण के लिए किया जाता था। वात्स्यायन ने *रूपरत्नपरीक्षा, धातुवेद* और *मणिरागकरज्ञानम्* अर्थात् बहुमूल्य रत्नों की परख करने, धातुओं को गलाने और रत्नों की प्रौद्योगिकी, आदि का उल्लेख किया है। ह्वेनसांग के कथनानुसार, ताँबे, सोने और चाँदी का उत्पादन भारी मात्रा में होता था। गुप्त काल के सोने और चाँदी के सिक्के, मुद्राएँ (सील), महरौली का लौह स्तंभ, इस काल की कुछ मूर्तियाँ धातुकर्म के कुछ सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

जहाज-निर्माण एक अन्य बड़ा उद्योग था जो इस काल में काफी अधिक विकसित था, इससे व्यापार और संचार के क्रियाकलापों में सहायता मिलती थी।

इस काल में बहुत-से व्यवसाय संघ (गिल्ड) फले-फूले। *स्मृतियों* में भागीदारी, संविदा, गिल्ड के

गठन और अलग-अलग सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है एवं समकालीन साहित्य और शिलालेखों से इनकी पुष्टि होती है।

इस अवधि में विभिन्न व्यवसाय संघ नगर के प्रशासन में सक्रिय रूप से भाग लेते थे, जैसा कि मुद्राओं (सील) और शिलालेखों पर अंकित *श्रेष्ठि-कुलिक-निगम* और *श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम* शब्दों से पता चलता है। गुप्त काल और उसके बाद के काल के शिलालेखों में राजाओं और अन्य व्यक्तियों द्वारा दानस्वरूप दी गई धनसंपत्ति का उल्लेख है, जो व्यवसाय-संघों के पास जमा कराई गई थी, ताकि संबंधित व्यक्तियों को दया और धर्म के प्रयोजनों से नियमित रूप से दान दिया जा सके।

इन स्थायी पूर्त निधियों (धर्मदायों) से व्यवसाय-संघों द्वारा बैंकों के रूप में कार्य किए जाने का पता चलता है और व्यापारिक स्थिरता के रूप में उनकी स्थिर-स्थिति की पुष्टि होती है। इससे लोगों में अपना धन व्यवसाय संघों के पास सुरक्षित रूप से निवेश करने का विश्वास उत्पन्न होता था।

राज्य द्वारा और व्यवसाय संघों द्वारा भी सार्वजनिक निर्माण-कार्य हाथ में लिए जाते थे और संपन्न किए जाते थे। इस संबंध में सुदर्शन झील पर बने बाँध और उससे संबंधित नहर प्रणाली की मरम्मत के कार्य का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है, जो सौराष्ट्र प्रांत में स्कंदगुप्त के शासनकाल में प्रांत के राज्यपाल पर्णदत्त और उसके पुत्र चक्रपालित द्वारा संपन्न कराया गया था। कुछ अन्य कार्य थे : लोक स्वास्थ्य में सुधार करने के उपाय, सड़कों और पुलों का निर्माण, संचार-व्यवस्था में सुधार, बड़े और छोटे उद्योगों की स्थापना और खानों का संचालन आदि। लोक कल्याण के विभिन्न अन्य कार्यों, जैसे शिक्षा के लिए भी अन्य अनेक धर्मस्व निधियाँ थीं।

इस समूचे काल में व्यापार और वाणिज्य में खूब उन्नति हुई। एक ओर भारत तथा पूर्वी देशों और दूसरी ओर भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच स्थल-मार्गों और समुद्रतटीय मार्गों, दोनों के ज़रिए व्यापार किया जाता था।

इस काल के दौरान भारत ने श्रीलंका, फारस, अरब देशों, बाइजेंटाइन साम्राज्य, अफ्रीका और इसके आगे पश्चिम के देशों के साथ समुद्री यातायात के संबंध बनाए रखे। पूर्वी भाग में भारत ने चीन, बर्मा और दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ वाणिज्यिक संबंधों का विस्तार किया।

व्यापार की महत्त्वपूर्ण चीजें ये थीं : रेशम, विभिन्न किस्मों के मसाले, कपड़ा, धातुएँ, हाथीदाँत, समुद्री उत्पाद आदि। ताम्रलिप्ति, अरिकामेडु, कावेरीपट्टिनम्, बारबेरिकम, मुजीरिस, प्रतिष्ठान, सोपारा और भृगुकच्छ उस काल के महत्वपूर्ण समुद्री पत्तन थे। अंतर्देशीय मार्गों द्वारा वे देश के सभी भागों से भली-भांति जुड़े हुए थे।

व्यापार और वाणिज्य में बहुत वृद्धि हुई। इससे देश अत्यंत धनवान हो गया और भारत की समृद्धि की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। फाहियान के अनुसार पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'मध्य राज्य' के लोग समृद्ध और सुखी थे। ह्वेनसांग ने भी भारत में शांति और धन-धान्य की प्रचुरता का ऐसा ही वर्णन किया है। उसने लिखा है कि "दूरस्थ क्षेत्रों की दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओं का यहाँ पर भारी मात्रा में भंडार है।" साहित्यिक विवरणों में नगर, आवास-गृहों, विलास-वस्तुओं, आभूषणों, धन-संपत्ति आदि के वर्णन से जीवनयापन के उच्च स्तर और शहर के सुख-सुविधापूर्ण जीवन का प्रमाण मिलता है।

किंतु कुछ इतिहासकारों का विचार है कि गुप्त वंश के समय से भारत में सामंतवाद का उदय प्रारंभ हुआ। इसके लिए वे ब्राह्मणों, मंदिरों, विहारों, मठों और अन्य संस्थाओं को दान में दी गई भूमि के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इस मत का समर्थन करने वाले विद्वानों के अनुसार भूमि के अनुदानों के परिणामस्वरूप भूमि में बिचौलियों और भूमिपतियों अथवा जमींदारों का उदय हुआ, जिनकी स्थिति की तुलना यूरोप के सामंतवादी भूमिपतियों से की जा सकती है। इन विद्वानों का यह भी विचार है कि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में सामान्य रूप से गिरावट आई और सिक्के दुर्लभ हो गए। इन सभी बातों के कारण अर्थव्यवस्था और राज्य दोनों ही दुर्बल हो गए और यूरोप की भांति भारत में सामंतवाद का जन्म हुआ।

लेकिन, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में कहीं भी गिरावट आने की बात सच प्रतीत नहीं होती। हमने विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक संबंध विद्यमान होने के प्रमाण देखे हैं, जिसके बारे में भारतीय, चीनी और अरब स्रोतों में भारी मात्रा में साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। उस समय चहुँमुखी समृद्धि थी।

नागरिक और वाणिज्यिक केंद्रों की संख्या में कोई ह्रास नहीं हुआ था और न ही सिक्कों का कोई अभाव था। कुछ इतिहासकारों ने कई राजवंशों द्वारा दिए गए भूमि-अनुदानों से संबंधित शिलालेखों का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने राज्य के कुल भू-क्षेत्र के अनुपात में भूमि-अनुदानों में दिए गए क्षेत्र का मात्रात्मक अध्ययन किया है। इस अध्ययन से पता चलता है कि भूमि-अनुदान के रूप में दिया गया कुल क्षेत्र राज्य के कुल भू-क्षेत्र का 0.017 प्रतिशत से 0.026 प्रतिशत तक था।

इसके अलावा, यूरोप में जिसके साथ भारत की तुलना की गई है, भूमि-अनुदान प्राप्त करने वाले व्यक्ति यानी जागीरदार (फीफ) के लिए राजा को सैनिक सेवा प्रदान करना, वार्षिक उपहार देना, वित्तीय सहायता आदि देना जरूरी था, और उसे नियमित रूप से राजा के दरबार में हाजिर होना पड़ता था। भारत में स्थिति यह नहीं थी। पहली बात तो यह है कि यह यूरोपीय अर्थों में दिया गया भूमि-अनुदान नहीं था। वास्तव में आदाता का दाता के प्रति कोई दायित्व नहीं था, सिवाय इसके कि अनुदान का प्रयोग उस प्रयोजन के लिए किया जाना था, जिसके लिए वह दिया गया था।

विभिन्न धर्मार्थ संस्थाओं और ब्राह्मणों को शैक्षिक संस्थाओं का संचालन करने के लिए जो भूमि-अनुदान दिए जाते थे, वे नियमित और आवश्यक व्यय को पूरा करने के लिए शायद ही कभी पर्याप्त होते थे। अनुदान में दी गई भूमि का क्षेत्र और उससे होने वाली आय इतनी कम होती थी कि उस पर राज्य की शायद ही कभी नजर जाती होगी। इसलिए बहुत से अन्य इतिहासकारों का यह सोचना ठीक ही है कि धर्मार्थ प्रयोजनों के लिए दिए गए इन भूमि-अनुदानों की तुलना यूरोप के सामंतवादी अनुदानों से नहीं की जानी चाहिए। धर्मार्थ प्रयोजनों के लिए भूमि का अनुदान देने की परंपरा मध्य काल में भी जारी रही। इसे *मदद-इ-माश, सूयरघाल, दूध* और *इदरार* कहा जाता था। वास्तव में मध्य काल में इन शीर्षों के अंतर्गत व्यय बढ़कर राज्य की कुल आय का 5 प्रतिशत तक हो गया था।

## धर्म

बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म जैसे धर्मों का विकास और विदेशों में उनका प्रचार इन धर्मों के मूल देश की

उच्च स्तर की परिपक्वता का परिचायक है। यद्यपि गुप्त, चालुक्य, पल्लव और अन्य राज्यवंश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, लेकिन उन्होंने अपने धर्म को कभी भी अपने साम्राज्य के धर्म के रूप में आरोपित नहीं किया। उन्होंने बौद्ध और जैन धर्मों सहित सभी धर्मों के संवर्धन को समान रूप से प्रोत्साहन दिया।

## बौद्ध धर्म

साँची, सारनाथ, गया, नालंदा बौद्ध धर्म के महान केंद्र बने रहे। बौद्ध धर्म न केवल भारत में अपितु चीन, श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया में भी बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया। इन देशों के तीर्थ यात्री और विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में इस काल में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए भारत आए। इनमें से कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति थे : फाहियान, ह्वेनसांग और इत्सिंग। इन सबने बौद्ध धर्म की उन्नत स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और बौद्ध विहारों की संख्या और इन विहारों में रहने वाले विद्यार्थियों की संख्या आदि की जानकारी दी। श्रीलंका के राजा ने समुद्रगुप्त से गया में बौद्ध यात्रियों के लिए विश्राम गृह बनाने का अनुरोध किया था। इस काल में बहुत बड़ी संख्या में चैत्य, स्तूप और विहार बनाए गए। नालंदा, वलभी और कांचीपुरम शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गए। इस काल में बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म की अनेक बातों को आत्मसात् कर लिया और ब्राह्मण धर्म ने भी बौद्ध धर्म की कुछ मूल शिक्षाओं को अपना लिया।

## जैन धर्म

जैन धर्म ने इस काल के दौरान काफी प्रगति की। कुछ चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग और कदंब राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। यह पश्चिमी भारत के व्यापारिक समुदायों में लोकप्रिय बना रहा। छठी शताब्दी ई. में वलभी में द्वितीय जैन परिषद् का आयोजन हुआ और इसके बाद जैन धर्म के सिद्धांतों की परिभाषा उस रूप में की गई, जिस रूप में आज उनका अस्तित्व है।

## हिंदू धर्म

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों ने ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धांत को या तो नकार दिया या चुपचाप उसे नजरअंदाज कर दिया, किंतु वैदिक धर्म के अंदर एक ऐसी धार्मिक विचार-प्रणाली का जन्म हुआ जो एक अल्पावधि में ही काफी लोकप्रिय हो गई। यह प्रणाली



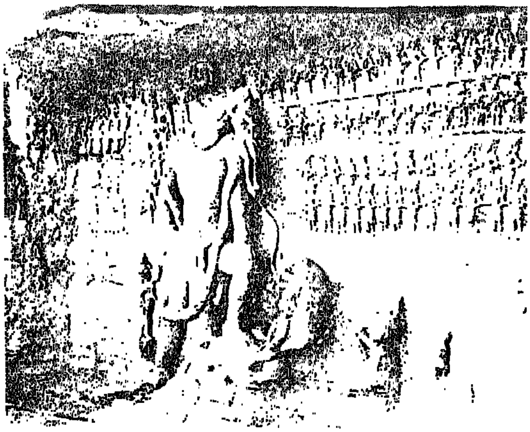
*आकृति 19.1* जैन तीर्थंकर

विष्णु, शिव, शक्ति और किसी अन्य रूप में परमेश्वर की धारणा पर आधारित थी। मोक्ष की प्राप्ति केवल उस परमेश्वर के प्रसाद अथवा उसकी कृपा से ही संभव थी और उसकी कृपा केवल भक्ति द्वारा अर्थात् असीम प्रेम तथा भक्ति-भाव और अंततः उस परमेश्वर के प्रति संपूर्ण आत्मसमर्पण करके ही प्राप्त हो सकती थी। इस नई प्रणाली के मुख्य वाहक थे : भागवत धर्म (जिसे बाद में वैष्णव धर्म कहा जाने लगा था), शैव धर्म और शाक्त धर्म।

वैदिक धर्म के तीन महत्त्वपूर्ण पहलुओं ने इस काल में एक निश्चित रूप धारण कर लिया था। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उपासना-पूजा की केंद्र बन गईं और अब यज्ञ की अपेक्षा, दान पर अधिक बल दिया जाने लगा, हालांकि मूर्तियों को भेंट चढ़ाना कर्मकांड का मुख्य अंग बना रहा। इससे भक्ति को प्रोत्साहन मिला, जहाँ किसी देवता की पूजा करना व्यक्ति का बड़ा कर्तव्य बन गया। इस मत के अनुयायियों ने जीवन के चार परम लक्ष्यों की परिभाषा पुरुषार्थ के रूप में की— धार्मिक और सामाजिक नियम *(धर्म)*, आर्थिक कल्याण *(अर्थ)*, आनंद *(काम)* और आत्मा की मुक्ति *(मोक्ष)*।

### वैष्णव धर्म

वैष्णव धर्म का आशय जैसा कि उसके नाम से प्रकट होता है, उस धर्म से है, जिसमें परमेश्वर के रूप में विष्णु की पूजा और भक्ति की जाती है। मूलतः इसमें एक परम ईश्वर अर्थात् देवाधिदेव, जिसे हरि कहा जाता था, की धारणा पर बल दिया गया था और यज्ञ, तपस्या के पुराने तरीकों के स्थान पर भक्ति के द्वारा उसकी पूजा करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। निस्संदेह, इसमें यज्ञ करने की प्रथा अथवा वैदिक साहित्य को, जिसमें यह प्रथा



***आकृति 19.2*** *उदयगिरि में वराहावतार का चित्र*

विहित की गई है, नकारा नहीं गया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली ने रूढ़िवादी धार्मिक सिद्धांतों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की अपेक्षा अधिक सुधार करने का प्रयत्न किया था।

वैष्णव धर्म भागवत धर्म के *वासुदेव* संप्रदाय पर केंद्रित था, जिसमें वासुदेव कृष्ण को वैदिक देवता विष्णु का रूप माना जाता है।

इस काल में वैष्णव धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी : विष्णु के अवतारों की पूजा। यह विश्वास किया जाता था कि जब भी धर्म पर संकट आता है, तब विष्णु धरती और मानव जाति की रक्षा के लिए उपयुक्त रूप में प्रकट होते हैं। इस काल के शिलालेखों और साहित्यिक अभिलेखों में अवतारों के उद्भव पर प्रकाश डाला गया है, जिसका मूल परवर्ती वैदिक साहित्य में ढूंढ़ा जा सकता है।

इन अवतारों की संख्या और इनके स्वरूप अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग दिए गए हैं। धीरे-धीरे दस अवतारों की धारणा अधिक लोकप्रिय होती गई। इन अवतारों के माध्यम से हमें धरती पर जीवन के जैविक एवं ऐतिहासिक विकास के क्रम का

पता चलता है। ये अवतार हैं : मत्स्य, कूर्म, वराह, *नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध* और *कल्कि* (जो अवतरित होने वाला है)। इनमें से कृष्ण विष्णु का सबसे अधिक लोकप्रिय अवतार था, क्योंकि कृष्ण के जीवन के बहुत-से पहलुओं का आधुनिक वैष्णव धर्म में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस काल में वैष्णव धर्म की एक विशेषता थी, विष्णु की पत्नी के रूप में लक्ष्मी अथवा श्री की परिकल्पना। लक्ष्मी को धन-संपन्नता एवं समृद्धि की देवी माना जाता है। गुप्त राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और अपने आपको परम भागवत कहते थे। विष्णु के उपासकों के रूप में गुप्त राजाओं ने अपने सिक्कों पर उनके वाहन गरुड़, देवी लक्ष्मी और चक्र के चित्रों को अंकित किया।

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म काफी लोकप्रिय हो गया और वैष्णव भक्तों को *आलवार* कहा जाता था। उनके तमिल गीतों में भावों की इतनी गहराई और सच्ची धर्मपरायणता है कि उन्हें वैष्णव वेद कहा जाता है। ये गीत दक्षिण भारत में अत्यंत लोकप्रिय हैं और उनके रचनाकारों को अत्यंत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। उनकी मूर्तियों को विष्णु और उसके विभिन्न अवतारों की मूर्तियों के साथ पूजा जाता है।

## शैव धर्म

शैव धर्म का मूल ऋग्वेद में रुद्र की धारणा में ढूंढा जा सकता है। हड़प्पा की सभ्यता में शिवलिंग की पूजा से भी शैव धर्म के अति प्राचीन होने का पता चलता है। रुद्र प्रकृति के विनाशकारी और अपकारी तत्वों का द्योतक है। हमें ऋग्वेद के समय सेउपनिषदों के काल तक रुद्र की पूजा के विकास की झलक मिल सकती है। *केन उपनिषद* में शिव और उसकी पत्नी उमा की स्तुति सर्वोच्च देवों के रूप में की गई है।

शिव की पूजा पहले किसी विशेष संप्रदाय द्वारा नहीं, बल्कि वैदिक काल के आम लोगों द्वारा की जाती थी। शैव संप्रदाय के अस्तित्व की खोज काफी पहले अर्थात् दूसरी शताब्दी ई.पू. में की जा सकती है। यह संभव है कि शैव पंथ अथवा मत की औपचारिक स्थापना भागवत संप्रदाय का अनुकरण करके की गई हो। शैव संप्रदाय को पहले लकुल, पाशुपत अथवा महेश्वर कहा जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक संप्रदाय के रूप में शिव की पूजा का तेजी से विस्तार कुषाण काल के बाद हुआ। छठी शताब्दी ई. तक शैव धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया और दक्षिण भारत तक फैल गया और पाँचवीं शताब्दी से यह अनमान और कंबोडिया का सबसे प्रमुख धर्म बन गया। सातवीं शताब्दी ई. के पूर्वार्ध में ह्वेनसांग ने यह देखा कि शैव संप्रदाय के अनुयायी पश्चिम में बलूचिस्तान तक फैले हुए हैं।

दक्षिण भारत में बहुत-से संतों ने, जिन्हें नायनार कहा जाता था, उच्चतम धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत गीतों की रचना की और एक सुदृढ़ आधार पर शैव धर्म की स्थापना की। इन संतों की संख्या आम तौर पर 63 बताई जाती है और उनके द्वारा रचित भक्ति गीतों का पठन-गायन आज भी व्यापक रूप से अत्यंत आदर भाव के साथ किया जाता है।

लिंगायत दक्षिण भारत में शैव धर्म का एक अन्य संप्रदाय था, जिनके दर्शन पर शंकर और रामानुज दोनों का प्रभाव पड़ा था। लिंगायतों ने लिंग और नंदि की पूजा को प्रधानता दी।

शैव संप्रदाय दक्षिण में राष्ट्रकूटों और चोलों के संरक्षण में बहुत लोकप्रिय हो गया तथा भव्य मंदिरों

और मठों से आज भी उसके पूर्व वैभव का प्रमाण मिलता है। पाल राजवंश के बौद्ध राजाओं ने पाशुपत संप्रदाय के लिए शैव मंदिरों की स्थापना की।

इस काल में जो अन्य संप्रदाय लोकप्रिय बने, वे हैं : शाक्त, कार्तिकेय और गणपति।

मातृ-शक्ति की पूजा भारत में प्रागैतिहासिक काल से होती रही है। गुप्त काल में देवी दुर्गा, काली और पार्वती को, अपने पुरुष प्रतिरूप की शक्ति अथवा पौरुष के रूप में, शक्ति का पर्याय माना जाता था। इन देवियों की पूजा देवताओं की पत्नियों के रूप में की जाती थी और ये लक्ष्मी, अन्नपूर्णा और सरस्वती के अपने उपकारी रूपों में मनुष्यों के जीवन में बड़ी सक्रिय और सकारात्मक भूमिका निभाती थीं। अर्धनारीश्वर, अर्थात् आधे शिव और आधी पार्वती की मूर्ति, परमेश्वर और उसकी शक्ति के मिलन की द्योतक थी, यह इस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। शिव और शक्ति की पूजा उनके उपकारी और रौद्र दोनों रूपों में की जाती थी।

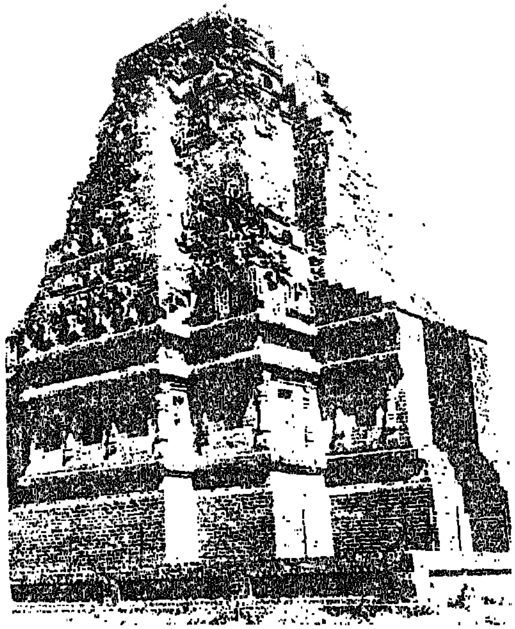
वेदों के अनेक शौर्य देवताओं का विलय एक देवता के रूप में कर दिया गया, जिसे आमतौर पर सूर्य कहा जाता था। इस काल में उत्तर और दक्षिण भारत में सूर्य देवता को समर्पित अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया। कुमारगुप्त प्रथम के काल के मंदसोर स्थित शिलालेख में बुनकरों के व्यवसाय संघ द्वारा सूर्य मंदिर का निर्माण और उसकी मरम्मत किए जाने का उल्लेख है।

महाकाव्यों में और पौराणिक कथाओं में कार्तिकेय और गणपति का वर्णन आमतौर पर शिव और पार्वती के दो पुत्रों के रूप में किया गया है। कार्तिकेय युद्ध का देवता था, जिसे कुमार, स्कंद और सुब्रह्मण्य के नाम से जाना जाता था और गणपति अथवा गणेश का अभिनंदन अथवा उसकी पूजा प्रत्येक हिंदू द्वारा देवताओं में सबसे पहले की जाती है। उसे विघ्नेश्वर (बाधाओं को दूर करने वाला) माना जाता है।

## कला और स्थापत्य

देश की आर्थिक समृद्धि और संपन्नता के परिणामस्वरूप मूर्तिकला, स्थापत्य और चित्रकला के क्षेत्र में चहुँमुखी विकास हुआ। इस काल में पत्थरों से मंदिरों के निर्माण के बारे में लिखे गए ग्रंथों में निर्माण संबंधी नियमों का सूक्ष्म विवरण दिया गया था, जिनका शिल्पकारों द्वारा निष्ठापूर्वक अनुसरण किया जाता था।

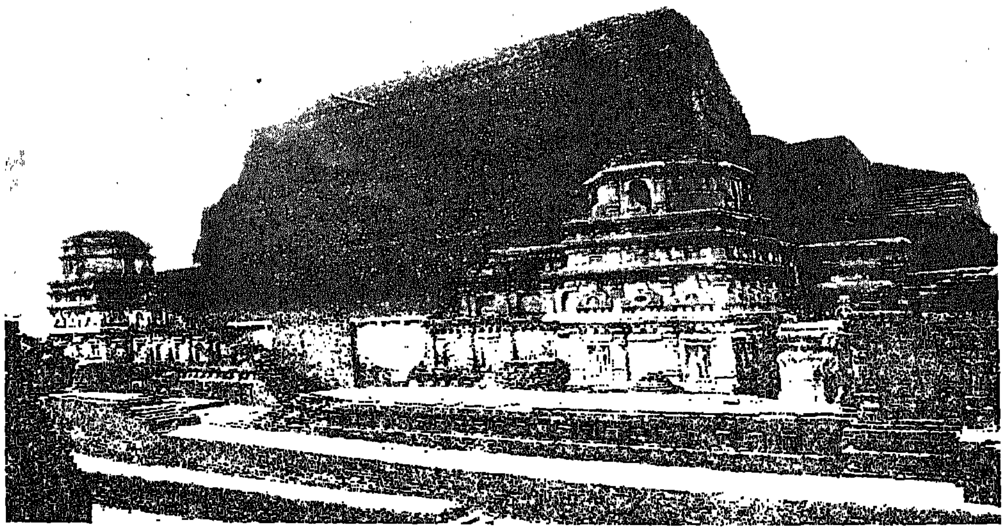
गुप्त काल में और गुप्तोत्तर काल में गुफाओं की खुदाई की जाती रही। दक्कन में कुछ सर्वोत्तम शैलकृत गुफाओं का निर्माण किया गया। विदिशा के निकट उदयगिरि में नौ गुफाएँ हैं। ये अंशतः शिलाएँ काट कर बनाई गई हैं और अंशतः पत्थर- निर्मित हैं। इन गुफाओं से रूपांकन (डिजाइन) में हुई क्रमिक उन्नति का परिचय मिलता है और इनमें शैलकृत और संरचनात्मक रूपांकनों के मिले-जुले पहलुओं की जानकारी प्राप्त होती है। अजंता की गुफाएँ, जिनमें पुरानी गुफाओं की मूल विशेषताओं को बरकरार रखा गया है, स्थापत्य का एक नया नमूना प्रस्तुत करती हैं। इनमें विभिन्न डिजाइन और आकार वाले अत्यंत सुंदर स्तंभ हैं और इनकी आंतरिक दीवारों और छतों को सुंदर चित्रों से सजाया गया है। एक अन्य समूह बाघ-स्थित गुफा-शृंखला का है, हालांकि ये गुफाएँ स्थापत्य कला की दृष्टि से साधारण हैं, लेकिन ये अपने चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। शैलकृत विहारों और चैत्य कक्षों का एक अन्य उल्लेखनीय समूह एलोरा की गुफाओं का है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन गुफाओं में विकास के अंतिम दौर का परिचय प्राप्त होता है। कैलाश मंदिर



आकृति 19.3 भीतरगाँव मंदिर

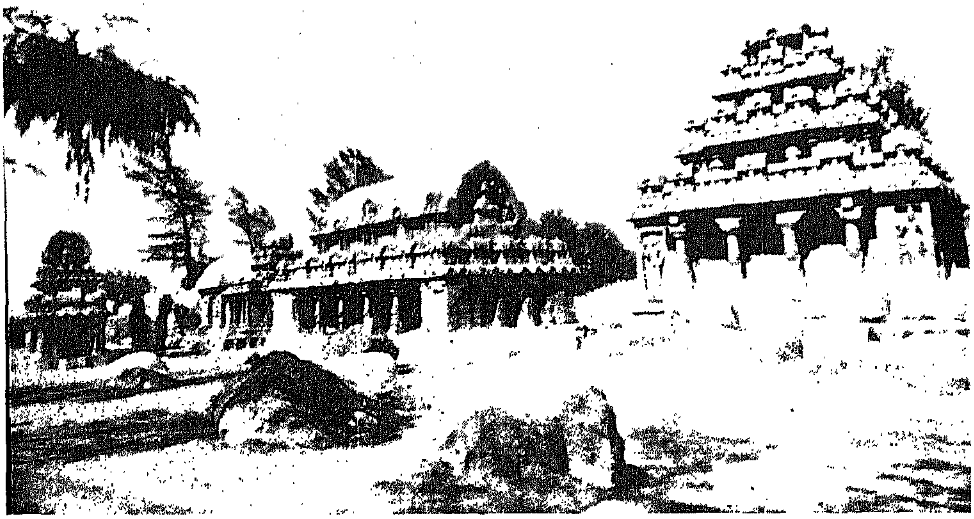
के लिए पहाड़ी के एक तरफ के पूरे खंड की कटाई की गई थी और उसका निर्माण एक भव्य एकाश्मीय मंदिर के रूप में किया गया था, जिसमें एक बहुत बड़ा कक्ष (हाल) था और बारीक नक्काशी वाले स्तंभ थे। मामल्लपुरम् में बहुत-से स्तंभों वाले बड़े-बड़े कक्षों और सात एकाश्मीय मंदिरों का, जिन्हें सामान्यतया *रथ* कहा जाता है, निर्माण पल्लव राजा महेंद्रवर्मन और नरसिंहवर्मन द्वारा सातवीं शताब्दी ई. के दौरान किया गया था। ये *रथ* पर्वत काट कर निर्मित विशाल संरचनात्मक मंदिरों के पूर्ण नमूने हैं।

इस काल में विहारों और स्तूपों का निर्माण भी किया गया। विहार रूपी संस्थाओं ने, जो शिक्षा के केंद्र भी थे, विशाल आकार धारण कर लिया; इनमें विभिन्न प्रकार की इमारतों के समूह शामिल होते थे। अधिक प्रसिद्ध केंद्र बोध गया, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती, कांची और नालंदा में स्थित थे।

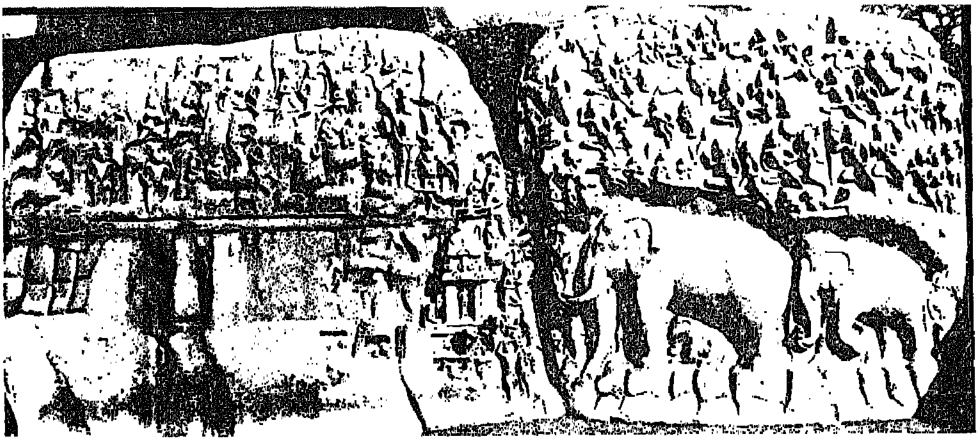


आकृति 19.4 नालंदा स्थित महास्तूप के अवशेष

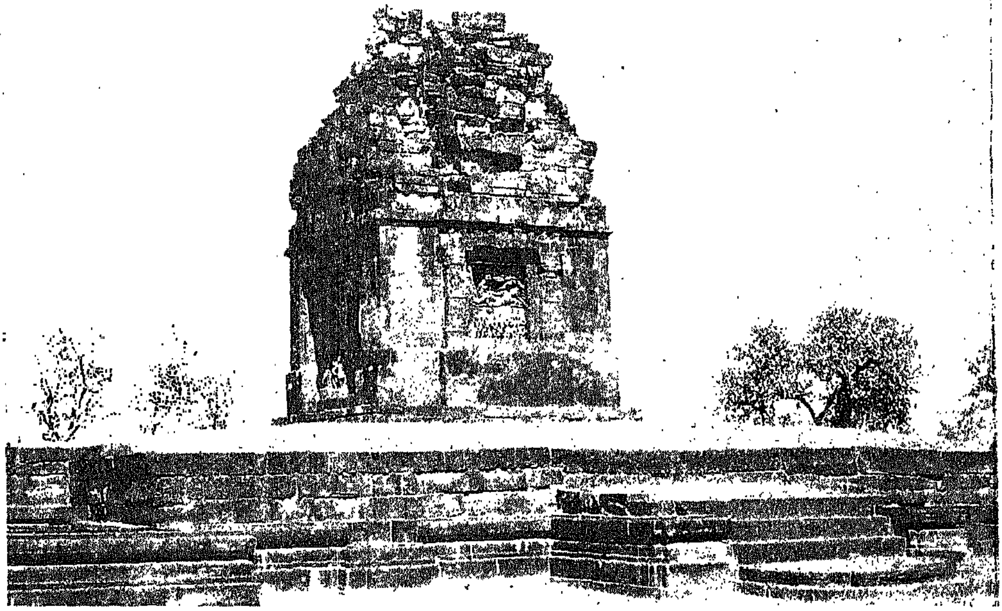
नालंदा विश्वविद्यालय का विकास लगभग पाँचवीं शताब्दी ई. के समय से एक अत्यंत प्रतिष्ठित संस्थान के रूप में हुआ। ह्वेनसांग ने नालंदा महाविहार के महान मंदिरों, विहारों और पुस्तकालय की इमारतों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस काल में विशिष्ट रूपों और शैलियों वाले संरचनात्मक मंदिरों के विकास से संबंधित एक नए युग का भी सूत्रपात हुआ। छोटे, चपटी छत वाले मंच (प्लेटफार्म) प्रारंभिक गुप्त



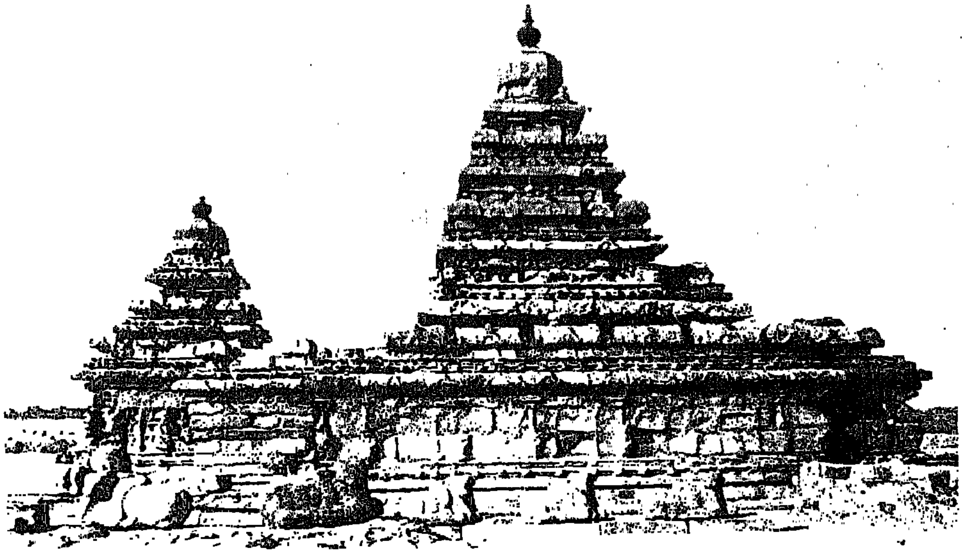
*आकृति 19.5 (अ) मामल्लपुरम् स्थित रथ*



*आकृति 19.5 (ब) रथों पर नक्काशी का काम*



*आकृति 19.6* देवगढ़ का मंदिर



*आकृति 19.7* मामल्लपुरम् में समुद्रतट स्थित मंदिर

काल की विशेषताएँ हैं। साँची का छोटा, किंतु सुंदर मंदिर संख्या 17, तिगवा का कंकाली मंदिर और मध्य प्रदेश में एरण और नचना, कुठारा स्थित विष्णु और वराह के मंदिर प्रारंभिक मंदिर स्थापत्य के बढ़िया उदाहरण हैं। धीरे-धीरे इन मंदिरों की छतों पर शिखरों का निर्माण होने लगा और इस प्रथा को समूचे देश में अपना लिया गया। इस शैली के दो सर्वोत्तम उदाहरण हैं, कानपुर में भीतरगाँव का ईंटों का मंदिर और देवगढ़ में दशावतार मंदिर; ये दोनों स्थान उत्तर प्रदेश में हैं।



*आकृति 19.8* बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा, सारनाथ

गर्भगृह, जिसमें देवमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थीं, के ऊपर की संरचना शिखर के आकार की दृष्टि से दो विशिष्ट शैलियों अर्थात् उत्तर भारतीय शैली (नागर शैली) और दक्षिण भारतीय शैली (द्रविड़ शैली) का विकास हुआ। ऐहोल, बादामी और पट्टडकल में दोनों शैलियों के मंदिर पाए जाते हैं।

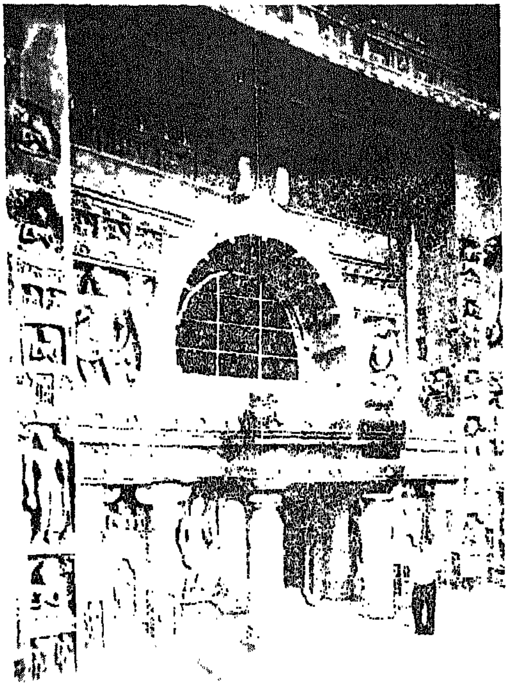
द्रविड़ शैली के मंदिरों के प्रारंभिक उदाहरण हैं, मामल्लपुरम् का शैलकृत मंदिर, जिसे धर्मराज *रथ* कहा जाता है, और कांची में स्थित संरचनात्मक मंदिर, जिन्हें कैलासनाथ और बैकुंठ पेरूमल कहा जाता है। ये सारे मंदिर पल्लव राजाओं द्वारा बनाए गए थे।

## मूर्तियाँ

मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्त काल में कला का उच्चतम विकास हुआ। इस काल को 'गौरव काल' कहा जाता है, क्योंकि इस काल में आध्यात्मिकता, आदर्शवाद और कला का सर्वोत्तम सम्मिश्रण हुआ।

सारनाथ और अन्य स्थानों पर बुद्ध की जो अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं, उनसे बौद्ध कला के पूर्णतः विकसित रूप का परिचय मिलता है। ये मूर्तियाँ उत्तरवर्ती काल के लिए आदर्श मानी जाने लगीं। उनमें गरिमा तथा सुरुचि और कोमलता तथा प्रशांति के एक साथ दर्शन होते हैं और वे तकनीक की परिपूर्णता और सर्वोच्च आध्यात्मिक संकल्पना की अभिव्यक्ति का अतुलनीय सम्मिश्रण हैं, जिनसे वे कलाकृतियाँ अत्यंत उत्कृष्ट बन गई हैं।

ब्राह्मण धर्म के देवताओं की मूर्तियों में भी कला के इस उच्च स्तर को सामान्यतः बनाए रखा गया था, जिसका पता देवगढ़ मंदिर और अन्य स्थानों के तक्षित फलकों में शिव, विष्णु और अन्य देवताओं की मूर्तियों से लगता है। इन देवमूर्तियों में न केवल सौंदर्य और आकर्षण है, बल्कि उनमें एक



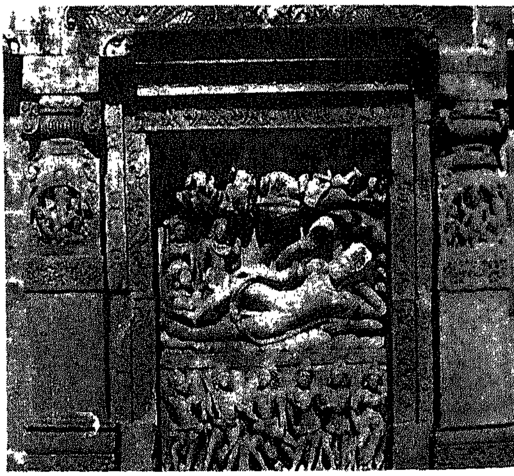
*आकृति 19.9 अजंता की गुफा-19*

कांतिमय आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की झलक मिलती है।

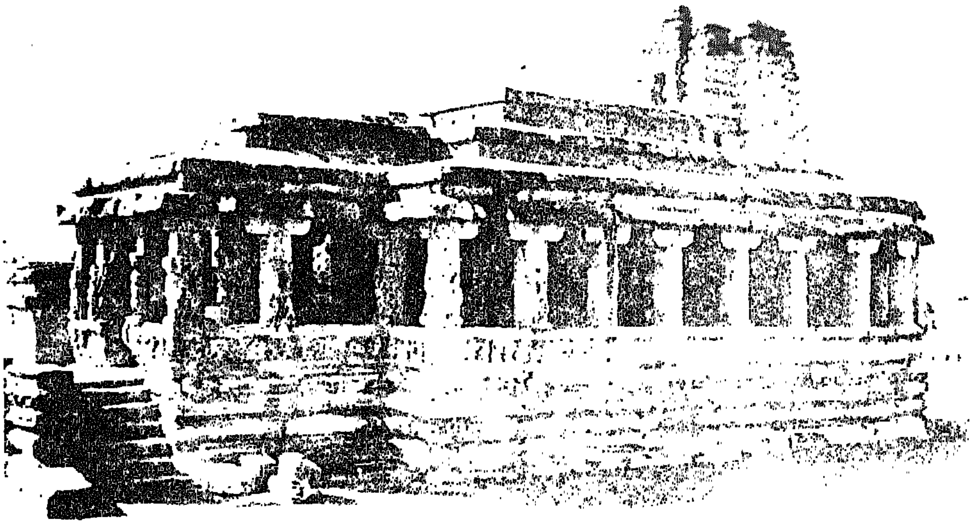
गुप्त काल के कलाकार और शिल्पकार धातुओं के कार्य में भी कम पारंगत नहीं थे। दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट स्थित लौहस्तंभ धातुकर्म के कौशल और प्रौद्योगिकी का एक चमत्कार है। बड़े पैमाने पर ताँबे की मूर्तियाँ, सिक्के और ताँबे की मोहरें, आदि गढ़ने की कला से धातुकर्म के उच्च स्तर की जानकारी मिलती है। नालंदा (बिहार) में बुद्ध की 80 फुट ऊँची ताँबे की एक मूर्ति बनाई गई थी और सुल्तानगंज की बुद्ध प्रतिमा जो 7.5 फुट ऊँची है, बरमिंघम संग्रहालय में आज भी देखी जा सकती है। सिक्कों की ढलाई बारीकी से की जाती थी और साँचों पर बड़े ध्यान से खुदाई की जाती थी। ताँबे की प्लेटों से जुड़ी मुद्राएँ (सील) भी उत्कृष्ट कारीगरी की बढ़िया मिसाल हैं।

**चित्रकला**

भारत में चित्रांकन की परंपरा का मूल भीमबेटका, मिर्जापुर और विभिन्न अन्य स्थानों पर पाए गए प्रागैतिहासिक शैलकला चित्रों में खोजा जा सकता है। साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर भी इस बारे में कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि भारत में चित्रकला की साधना बहुत प्राचीन समय से की जा रही थी। चित्रों का प्रयोग दीवारों को सजाने के लिए किया जाता था। भारत में चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण अजंता और बाघ की गुफाओं में मिलते हैं। ये चित्र पहली और सातवीं शताब्दी ई. के बीच बनाए गए थे। अजंता की 29 गुफाओं में से 16 गुफाओं में चित्रों के चिह्न देखे जा सकते हैं। अजंता में गुफाओं की सतह को पहले मिट्टी, गोबर, सोपानाश्म (ट्रैपराक)

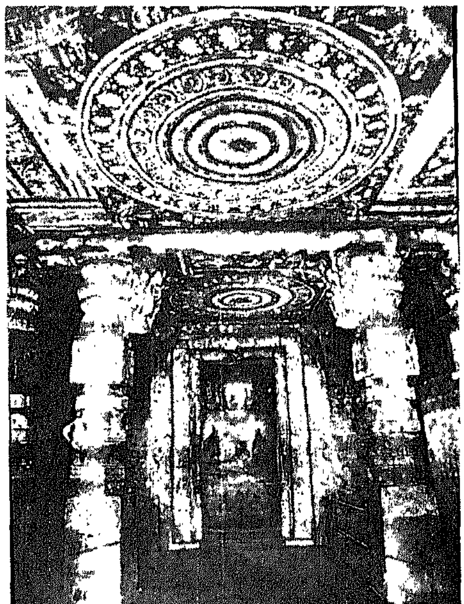


*आकृति 19.10 शेषशायी विष्णु, विष्णु मंदिर, देवगढ़*



*आकृति 19.11 ऐहोल का दुर्गा मंदिर*

के बारीक चूरे के मिश्रण से पोता जाता था और फिर उसके ऊपर बारीक सफेद पलस्तर की पतली परत चढ़ाई जाती थी। इस प्रकार तैयार की गई सतह को सावधानी से समतल बनाया जाता था और उसे गीला रखा जाता था। इससे एक ऐसी सतह उपलब्ध होती थी, जिस पर पहले डिजाइन का रेखाचित्र तैयार किया जाता था और तब चित्र बनाया जाता था। इनमें आमतौर से सफेद, लाल, भूरे, हरे और नीले रंगों का इस्तेमाल उनकी विभिन्न छायाओं में किया गया है। चित्रों में बुद्ध की आकृतियों और उसके वर्तमान और पूर्व जन्मों की घटनाओं अर्थात् जातक कथाओं को चित्रांकित किया गया है। सजावट के प्रयोजन से पशुओं और वनस्पतियों के चित्र भी बहुत बड़ी संख्या में खींचे गए हैं। इनके अभिकल्प जितने विविधतापूर्ण और आकर्षक हैं, उतने ही कल्पनापूर्ण भी।



*आकृति 19.12 अजंता की गुफा की चित्रकारियाँ*

कैलास स्थित शैलकृत मंदिर और उसके आसपास की गुफाओं में बनाए गए चित्र अजंता और बाघ के चित्रों से कुछ भिन्न किस्म और शैली के हैं। सित्तानवासल पुदुकोट्टई (मद्रास में) के गुफा-मंदिर में पल्लव राजा महेंद्रवर्मन् के काल के बहुत बढ़िया चित्र उपलब्ध हैं। वे बड़े आकर्षक और सुंदर हैं तथा उनसे पता चलता है कि पल्लव राजाओं के काल में यह कला उत्कृष्टता के कितने ऊँचे स्तर पर पहुँच गई थी।

## विज्ञान और प्रौद्योगिकी

इस काल में गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा के क्षेत्र में भारत को संसार के किसी भी अन्य देश की तुलना में बहुत अधिक उन्नत ज्ञान प्राप्त था। भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए विकास से अर्जित ज्ञान पहले अरबों ने प्राप्त किया और बाद में पश्चिमी संसार ने।

प्राचीन भारत में गणित और खगोल विद्या का जन्म और विकास वैदिक काल में ही हो गया था। गणित के बारे में, आर्यभट ने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में अपनी पुस्तक *आर्यभटीय* लिखी, जब वह केवल 23 वर्ष का था। *आर्यभटीय* चार भागों में विभाजित है। जहाँ तक रेखागणित का संबंध है, आर्यभट ने अन्य विषयों के साथ-साथ, त्रिकोण के क्षेत्रफल, त्रिकोणों की समरूपता के प्रमेय, वृत्त के क्षेत्रफल और खंडों में शामिल आयतों के क्षेत्रफल से संबधित प्रमेय पर विचार किया है।

आर्यभट की गणित-प्रणाली की एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, उसकी अद्वितीय संकेतांकन प्रणाली। यह दशमिक स्थान-मान प्रणाली पर आधारित थी, जिसकी जानकारी उस समय अन्य किसी भी प्राचीन देश में नहीं थी, लेकिन जिसका उपयोग अब समूचे सभ्य संसार में किया जाता है। एक अन्य प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त था, इसने 628 ई. में *ब्रह्मसिद्धांत* नामक पुस्तक लिखी थी। उसकी एक अन्य सुप्रसिद्ध कृति का नाम *खंडखाद्य* था, जो संभवतः 665 ई. में लिखी गई थी। उसने नकारात्मक गुणों और शून्य के साथ काम करने के नियम तैयार किए थे। उसने खगोलीय समस्याओं के लिए बीजगणित का उपयोग करना शुरू किया था।

## खगोल विज्ञान

प्राचीन भारत में खगोल विज्ञान और फलित ज्योतिष दोनों एक ही पारिभाषिक शब्द से द्योतित होते थे, जिसे *ज्योतिष* कहा जाता था। वराहमिहिर जिसने चंद्रगुप्त द्वितीय के दरबार में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी, ने 505 ई. में लिखी अपनी पुस्तक *पंचसिद्धांतिका* में खगोल विज्ञान की पाँच कृतियों का विवरण दिया है, जो स्पष्टतः उसके समय में इस विषय की प्रमाणिक पुस्तकें मानी जाती थीं। ये पाँच कृतियाँ अथवा *सिद्धांत पैतामह, रोमक,* पौलिस, *वसिष्ठ* और *सूर्य* नाम से जाने जाते हैं। *सूर्यसिद्धांत* उस काल की खगोल विज्ञान की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और संपूर्ण कृति है। फलित ज्योतिष के क्षेत्र में भी हम वराहमिहिर के बहुत अधिक ऋणी हैं। अपनी विश्वकोशीय कृति *बृहत्संहिता* में उसने विषय पर उपलब्ध प्राचीन ज्ञान को भारी मात्रा में सुरक्षित किया है। उसकी पुस्तक *बृहत्संहिता* प्राकृतिक ज्योतिष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पाठ्यपुस्तक होने के साथ-साथ विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय ज्ञान का सचमुच एक महान सार-संग्रह है। वराहमिहिर का पुत्र पृथुयशस् भी खगोल विज्ञान का एक उत्साही विद्यार्थी था और उसने 600 ई. में *होराशतपंचाशिका* नामक एक पुस्तक लिखी थी।

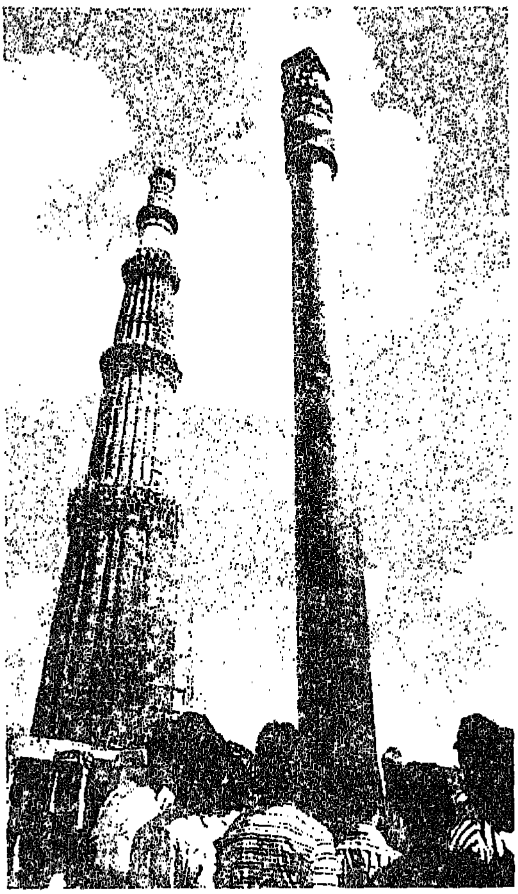
आर्यभट गुप्त काल में गणित की तरह खगोल विज्ञान के क्षेत्र का भी एक असाधारण विद्वान था। लेकिन उसका सबसे मौलिक योगदान उसकी यह मान्यता थी कि ग्रहण राहु के कारण नहीं लगते, जैसा कि उस समय के कुछ ज्योतिषियों का विश्वास था, बल्कि चंद्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ने से लगते हैं और इस प्रकार उसने पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमते हुए सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने के तथ्य की पुष्टि की, जैसा कि वैदिक काल में जाना जाता था। आर्यभट ऐसा पहला विद्वान था, जिसने खगोल विज्ञान के क्षेत्र में संकेत-चिह्नों का उपयोग किया था। उसने दो क्रमागत दिनों की अवधि में होने वाली कमी अथवा वृद्धि को मापने का एक सही सूत्र भी खोजा था।

## चिकित्सा

भारतीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ है : दीर्घायु का विज्ञान। इस पद्धति का जन्म वैदिक काल में हुआ था। वेदों में विशेष रूप से अथर्ववेद में सात सौ से अधिक ऐसे श्लोक हैं, जो आयुर्वेद से संबंधित विषयों के हैं। इस काल के महान लेखक का नाम वाग्भट्ट था। आयुर्वेद में उसका स्थान चरक और सुश्रुत के ठीक बाद आता है। इस काल की दो प्रसिद्ध कृतियों के नाम हैं, *अष्टांगसंग्रह* और *अष्टांगहृदयसंहिता*, जो एक ही (वाग्भट्ट) नाम के दो विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। पशु-रोगों के बारे में भी पुस्तकें थीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध पुस्तक का नाम है *हस्त्यायुर्वेद*। इसमें विशेष रूप से हाथियों को होने वाले रोगों के उपचार के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी दी गई है। इसी प्रकार की एक पुस्तक साधु शालिहोत्र द्वारा घोड़ों पर लिखी गई, जिसे अश्वशास्त्र नाम से जाना जाता है।

## धातुकर्म विज्ञान

चिकित्सा विज्ञान के साथ जिस एक अन्य विज्ञान का विकास हुआ, वह रसायन विज्ञान था। महायान मत के अनुयायी, नागार्जुन को एक महान रसायन वैज्ञानिक के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। चिकित्सा विज्ञान के अलावा रसायन विज्ञान से धातुकर्म विज्ञान के विकास में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई होगी। महरौली में स्थित लौहस्तंभ एक ऐसा जीवंत स्मारक है,



*आकृति 19.13 महरौली का लौहस्तंभ*

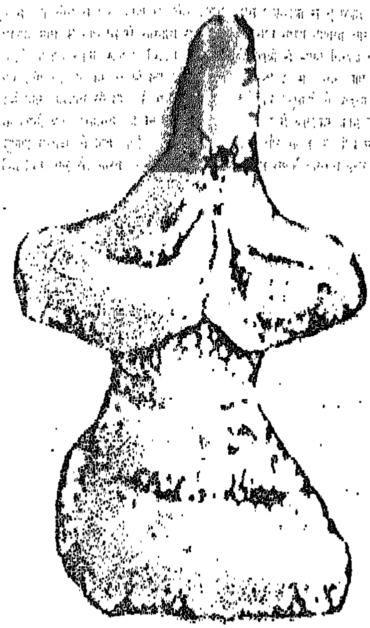
जिससे भारतीयों द्वारा 1500 वर्ष पहले धातुकर्म विज्ञान में की गई प्रगति का पता चलता है। यह 7.32 मीटर ऊँचा है और इसका व्यास इसके आधार स्तर पर 40 सेंटीमीटर और इसके ऊपरी भाग में 30 सेंटीमीटर है तथा इसका वजन लगभग 6 टन है। इसने प्रकृति के सभी प्रकोपों; जैसे— वर्षा, धूप और ठंड को इन पिछले सभी 1500 वर्ष झेला है और इस पर आज तक जंग नहीं लगा।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें :
   भुक्ति, विषय, अधिष्ठानाधिकरण, भक्ति, नायनार, आलवार, श्रेष्ठि, सार्थवाह, कुलिक, निगम, अवतार।
2. गुप्त काल की प्रशासनिक-प्रणाली का वर्णन करें।
3. गुप्त काल के नगर प्रशासन का ब्योरा दें। यह मौर्य काल की प्रशासनिक-प्रणाली से किन पहलुओं में भिन्न थी?
4. तमिल और संस्कृत दोनों भाषाओं में रचित कृतियों के विशेष संदर्भ में, इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का वर्णन करें।
5. इस काल में जो चीनी यात्री भारत आए, उनके बारे में लिखें।
6. इस काल में बौद्ध संप्रदाय और जैन संप्रदाय में जो परिवर्तन हुए, उनका वर्णन करें।
7. वैष्णव धर्म और शैव धर्म के विकास का वर्णन करें।
8. वाणिज्य और व्यापार के विशेष संदर्भ में, इस काल की आर्थिक स्थितियों के बारे में लिखें।
9. इस काल में कला, स्थापत्य और चित्रकला के क्षेत्र में हुए विकास के बारे में लिखें।
10. विज्ञान, गणित और धातुकर्म के क्षेत्र में हुई उपलब्धियों का वर्णन करें।

**करने के लिए कार्य**

- इस काल की कला और स्थापत्य के बारे में एक परियोजना तैयार करें।
- इस काल का कोई साहित्यिक ग्रंथ पढ़ें।
- भारत के नक्शे के रेखाचित्र में इस काल के महत्वपूर्ण नगरों को दिखाएँ।
- संग्रहालय जाकर विभिन्न सिक्कों और मूर्तियों के चित्र एकत्र करें और उनकी पहचान करें।



अध्याय 20

# हर्ष के बाद का भारत

**भारत के विभिन्न भागों के बीच घनिष्ठ संपर्क के फलस्वरूप सामान्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों ने सुदृढ़ रूप धारण कर लिया जो उस काल के साहित्य, शिक्षा, कला और स्थापत्य में दिखती हैं। ये प्रवृत्तियाँ बाद की शताब्दियों में अनेक उतार-चढ़ाव आने के बाद भी दिखाई देती हैं।**

**सातवीं** शताब्दी ई. के मध्य में हर्ष का देहांत होने के बाद से बारहवीं शताब्दी ई. में दिल्ली सल्तनत की स्थापना होने तक के 600 वर्षों में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, जैसे :

(i) इस काल में पूर्वी, मध्य और दक्षिण भारत में कुछ महत्त्वपूर्ण राज्यों का उदय हुआ, जो उत्तर भारत के राज्यों के समान ही महत्त्वपूर्ण थे। उनमें से कुछ राज्य न केवल अपने समय के अत्यंत शक्तिशाली राज्य थे, बल्कि उन्होंने उत्तर और दक्षिण के बीच सेतु के रूप में भी काम किया।

(ii) इन राज्यों की सांस्कृतिक परंपराएँ सुदृढ़ एवं स्थिर बनी रहीं, हालांकि वे प्रायः आपस में लड़ते रहते थे।

(iii) अर्थव्यवस्था, सामाजिक ढाँचे, विचारों और विश्वासों के क्षेत्र में निरंतरता बनी रही। इसका कारण यह था कि इन क्षेत्रों में परिवर्तन राजनीतिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों की तुलना में अधिक धीमी गति से होते हैं। भारत के विभिन्न भागों में घनिष्ठ संपर्क होने के फलस्वरूप सामान्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों ने सुदृढ़ रूप धारण कर लिया जो उस काल के साहित्य, शिक्षा, कला और स्थापत्य में दिखती हैं। ये प्रवृत्तियाँ बाद की शताब्दियों में अनेक उतार-चढ़ाव आने के बाद भी दिखाई देती हैं।

(iv) बारहवीं शताब्दी की समाप्ति के समय तक उत्तरी भारत के काफी बड़े भाग में मुस्लिम शासन का विस्तार हो गया।

मौखरियों के काल से, कन्नौज उत्तर भारत में शक्ति का केंद्र बन गया था— यह एक ऐसी स्थिति थी, जो पहले पाटलिपुत्र (पटना) को प्राप्त थी और बाद में दिल्ली को प्राप्त होने वाली थी। ह्वेनसांग ने कन्नौज का वर्णन हिंदू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म के एक फलते-फूलते केंद्र के रूप में किया था। कन्नौज तब एक प्राचीरयुक्त सुरक्षित नगर था, जो गंगा के किनारे लगभग चार मील तक फैला हुआ था।

वर्ष 647 ई. में हर्ष की मृत्यु होने के बाद, कन्नौज ने राजधानी होने की अपनी प्रतिष्ठा थोड़े समय के लिए खो दी, लेकिन आठवीं शताब्दी ई. के प्रारंभ में, कन्नौज एक अति शक्तिशाली राजा यशोवर्मन के साथ फिर से शक्ति का केंद्र बन गया। उसका शासन एक विशाल साम्राज्य पर था, जिसमें लगभग समूचा उत्तरी भारत शामिल था। बंगाल पर उसकी विजय का उसके दरबारी कवि, वाक्पतिराज द्वारा रचित प्रसिद्ध काव्य *गौडवहो* में वर्णन किया गया है। यशोवर्मन एक प्रतापी राजा था, जिसने 731 ई. में चीन में अपना राजदूत भेजा। सुविख्यात नाटककार भवभूति, जो *मालती-माधव, उत्तररामचरित* और *महावीरचरित* का रचयिता था, उसके राजदरबार की शोभा बढ़ाता था। यशोवर्मन ने 740 ई. तक शासन किया। यशोवर्मन के उत्तराधिकारी के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है, यद्यपि इस बात की जानकारी है कि 740-810 ई. के बीच कन्नौज पर चार राजाओं ने शासन किया था। कन्नौज ने छठी शताब्दी ई. से 1194 ई. तक, जब अंततः इस पर मुहम्मद गौरी का कब्ज़ा हो गया, उत्तर भारत के इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और उसे एक राजनीतिक केंद्र की ही नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक केंद्र की भी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

## गुर्जर प्रतिहार

गुर्जर प्रतिहारों का प्रारंभिक इतिहास रहस्य के आवरण में छिपा हुआ है। कुछ इतिहासविदों का विचार है कि

वे गुप्त काल के बाद मध्य एशिया से भारत आए थे और राजस्थान में बस गए थे। धीरे-धीरे उन्होंने राजनीतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया, किंतु राजस्थान की चारण परंपरा का दावा है कि गुर्जर प्रतिहारों का जन्म आबू पर्वत पर किए गए एक यज्ञ से हुआ था। इस यज्ञ से उत्पन्न हुए अन्य कुल हैं : चालुक्य, परमार और चाहमान। इसी कारण इन चार कुलों को *अग्निकुल* के नाम से भी जाना जाता है। यह भी कहा जाता है कि राजपूतों के इन चार कुलों को विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए उत्पन्न किया गया था। कुछ विद्वान इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वे विदेशी थे, जिन्हें भारतीय समाज में स्थान दिया गया था। प्रतिहारों का दावा है कि उन्हें प्रतिहार (शाब्दिक अर्थ द्वारपाल) इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उनके आदिपुरुष लक्ष्मण अपने भाई राम के द्वारपाल के रूप में कार्य करते थे। गुजरात के भौगोलिक नाम की उत्पत्ति गुर्जर शब्द से हुई है।

इस वंश का प्रारंभिक इतिहास इसी वंश के सातवें और सबसे प्रसिद्ध राजा भोज के ग्वालियर स्थित शिलालेख में सुरक्षित है। नागभट्ट प्रथम इस वंश के गौरव का वास्तविक संस्थापक था। उसने अरबों की मुस्लिम सेनाओं को पराजित किया। उसके बाद, वत्सराज (775-800 ई.) ने आक्रामक साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया, जिसके कारण बंगाल के पाल राजाओं के साथ उसका युद्ध हुआ। वत्सराज ने पाल राजा धर्मपाल को पराजित किया, किंतु दुर्भाग्यवश, राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने वत्सराज को पराजित करके उसकी विजय का फल उसके हाथ से छीन लिया। धर्मपाल ने वत्सराज की इन विपत्तियों का लाभ उठाया और अपने द्वारा नामित चक्रायुध को कन्नौज के सिंहासन पर बैठा दिया। वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (815 ई.) ने बहुत-से अन्य राज्यों, विशेष रूप से आंध्र, विदर्भ और कलिंग के साथ मित्रता स्थापित की। उसने अपनी पूरी तैयारी के साथ अपने विरोधियों से युद्ध किया। उसने पहले चक्रायुध को पराजित कर कन्नौज पर कब्जा किया, फिर उसने धर्मपाल को हराया और राष्ट्रकूट राजा, गोविंद तृतीय के साथ युद्ध किया। यह भी विश्वास किया जाता है कि नागभट्ट ने सुलतान वेग को भी पराजित किया था, जो खलीफा अल-मामून के अधीन सिंध के गवर्नर का पुत्र था।

नागभट्ट द्वितीय के बाद उसके पुत्र रामभद्र ने सत्ता सँभाली, जिसके तीन वर्ष के संक्षिप्त शासनकाल में प्रतिहारों को पाल राजा देवपाल की आक्रामक नीति के कारण सबसे अधिक नुकसान हुआ। रामभद्र के बाद उसका पुत्र भोज प्रथम लगभग 836 ई. में राजगद्दी पर बैठा। सत्ता ग्रहण के कुछ वर्षों के अंदर ही भोज प्रथम को अपने वंश की गिरती हुई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने में सफलता मिली। देवपाल की मृत्यु के बाद राष्ट्रकूटों द्वारा बंगाल पर आक्रमण किए जाने से प्रतिहार राजा को एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। भाग्य ने एक अन्य दिशा में भी भोज प्रथम का साथ दिया। राष्ट्रकूट राजा, कृष्ण द्वितीय पूर्वी चालुक्यों के साथ जिंदगी और मौत की लड़ाई लड़ रहा था। भोज-प्रथम ने कृष्ण द्वितीय को पराजित किया और मालवा तथा गुजरात क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। अपने इन दो विरोधियों पर विजय प्राप्त करने के बाद भोज प्रथम को पंजाब, अवध और उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस प्रकार उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और उसे सुदृढ़ बनाया।

भोज का नाम कई उपाख्यानों में प्रसिद्ध है। वह विष्णु का उपासक था और उसने *आदिवराह* की उपाधि धारण की, जो उसके कई सिक्कों पर उत्कीर्ण है। वह *मिहिर, प्रभास,* आदि अन्य नामों से भी जाना जाता है। एक विजेता और प्रशासक के रूप में भोज का आकलन अरब इतिहासकार सुलेमान द्वारा लगभग 851 ई. में किया गया था। उसने लिखा था कि भोज के पास एक बहुत बड़ी सेना थी और अन्य किसी भारतीय राजा के पास इतनी बढ़िया अश्व सेना नहीं थी। सुलेमान ने लिखा था कि उसके पास बहुत धन था और असंख्य ऊँट और घोड़े थे। उसके राज्य में विनिमय चाँदी और सोने के द्वारा किया जाता था। भारत में ऐसा कोई अन्य क्षेत्र नहीं था, जो डाकुओं से इससे अधिक सुरक्षित हो।

भोज प्रथम के बाद उसका पुत्र महेंद्रपाल प्रथम लगभग 885 ई. में राज्य का उत्तराधिकारी बना। महेंद्रपाल प्रथम ने न केवल उसके विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखा, बल्कि उसका विस्तार भी किया। प्रतिहार साम्राज्य अब उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विंध्य तक और पूर्व में बंगाल से पश्चिम में गुजरात तक फैल चुका था। उसे *महेंद्रायुध* और *निर्भयनरेंद्र* के नामों से भी जाना जाता था। वह विद्वानों का एक उदार संरक्षक था। उसके गुरु राजशेखर का भारतीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। उसकी रचनाओं में *कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत, काव्यमीमांसा, भुवनकोश* और *हरविलास* शामिल हैं।

प्रतिहारों का आधिपत्य उत्तर भारत में आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी ई. तक लगभग दो सौ वर्षों से अधिक समय तक बना रहा। अल-मसूदी ने, जो बगदाद का निवासी था और जिसने 915-916 ई. में भारत की यात्रा की थी, प्रतिहार शासकों की महान शक्ति एवं प्रतिष्ठा और उनके विशाल साम्राज्य का वर्णन किया है। वह कहता है कि अल-जुज्र (गुर्जर) के साम्राज्य में 1,800,000 गाँव थे; शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों की लंबाई 2,000 किलोमीटर और चौड़ाई 2,000 किलोमीटर थी। राजा की सेना में चार प्रभाग थे और उनमें से प्रत्येक में 7,00,000 से 9,00,000 तक सैनिक थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह सारी संख्याएँ कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, लेकिन इनसे पता चलता है कि प्रतिहार साम्राज्य काफी बड़ा और अत्यंत शक्तिशाली था।

915 ई. और 918 ई. के बीच, राष्ट्रकूट राजा, इंद्र द्वितीय ने कन्नौज पर फिर से आक्रमण किया और उसे पूरी तरह से तहस-नहस कर डाला। इससे प्रतिहार साम्राज्य कमजोर हो गया। एक अन्य राष्ट्रकूट राजा, कृष्ण तृतीय ने लगभग 963 ई. में उत्तर भारत पर हमला किया और प्रतिहार शासकों को पराजित किया। इसके बाद प्रतिहार साम्राज्य का पतन हो गया।

प्रतिहार विद्वत्ता और साहित्य के संरक्षक थे। संस्कृत कवि राजशेखर महेंद्रपाल प्रथम के राजदरबार का सदस्य था। प्रतिहार राजा हिंदू धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने बहुत से भव्य भवन और मंदिर बनाकर कन्नौज को सुशोभित किया। शिलालेखों से इस रोचक बात का पता चलता है कि मंदिरों की इमारतें और उनके साथ संबद्ध शैक्षिक संस्थाएँ सामुदायिक परियोजनाएँ थीं, जिनमें समूचा ग्रामीण समुदाय भाग लेता था। इन मंदिरों और शैक्षिक संस्थाओं के रख-रखाव की जिम्मेदारी समूचे समाज की थी। इस प्रयोजन के लिए लोग नकदी और जिन्स दोनों रूपों में अपना योगदान करते थे, चाहे उनका व्यवसाय कुछ भी हो।

इस काल में बहुत-से भारतीय विद्वान राजदूतों के साथ बगदाद के खलीफा के दरबार में गए। हमें उन भारतीय राजाओं के नामों की जानकारी प्राप्त नहीं है, जिन्होंने ये राजदूत भेजे थे। बहुत-से अरब यात्री और विद्वान भी भारत आए। भारत और अरब संसार के बीच स्थापित हुए इस परस्पर-संपर्क के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति, साहित्य और विज्ञान, विशेष रूप से गणित, बीजगणित और चिकित्सा विज्ञान का प्रसार अरब देशों में हुआ, जहाँ से उसका और आगे यूरोप तक प्रसार हुआ।

प्रतिहारों की सिंध के अरब शासकों के साथ शत्रुता थी, यह बात सर्वविदित है। इसके बावजूद, यह प्रतीत होता है कि भारत और पश्चिम एशिया के बीच विद्वानों का आना-जाना और व्यापार अबाध रूप से चलता रहा।

## पाल वंश

हर्ष की मृत्यु से पाल राजाओं के सत्तासीन होने के समय तक का बंगाल का इतिहास अस्पष्ट और धुंधला-सा है। उस समय पश्चिम बंगाल को *गौड़* कहा जाता था और पूर्वी बंगाल को *वंग*। बंगाल में आंतरिक अव्यवस्था थी, जिसे *मत्स्य न्याय* (अर्थात् सबल द्वारा दुर्बल को हड़प कर लेने का नियम) कहा गया है। इसके परिणामस्वरूप क्रांति हुई और इस *मत्स्य न्याय* का अंत करने के लिए लोगों द्वारा गोपाल को राजा चुना गया। गोपाल के प्रारंभिक जीवन के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन उसने राज्य में शांति स्थापित की और अपने परिवार के लिए, जिसे पाल वंश कहा जाता है, एक महान भविष्य की नींव रखी।

गोपाल के बाद उसका पुत्र धर्मपाल लगभग 780 ई. में राजा बना। वह एक कर्मठ व्यक्ति था और उसने अपने आपको अपने साम्राज्य का विस्तार करने की स्थिति में पाया। उसने कन्नौज के राजा इंद्रायुध को पराजित किया और चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठाया। धर्मपाल ने कन्नौज में एक विशाल दरबार आयोजित किया, जिसमें अनेक राजा उपस्थित हुए, लेकिन वह अपनी स्थिति को मजबूत नहीं बना सका। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव धर्मपाल के साम्राज्यवादी तेवरों को सहन नहीं कर सका और उसने धर्मपाल को एक युद्ध में पराजित कर दिया। इसी बीच, नागभट्ट द्वितीय के अधीन प्रतिहारों की शक्ति का फिर से उदय हुआ। ध्रुव ने धर्मपाल को मुंगेर के निकट हुए युद्ध में शिकस्त दी।

धर्मपाल के बाद उसके पुत्र देवपाल ने शासन सँभाला। उसे पाल वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा कहना उचित होगा। शिलालेखों से पता चलता है कि उसने दूर-दूर तक विजय अभियान किए। उसने प्राग्ज्योतिषपुर (असम) और उत्कल (उड़ीसा) को जीता। पाल वंश के राजाओं ने लगभग चार शताब्दियों से अधिक समय तक बिहार तथा बंगाल पर और उड़ीसा तथा असम के कुछ भागों पर शासन किया और इस बीच उन्होंने कई उतार-चढ़ाव देखे। अरब व्यापारी सुलेमान ने उनकी शक्ति का उल्लेख किया है। उसने पाल राज्य का वर्णन रूहमा (यानी धर्म — धर्मपाल का संक्षिप्त रूप) के रूप में किया है। उसने लिखा है कि पाल शासकों की अपने पड़ोसी प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के साथ लड़ाई चलती थी, लेकिन पालों के पास अपने विरोधियों से अधिक सेना थी। उसने बताया है कि अपने साथ 50,000 हाथियों की सेना लेकर चलना पाल राजाओं के लिए एक आम रिवाज था।

पाल राजाओं के बारे में विस्तृत जानकारी हमें शिलालेखों और अरब यात्रियों के अलावा तिब्बती

विवरणों से भी प्राप्त होती है। तिब्बती इतिहासकारों के अनुसार, पाल राजा बौद्ध धर्म और शिक्षा के महान संरक्षक थे। धर्मपाल ने विक्रमशिला में प्रसिद्ध बौद्ध विहार की स्थापना की, जो प्रसिद्धि के मामले में नालंदा के बाद दूसरे स्थान पर था। उसके भव्य मंदिर और विहार उसकी और अन्य दानवीरों की उदारता के मुँह बोलते प्रमाण हैं।

पाल राजाओं के काल में नालंदा विश्वविद्यालय की ख्याति सारे विश्व भर में फैल गई थी। उस समय नालंदा में 10,000 से अधिक विद्यार्थी और अध्यापक थे, जो न केवल भारत के विभिन्न भागों से, बल्कि मध्य एशिया, चीन, दक्षिण-पूर्वी एशिया और श्रीलंका से आए थे। इसे उस समय की सबसे बड़ी शैक्षिक संस्थाओं में से एक माना जाता था। इस विश्वविद्यालय में ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं की शिक्षा-प्रदान की जाती थी। दो सौ गाँव से प्राप्त शाही आय जो पहले से नालंदा विश्वविद्यालय के रख-रखाव के लिए दी गई थी, पालों के काल में भी जारी रही। देवपाल ने भी पाँच गाँवों की आय दान कर दी। इसके अलावा ग्रामवासी, धनी व्यापारी और अन्य राजा भी विश्वविद्यालय को नकदी और जिन्स दोनों रूपों में सहायता देते थे। ग्रामवासी विश्वविद्यालय में रहने वाले लोगों के उपयोग के लिए अनाज, सब्जियाँ और अन्य प्रकार की रसद देते थे। नालंदा विश्वविद्यालय इतना प्रसिद्ध था कि सुवर्णद्वीप (आधुनिक मलय प्रायद्वीप, जावा और सुमात्रा) के सम्राट महाराज बालपुत्रदेव ने नालंदा में एक विहार स्थापित किया और देवपाल से उस विहार के अनुरक्षण के लिए पाँच गाँवों की आय दान में देने का अनुरोध किया।

पाल राजाओं ने हिंदू धर्म को भी संरक्षण दिया। उन्होंने विद्वत्ता और शैक्षिक प्रयोजनों के लिए दान दिए। विनायकपाल ने शिव के सम्मान में एक हजार मंदिरों का निर्माण किया। वे ब्राह्मणों को अपने देश में बसने और गुरुकुल चलाने के लिए दान देते थे।

पाल राजाओं के दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों और चीन के साथ घनिष्ठ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध थे। दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन के साथ जो व्यापार होता था, उससे बहुत लाभ प्राप्त होता था और उससे पाल साम्राज्य की समृद्धि में बहुत वृद्धि हुई। शक्तिशाली शैलेंद्र राजवंश ने, जिनका शासन मलय, जावा, सुमात्रा और पड़ोसी द्वीपों पर था, पाल राजाओं के पास अनेक राजदूत भेजे।

## राष्ट्रकूट

जब पाल पूर्वी भारत में और प्रतिहार उत्तर भारत में राज कर रहे थे, तो दक्कन पर राष्ट्रकूटों का शासन था। 'राष्ट्रकूट' शब्द का अर्थ है, 'राष्ट्र' नामक क्षेत्रीय प्रभागों के प्रभारी अधिकारी। इस परिवार के सदस्य बादामी के प्रारंभिक चालुक्यों के अधीन राष्ट्रों के प्रभारी अधिकारी थे। दंतिवर्मन अथवा दंतिदुर्ग इस राजवंश का संस्थापक था और उसकी राजधानी आधुनिक शोलापुर के निकट मान्यखेत अथवा मालखेद में थी। दंतिवर्मन के बाद उसके चाचा कृष्ण प्रथम ने लगभग 758 ई. में सत्ता सँभाली, जिसने अपने राज्य का विस्तार महाराष्ट्र से कर्नाटक तक किया।

लगभग 779 ई. में, ध्रुव के सत्तासीन होने पर, राष्ट्रकूटों के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। अपने पूर्ववर्ती राजाओं की तरह उसने वेंगी के चालुक्यों और मैसूर के गंगों को शिकस्त दी और पल्लवों के विरुद्ध संघर्ष प्रारंभ किया। वह पहला

राष्ट्रकूट राजा था, जिसने उत्तर भारत में आधिपत्य स्थापित करने के लिए लड़ी जा रही त्रिपक्षीय लड़ाई में निर्णायक हस्तक्षेप किया और प्रतिहार राजा वत्सराज और पाल राजा धर्मपाल, दोनों को पराजित किया। उत्तर में अपने सफल अभियानों के पश्चात्, उसने अपने राज-चिह्न में गंगा और यमुना के प्रतीक को शामिल किया।

ध्रुव का उत्तराधिकारी गोविंद तृतीय (793-813 ई.) था, जिसने उत्तर भारत में भी घुसपैठ की और पाल राजा धर्मपाल और कन्नौज नरेश चक्रायुध के खिलाफ सफलतापूर्वक युद्ध किया। उसने दक्षिण में गंग, चेर, पांड्य और पल्लव शासकों के परिसंघ को भी तहस-नहस कर दिया।

गोविंद तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम (814-878 ई.) सत्तासीन हुआ। अमोघवर्ष ने 60 वर्ष तक राज किया। वह अपने पूर्ववर्ती राजा जैसी शौर्य भावना के लिए कम, बल्कि धर्म और साहित्य के प्रति अपने झुकाव के लिए अधिक जाना जाता है। जैन धर्म के सिद्धांतों ने उसे अधिक प्रभावित किया। वह साहित्य का संरक्षक था और साहित्यकारों को प्रश्रय देता था। अमोघवर्ष ने स्वयं *कविराजमार्ग* नामक पुस्तक की रचना की, जो काव्यशास्त्र के बारे में कन्नड़ भाषा की एक प्रारंभिक कृति है। वह एक महान निर्माता था और कहा जाता है कि उसने अपनी राजधानी मान्यखेत का निर्माण इस प्रकार किया, ताकि वह इंद्र की नगरी से भी अधिक सुंदर बने। अमोघवर्ष के उत्तराधिकारियों में दो बड़े राष्ट्रकूट शासक हुए, इंद्र तृतीय (915-927 ई.) और कृष्ण तृतीय (939-965 ई.)। इंद्र तृतीय ने प्रतिहार राजा महिपाल प्रथम को पराजित किया और उसकी राजधानी कन्नौज में लूटमार की। अरब यात्री अल-मसूदी राष्ट्रकूट राजा को भारत का महानतम राजा कहता है।

कृष्ण तृतीय तेजस्वी शासकों की शृंखला का सबसे अंतिम शासक था। उसने मालवा के परमार राजाओं और वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासकों के साथ युद्ध किया। उसने तंजोर के चोल शासक के खिलाफ भी अभियान चलाया और उसकी सेना रामेश्वरम तक पहुँच गई, जहाँ पर उसने एक विजयस्तंभ और एक मंदिर का निर्माण किया।

दक्कन में राष्ट्रकूटों का सत्तारोहण दक्कन के इतिहास का एक सर्वाधिक उज्ज्वल अध्याय है। उन्होंने तीन सौ वर्षों से अधिक समय तक शासन किया। राष्ट्रकूट शासकों ने न केवल शैव धर्म और वैष्णव धर्म को संरक्षण प्रदान किया, बल्कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम की भी रक्षा की। उन्होंने मुस्लिम व्यापारियों को अपने राज्य में बसने, मस्जिद बनाने और अपने धर्म का प्रचार करने की अनुमति दी। उनकी सहिष्णुतापूर्ण नीतियों से व्यापार और वाणिज्य की प्रगति हुई।

साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, जो बहुत-सी आधुनिक भारतीय भाषाओं की पूर्वगामी भाषा थी और कन्नड़ को समान रूप से संरक्षण दिया। एलोरा में उन्होंने ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म से संबंधित जो शैलकृत गुफा मंदिर बनवाए थे, वे उनकी धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक हैं और भारतीय कला की भव्यता के उत्कृष्ट नमूने हैं। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम ने जो कैलाश मंदिर बनवाया था, वह कला का एक अद्वितीय और अद्भुत नमूना है। एक पहाड़ी के समूचे पार्श्व के 160 फुट चौड़े और 280 फुट लंबे भाग को काटकर उसे एक भव्य एकाश्मीय मंदिर का रूप दिया गया, जिसमें एक विशाल मंडप और नक्काशीदार स्तंभ बनाए गए। मंदिर के पादांग (प्लिंथ) को इस प्रकार उत्कीर्ण किया गया है कि

उससे यह प्रतीत होता है कि यह समूचा मंदिर सिंहों, हाथियों जैसे पशुओं की पीठ पर टिका हुआ है।

### त्रिपक्षीय संघर्ष

उक्त विवरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आठवीं शताब्दी ई. की समाप्ति के समय भारत में तीन महान शक्तियाँ थीं। उत्तर में गुर्जर प्रतिहार, पूर्व में पाल और दक्कन में राष्ट्रकूट लगभग एक साथ ही शक्तिशाली राजवंशों के रूप में उदित हुए। अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए पालों, गुर्जर प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच चलने वाली त्रिपक्षीय लड़ाई इन शताब्दियों की महत्त्वपूर्ण घटना थी।

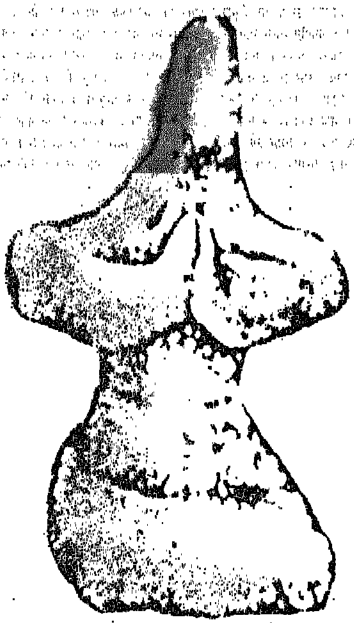
यह कहा जाता है कि इस लड़ाई का मुख्य कारण था, कन्नौज नगर पर आधिपत्य स्थापित करने की इच्छा, क्योंकि उस काल में कन्नौज प्रभुसत्ता का प्रतीक था। इसके अलावा अंतर्क्षेत्रीय युद्धों का उद्देश्य मध्यवर्ती उपजाऊ क्षेत्रों पर नियंत्रण पाना भी था। सत्ता का पलड़ा इन तीन पक्षों में से किस की ओर झुकता था, इसका फैसला इन दो बातों से होता था : संबंधित क्षेत्र की आंतरिक शक्ति और अपने-अपने क्षेत्र से बाहर लंबी अवधि के लिए अपना नियंत्रण कायम रखने में शासकों की असमर्थता। उनका सैनिक साज-सामान, प्रशासनिक तंत्र और रणनीति विषयक धारणाएँ लगभग एक जैसी थीं। अरब यात्रियों ने भी कहा है कि इन शासकों की शक्ति कमोवेश बराबर थी। इस शक्ति-संतुलन के कारण इन क्षेत्रों में काफी हद तक राजनीतिक स्थिरता बनी रही, जिससे संस्कृति और शिक्षा के विकास को बढ़ावा मिला।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, पहला मुकाबला राष्ट्रकूट राजा ध्रुव, प्रतिहार राजा वत्सराज और पाल राजा धर्मपाल के बीच हुआ। पहले चरण में राष्ट्रकूटों को संपूर्ण विजय प्राप्त हुई, लेकिन ध्रुव की मृत्यु से राष्ट्रकूटों को धक्का लगा। दूसरे चरण में, पाल राजा देवपाल (821-860 ई.) की स्थिति सर्वप्रमुख रही, क्योंकि उसके समकालीन प्रतिहार और राष्ट्रकूट राजा कमजोर शासक थे, किंतु नौवीं शताब्दी में प्रतिहार राजा भोज (836-885 ई.) और महेंद्रपाल (885-910 ई.) अन्य दो राजवंशों के अपने समकालीन राजाओं से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। नौवीं शताब्दी के समाप्त होने के समय राष्ट्रकूट अपने राजा इंद्र द्वितीय और कृष्ण तृतीय के अधीन फिर से शक्तिशाली बन गए और उनकी शक्ति को न केवल उत्तर में, बल्कि दक्षिण में भी महसूस किया गया।

दसवीं शताब्दी की समाप्ति के आसपास, प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों की शक्ति का लगभग एक साथ ही पतन हो गया। इन तीन राजवंशों का अंत होने से तीन सौ वर्षों के वैभवशाली युग का अंत हो गया।

## अभ्यास

1. हर्ष के देहांत के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करें।
2. गुर्जर प्रतिहार कौन थे? भारतीय संस्कृति में उनके योगदान पर चर्चा करें।
3. त्रिपक्षीय संघर्ष से आप क्या समझते हैं? पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के संदर्भ में इसकी चर्चा करें।
4. राष्ट्रकूटों के इतिहास और भारतीय संस्कृति में उनके योगदान पर चर्चा करें।
5. पालों के इतिहास और भारतीय संस्कृति में उनके योगदान पर चर्चा करें।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
   (i) कन्नौज का यशोवर्मन
   (ii) मिहिर भोज
   (iii) अमोघवर्ष
   (iv) देवपाल



अध्याय 21

# कामरूप का इतिहास

**आधुनि राज्य असम को प्राचीन काल में कामरूप और प्रागज्योतिष कहा जाता था। उपर्युक्त नाम का प्रयोग कामरूप की राजधानी के लिए भी किया जाता था। इस क्षेत्र में डवाक नामक एक अन्य राज्य भी था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के इलाहाबाद शिलालेख में कामरूप के साथ के सीमावर्ती राज्य के रूप में किया गया है।**

**आधुनिक** राज्य असम को प्राचीन काल में कामरूप और प्राग्ज्योतिष कहा जाता था। उपर्युक्त नाम का प्रयोग कामरूप की राजधानी के लिए भी किया जाता था। इस क्षेत्र में डवाक नामक एक अन्य राज्य भी था, जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त के इलाहाबाद शिलालेख में कामरूप के साथ के सीमावर्ती राज्य के रूप में किया गया है। कामरूप राज्य एक समय उत्तरी और पश्चिमी बंगाल, चीन के कुछ सीमावर्ती इलाकों तथा डवाक तक फैला हुआ था। महाभारत के समय से सातवीं शताब्दी ई. के मध्य में भास्करवर्मन तक इस क्षेत्र में एक ही राजवंश का शासन रहा था। इस राजवंश के इतिहास के स्रोत हैं, भास्करवर्मन के दुबी और निधानपुर ताम्रपत्र कुछ अन्य स्रोतों में नालंदा से प्राप्त कुछ वंशावली संबंधी मुद्राएँ और बाणभट्ट तथा ह्वेनसांग के विवरण प्राप्त हुए हैं।

इस वंश का दावा है कि उसकी उत्पत्ति 'असुर नरक' से हुई थी जो महाकाव्यों और पुराणों के अनुसार विष्णु (उनके वराह अवतार में) और पृथ्वी का पुत्र था। इसीलिए इस वंश को भौम (अर्थात् भूमि का पुत्र भी कहा जाता है। नरक के एक पुत्र का नाम भागदत्त था, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। इस राजवंश के शिलालेखों में दावा किया गया है कि राजा भागदत्त और उसके उत्तराधिकारियों ने कामरूप में लगभग 3,000 वर्षों तक शासन किया था और उनके बाद राजा पुष्यवर्मन हुआ। इन स्रोतों से हमें तेरह राजाओं की एक सूची मिलती है, जो पुष्यवर्मन से शुरू होती है, वह समुद्रगुप्त का समकालीन था। सूची इस प्रकार है :

(i) पुष्यवर्मन
(ii) समुदवर्मन
(iii) बालवर्मन
(iv) कल्याणवर्मन
(v) गणपतिवर्मन
(vi) महेंदवर्मन
(vii) नारायणवर्मन
(viii) भूतिवर्मन
(ix) चंद्रमुखवर्मन
(x) स्थितवर्मन
(xi) सुस्थितवर्मन
(xii) सुप्रतिष्ठितवर्मन
(xiii) भास्करवर्मन

इनमें से अंतिम राजा भास्करवर्मन सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हर्षवर्धन का समकालीन था। आठवाँ राजा भूतिवर्मन छठी शताब्दी ई. के मध्य में शासन करता था, जिसका पता उसके अपने अभिलेखों से चलता है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि प्रथम राजा पुष्यवर्मन का शासन लगभग 350 ई. में था। उसने समुद्रगुप्त की प्रभुसत्ता अवश्य स्वीकार की होगी।

नालंदा की मुद्रा में पुष्यवर्मन को प्राग्ज्योतिष का स्वामी कहा गया है और सूची के प्रथम तीन राजाओं को महाराजाधिराज की उपाधि दी गई है, लेकिन इतिहासकार इस आडंबरपूर्ण उपाधि को कोई महत्त्व नहीं देते, क्योंकि इन राजाओं ने गुप्त राजाओं की प्रभुसत्ता स्वीकार कर रखी थी। हमें इस वंश के पहले छः राजाओं के बारे में कोई अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। सातवें राजा नारायणवर्मन अथवा उसके पूर्ववर्ती राजा ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे, जिससे पता चलता है कि वह शायद छठी शताब्दी ई. के पूर्वार्ध में गुप्त साम्राज्य से स्वतंत्र हो गया होगा।

आठवाँ राजा भूतिवर्मन अथवा महाभूतिवर्मन एक शक्तिशाली राजा था। उसका उत्थान लगभग

छठी शताब्दी ई. के मध्य में हुआ। उसके अधीन कामरूप एक शक्तिशाली राज्य बन गया। इसमें समूची ब्रह्मपुत्र घाटी और सिलहट क्षेत्र शामिल थे और पश्चिम में यह करातोया नदी तक फैला हुआ था, जो काफी लंबे समय से कामरूप की पारंपरिक सीमा बनी हुई थी।

हम उसके पुत्र चंद्रमुखवर्मन के बारे में कुछ नहीं जानते, लेकिन कहा जाता है कि उसके पोते स्थितवर्मन ने अश्वमेध यज्ञ किया था। अगले राजा सुस्थितवर्मन के नाम का उल्लेख बाद के गुप्त राजा आदित्यसेन के अफसढ़ शिलालेख में मिलता है। कहा जाता है कि आदित्यसेन के दादा महासेनगुप्त ने सुस्थितवर्मन को लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के किनारे पर हराया था। महासेनगुप्त ने यह युद्ध अवश्य ही मौखरियों के एक साथी के रूप में लड़ा होगा, जो उस समय उत्तर भारत की एकमेव साम्राज्यिक शक्ति थे। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि महासेनगुप्त का यह साथी गौड़ का शशांक था, मौखरी वंश का कोई राजा नहीं। लेकिन यह स्पष्ट नहीं होता कि राजस्थान के एक छोटे-से राज्य का राजा दूरस्थ बंगाल के राजा का साथी और बाद में उसका सहायक शासक कैसे बन गया। लेकिन शशांक की पहचान उस गौड़ राजा के रूप में की जा सकती है, जिसने सुप्रतिष्ठितवर्मन और भास्करवर्मन को उनके पिता सुस्थितवर्मन की मृत्यु के शीघ्र बाद हराया और बंदी बनाया था। उस समय तक सुप्रतिष्ठितवर्मन सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था, लेकिन वे गौड़ राजा की जेल से बचकर निकलने में सफल हुए और सुप्रतिष्ठितवर्मन ने एक संक्षिप्त अवधि के लिए शासन किया। उसके बाद उसका भाई भास्करवर्मन सत्तासीन हुआ।

### भास्करवर्मन

भास्करवर्मन राजा हर्षवर्धन का एक साथी था। बाणभट्ट की रचना *हर्षचरित* में उसका वर्णन है। उसने हर्ष के साथ मित्रता करने के लिए अपने राजदूत हंसवेग को उपहारों के साथ भेजा। यह कामरूप के राजा की एक कूटनीतिक चाल थी, जो इससे पहले अपने भाई के साथ, गौड़ के राजा द्वारा पराजित और बंदी बना लिया गया था। दूसरी ओर, हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन को भी गौड़ के उसी राजा द्वारा धोखे से मार दिया गया था और हर्ष ने उसका विनाश करने की घोषणा की थी। इस प्रकार, यह दो राजाओं द्वारा अपने सांझे शत्रु के खिलाफ किया गया गठजोड़ था। बाणभट्ट के घटनाओं के वर्णन ने घटनाओं के तैथिक क्रम को गड़बड़ा दिया है और इसलिए उस काल के इतिहास के बारे में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है। यह गठजोड़ तब हुआ होगा जब हर्ष ने अपने जीवन के आखिरी भाग में अपने राज्याभिषेक के तुरंत बाद नहीं, गौड़ राजा के खिलाफ चढ़ाई की थी। इस गठजोड़ के परिणामस्वरूप और हर्ष की सहायता से भास्करवर्मन ने शशांक के राज्य से बंगाल के एक काफी बड़े भाग पर कब्जा करने में सफलता प्राप्त की।

नालंदा के बौद्ध विहार पर भास्करवर्मन के प्रभाव की पुष्टि ह्वेनसांग के वर्णन से भी होती है। उसने वर्णन किया है कि राजा भास्करवर्मन ने नालंदा विहार के अध्यक्ष, शीलभद्र के पास एक संदेशवाहक को इस अनुरोध के साथ भेजा कि 'चीन के महान यात्री को उसके पास भेज दिया जाए।' किंतु यह अनुरोध धमकी प्राप्त होने के बाद ही स्वीकार किया गया। ह्वेनसांग कामरूप गया और वहाँ पर लगभग एक महीने ठहरा। तब हर्ष ने कामरूप के राजा से

माँग की कि चीन के यात्री को उसके दरबार में भेज दिया जाए, लेकिन यह माँग भी भास्करवर्मन को धमकी दिए जाने के बाद ही पूरी हुई। भास्करवर्मन ह्वेनसांग के साथ हर्ष से कजंगल में स्वयं मिला, जहाँ हर्ष ठहरा हुआ था। उसने कन्नौज और प्रयाग में हुई महान धर्मसभाओं में भी भाग लिया।

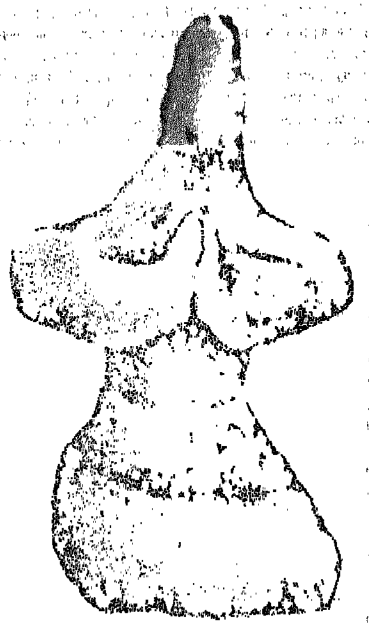
ह्वेनसांग के इस वर्णन से पता चलता है कि भास्करवर्मन का उत्तरी बंगाल पर नियंत्रण था और बिहार में नालंदा पर भी कुछ प्रभाव था। भास्करवर्मन की मृत्यु के बाद इस वंश का भी उसी प्रकार अंत हो गया, जिस तरह कि हर्ष के राज्य का हुआ था। उपलब्ध साक्ष्य से संकेत मिलता है कि इस राज्य पर म्लेच्छ शासक सालस्तंभ ने कब्जा कर लिया। हमें सालस्तंभ के कुछ उत्तराधिकारियों के नामों की जानकारी मिलती है, लेकिन उनके बारे में कोई ब्योरा प्राप्त नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि वह भास्करवर्मन के परिवार का ही कोई वंशज था, लेकिन इसकी पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

## अभ्यास

1. कामरूप के राजाओं के कालक्रम के बारे में लिखें।
2. कामरूप के इतिहास के स्रोतों का वर्णन करें।
3. गौड़ राजा के बारे में लिखें।
4. भास्करवर्मन की उपलब्धियों और हर्षवर्धन के साथ उसके संबंधों के बारे में लिखें।

**करने के लिए कार्य**

- कामरूप की संस्कृति से संबंधित सामग्री एकत्र करें।



अध्याय 22

# हर्ष के बाद के काल में समाज और संस्कृति

**अपभ्रंश** प्राकृत भाषाओं की अंतिम अवस्था है, जिसका महत्त्व इस तथ्य के कारण है कि हिंदी, गुजराती, मराठी और बंगला जैसी सभी आधुनिक भाषाएँ उसी से विकसित हुई हैं।

## भाषा और साहित्य

**संस्कृत** का स्थान प्रमुख भाषा के रूप में बना रहा, और उसमें विभिन्न प्रकार का साहित्य लिखा जाता रहा। पालि और प्राकृत का उपयोग बौद्ध और जैन धार्मिक साहित्य लिखने के लिए किया जाता था। वाक्पति द्वारा लिखित *गौड़वहो,* जो कन्नौज के राजा यशोवर्मन की जीवनी थी, प्राकृत की प्राचीन परंपरा वाली अंतिम प्रमुख कृति थी। प्राकृत भाषाओं के अंतिम चरण का रूप था अपभ्रंश, जिसे इस तथ्य के कारण महत्वपूर्ण माना जाता है कि हिंदी, गुजराती, मराठी और बंगला जैसी सभी आधुनिक भाषाएँ इसी से विकसित हुई हैं।

इस काल के दौरान साहित्य का काफी विकास हुआ। इस काल में जो साहित्य-निर्माण हुआ, उसका उत्तरवर्ती शताब्दियों में संबंधित क्षेत्रों में गहरा प्रभाव पड़ा।

इस काल में ऐसे बहुत-से काव्यों की रचना हुई, जिनके दोहरे अथवा दो से भी अधिक अर्थ इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता का निर्माण करते हैं। पाल राजा महिपाल के शासनकाल में संध्याकर नंदी द्वारा रचित *रामचरित* में राम कथा और बंगाल के राजा रामपाल की जीवनी दोनों शामिल हैं।

धनंजय श्रुतोकृति के *राघवपांडवीय* में रामायण और महाभारत की कथाएँ एक साथ दी गई हैं। चालुक्य राजा सोमदेव के दरबारी कवि विद्यामाधव की कृति *पार्वती-रुक्मिणीय* में शिव और पार्वती तथा कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। हेमचंद्र ने भी *सप्तसंधान* नामक एक ग्रंथ की रचना की थी, जिसके सात वैकल्पिक अर्थ निकाले जा सकते हैं। दो, तीन अथवा इससे भी अधिक अर्थों वाला जटिल ढाँचा तैयार करने की प्रवृत्ति से इस बात का पता चलता है कि रचनाकारों के पास पर्याप्त खाली समय और यथेष्ट धन था तथा उस समय के साहित्य में शब्दालंकरण का अत्यधिक चलन था। इस शैली की पराकाष्ठा सोमप्रभाचार्य की रचना *शतर्थकाव्य* में देखी जा सकती है, जिसके प्रत्येक पद का अर्थ सौ तरह से लगाया जा सकता था।

जैन आचार्यों की जीवनियों से संबंधित अनेक ग्रंथों की रचना की गई थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं : वर्धमान द्वारा रचित *आदिनाथचरित,* देवचंद्र रचित *शांतिनाथचरित,* शांतिसूरी रचित *पृथ्वीचंद्रचरित,* देवभद्र रचित *पार्श्वनाथचरित,* हेमचंद्र रचित *कौरपालचरित* और *नेमिनाथचरित*। श्रीहर द्वारा *सुकुमालचरिउ* और हरिभद्र द्वारा *नेमिनाथचरित* पूर्णतः अपभ्रंश में लिखी गई पुस्तकें हैं।

इस काल में बहुत-से ऐतिहासिक ग्रंथ काव्य के रूप में लिखे गए थे। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है, कल्हण की *राजतरंगिणी*। यह एक अद्वितीय कृति है, क्योंकि यह आधुनिक अर्थों में इतिहास लिखने का एकमेव ज्ञात प्रयास है। शंभु द्वारा रचित *राजेंद्र कर्णपूर* कश्मीर के राजा हर्ष की स्तुति के रूप में लिखी गई पुस्तक है। जयनक की *पृथ्वीराजविजय,* हेमचंद्र की *द्वयाश्रय महाकाव्य,* सोमेश्वर की *कीर्तिकौमुदी,* बिल्हण का *विक्रमांकदेवचरित,* पद्मगुप्त की *नवसाहसांकचरित* और सोमदेव की *कीर्तिकौमुदी* इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं।

काव्यशास्त्र पर कई विवेचनात्मक ग्रंथ लिखे गए थे। ऐसी रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, राजशेखर कृत *काव्यमीमांसा,* धनंजय कृत *दशरूप,* भोज कृत *सरस्वतीकंठाभरण,* हेमचंद्र कृत *काव्यानुशासन,* और क्षेमेंद्र कृत *कविकंठाभरण* आदि।

गद्य साहित्य के क्षेत्र में क्षेमेंद्र की *बृहत्कथामंजरी*, सोमदेव की *कथासरित्सागर*, जिनेश्वर सूरी की *कथाकोशप्रकरण* नामक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन कृतियों का गद्य कम जटिल और कम बनावटी प्रतीत होता है। इनकी कहानियों के विषय पारंपरिक स्रोतों से लिए गए थे। ये कहानियाँ आज तक भी लोकप्रिय हैं।

इस काल के नाटकों में एक कोमलता और एक धीमा नाटकीय गुण है और न्यूनतम प्रहसनकारी प्रभाव है। इन नाटकों में पहले के नाटकों के मूल तत्वों को बनाए रखा गया है। प्रसिद्ध नाटक हैं, सोमदेव का *ललितविग्रहराज नाटक*, विशालदेव का *हरिकेलि नाटक*, जयदेव का *प्रसन्नराघव*, बिल्हण का *कर्णसुंदरी*, और हेमचंद्र द्वारा रचित *अभिधानचिंतामणि*, *देशी-नाममाला*, *अनेकार्थसंग्रह* और *निघंटुशेष*।

खगोल और गणित के क्षेत्र में, बारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कराचार्य ने खूब ख्याति अर्जित की। उसके द्वारा लिखित *सिद्धांत शिरोमणि* के चार भाग हैं— *लीलावती*, *बीजगणित*, *ग्रहगणित* और *गोल*। अंतिम भाग का संबंध *खगोल विज्ञान* से है। सिद्धांत शिरोमणि का अति महत्त्वपूर्ण सिद्धांत शाश्वत गति का है, जिसका प्रसार इस्लाम द्वारा लगभग वर्ष 1200 ई. में यूरोप में किया गया। कालांतर में, इसके परिणामस्वरूप विद्युत् प्रौद्योगिकी का विकास हुआ। परमार वंश के राजा भोज ने खगोल विज्ञान पर *राजमृगांक* नामक पुस्तक लिखी।

चिकित्सा के क्षेत्र में आठवीं शताब्दी में *चरक संहिता*, *सुश्रुतसंहिता* और *अष्टांगहृदय* का अनुवाद तिब्बती और अरबी भाषाओं में किया गया। कश्मीर में पंचनंद के दृढ़बल ने *चरकसंहिता* के पाठ को संशोधित किया। माधव ने चिकित्सा के बारे में कई पुस्तकें लिखीं। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना है *निदान* अथवा *ऋग्विंशाचन* जो रोगविज्ञान के बारे में है और जिसका अनुवाद अरबी में हारून-अल-रशीद के मार्गदर्शन में किया गया था। उसकी अन्य रचनाएँ हैं: *चिकित्सा-कुनमुद्गर* और *योगव्याख्या*। वाग्भट्ट द्वितीय के पुत्र तिसता ने *चिकित्साकलिका* अथवा *योगमाला* और तिसता के पुत्र चंद्रथ ने *योगरत्नसमुच्चय* नामक पुस्तक लिखी। बंगाल के बृंद ने 975-1000 ई. के बीच *सिद्धयोग* नामक पुस्तक लिखी।

काव्य, गद्य, नाटकों की इन कृतियों और ऐतिहासिक ग्रंथों के अलावा, धार्मिक ग्रंथों के बारे में कई टीकाएँ लिखी गईं। लक्ष्मीधर की *कृत्यकल्पतरु* और हेमाद्रि की *चतुर्वर्गचिंतामणि* नामक पुस्तकों की रचना इसी काल में हुई। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा और *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर एक टीका लिखी। जीमूतवाहन ने *दायभाग*, *व्यवहारमातृका* और *कालविवेक* नामक पुस्तकें लिखीं। गोविंदराज कृत *मनुवृत्ति*, श्रीधर कृत *स्मृत्यर्थसार*, अपरार्क द्वारा *याज्ञवल्क्यस्मृति* पर लिखित टीका, देवन्नभट्ट द्वारा लिखित *स्मृतिचंद्रिका* इस काल की अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। ये सारी कृतियाँ विभिन्न स्मृतियों पर लिखी गई टीकाएँ और विधि-सार हैं, जिनसे समाज को विनियमित करने के जोरदार प्रयासों का संकेत मिलता है। इसके अलावा राज्य-व्यवस्था के बारे में कई पुस्तकों की रचना की गई, जिनमें ये महत्त्वपूर्ण हैं : माठर द्वारा लिखित *नीतिशास्त्र*, कामंदक द्वारा लिखित *नीतिसार* और सोमदेवसूरी कृत *नीतिवाक्यामृत*।

## समाज

सातवीं शताब्दी ई. से समाज में दो प्रवृत्तियाँ जारी रहीं। एक थी : विदेशी तत्त्वों को आत्मसात करते

रहने की प्रवृत्ति और दूसरी थी : जातिप्रथा की पृथक्करण की प्रवृत्ति। चार वर्ण अभी भी एक छत्र के रूप थे, जिनके नीचे जातियों का उदय होता रहा है, वे अपने अंतर्जातीय संबंध निर्धारित करते रहे, जो मोटे रूप से सैद्धांतिक ढांचे के अनुरूप होते थे, लेकिन स्थान और समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन किए जाते रहे। उस काल की विधि (कानून) में जाति के निर्धारण के लिए जन्म, व्यवसाय और निवास-स्थान को निर्णायक तत्व स्वीकार किया जाता था। परिणामतः अनेक जातियों सहित चार मूल वर्ण थे और ये जातियाँ आगे अनेकानेक उप-जातियों में विभाजित हो गई थीं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों की पहचान उनके गोत्र, पूर्वज, वैदिक ज्ञान की शाखा, मूल निवास-स्थान और गाँव से की जाने लगी। इस काल के शिलालेखों में भी इस तथ्य का वर्णन है। विदेशियों और अन्य स्थानीय लोगों के आत्मसात हो जाने के कारण क्षत्रियों की जातियों में भी वृद्धि हुई। एक विशिष्ट व्यवसाय का रूपांतरण जाति में हो जाने और विभिन्न जातियों के बीच प्रतिलोम-अनुलोम वैवाहिक संबंध स्थापित होने से मिश्रित जातियों की उत्पत्ति हुई। धार्मिक संप्रदायों के आधार पर भी जातियों का निर्माण हुआ; जैसे—लिंगायत, वीरशैव, श्वेतांबर और दिगंबर आदि। सबसे नीचे अंत्यजातियाँ थीं; चांडाल इनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। इन अंत्यजातियों की उप-जातियों की गणना अलग-अलग विधि-निर्माताओं द्वारा, अलग-अलग समय में, अलग-अलग की गई है।

चार वर्णों से संबंधित पारंपरिक व्यवसायों का इस काल में कड़ाई से पालन नहीं किया जाता था। अपने रूढ़िगत व्यवसाय के स्थान पर अन्य व्यवसाय करने की यह प्रवृत्ति कोई नई नहीं थी। यह पहले के काल में भी चलन में थी।

उदाहरण के लिए, ब्राह्मण अपने क्रियाकलापों को अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ और पुरोहित-कर्म तक ही सीमित नहीं रखते थे। अत्रि ने क्षत्रिय ब्राह्मणों का, जो युद्ध कार्य करते थे, वैश्य ब्राह्मणों का, जो कृषि कार्य और व्यापार करते थे, शूद्र ब्राह्मणों का जो लाख, नमक, दूध, घी और शहद आदि बेचते थे, उल्लेख किया है। इसी प्रकार, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने परंपरागत व्यवसायों को छोड़कर अन्य व्यवसायों का अनुसरण करते थे और उनसे कई मिश्रित जातियों का निर्माण हुआ।

इस काल में एक अन्य वर्ग, जो जाति के रूप में उभरा, कायस्थों का था; ये प्रशासन के प्रतिलिपिक थे, जो दस्तावेज लिखने और अभिलेख रखने के लिए जिम्मेदार थे। यद्यपि हमें मौर्य काल से ही कायस्थों का उल्लेख मिलना शुरू हो जाता है, लेकिन प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक वे एक विशिष्ट जाति माने जाने लगे थे।

इस काल के स्मृतिकार विवाह के पुराने नियमों का अनुसरण करते थे। इस काल के साहित्य से भी पुनर्विवाह के संबंध में नए विचारों और प्रथाओं का परिचय मिलता है। *पुनर्भू* और *दिधिषू* जैसे शब्दों का, जिनका अर्थ पुनः विवाहित स्त्री है, उल्लेख साहित्य में बार-बार मिलता है। विवाहों का निर्णय प्रायः माता-पिता या अन्य अभिभावकों द्वारा किया जाता था और कई बार कन्याएँ अपने पतियों का चुनाव स्वयं करती थीं। जहाँ तक महिलाओं की स्थिति का संबंध है, स्मृतियों की टीकाओं में और उस काल के निबंध ग्रंथों में प्राचीन स्मृतियों में निर्धारित नियमों का ही न्यूनाधिक रूप से अनुसरण किया गया है। संपत्ति में महिलाओं के अधिकार को स्मृतिकारों द्वारा स्वीकार किया गया था। विधवा को अपने निस्संतान, दिवंगत पति की समूची संपदा के उत्तराधिकार का हक था।

## आर्थिक जीवन

हर्षोत्तर काल में साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य से कृषि, व्यापार और अर्थव्यवस्था की उन्नत अवस्था का पता चलता है। *मेधातिथि* ने अनाज (धान्य) की श्रेणी में सत्रह वस्तुओं (चावल और जौ सहित) के समूह को शामिल किया था। *अभिधानरत्नमाला* में दालों की अनेक किस्मों और अन्य खाद्यान्नों का उनके पर्यायवाची नामों के साथ उल्लेख किया गया है। *अभिधानरत्नमाला* से हमें कृषि की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त होती है। इसमें कहा गया है कि भूमि को विभिन्न रूपों में अर्थात् उपजाऊ, बंजर, परती, मरुस्थल, बढ़िया तथा हरित घासवाली भूमि, काली अथवा पीली मिट्टी वाली भूमि अथवा ऐसी भूमि के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जिनका उपजाऊपन नदियों अथवा वर्षा पर निर्भर करता है। इसमें आगे कहा गया है कि भिन्न-भिन्न श्रेणियों की फसलों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के खेतों का चयन किया जाता था। *उपमितिभवप्रपंचकथा* में शीतऋतु के वर्णन में गन्नों का रस निकालने के यंत्रों का उल्लेख है। शिलालेखों में *अरहट* (पर्शियन व्हील) और चमड़े की बाल्टियों से सिंचाई किए जाने का वर्णन है। इससे पता चलता है कि तथाकथित पर्शियन व्हील भारत में मुस्लिम शासकों के आगमन से पहले भली-भांति विद्‌यमान था। मेधातिथि ने लिखा है कि किसानों से अन्य बहुत-सी बातों के अलावा यह जानने की अपेक्षा की जाती थी कि किन बीजों की बुवाई सघन रूप से और किन की बुवाई विरल रूप से की जानी चाहिए, कौन-सी मिट्टी किस खास किस्म के बीज के लिए उपयुक्त है और कौन-सी मिट्टी अनुपयुक्त, और किसी खास किस्म के बीज से कितनी फसल अपेक्षित है।

प्रारंभिक अरब लेखकों ने भारत में जमीन के उपजाऊपन, अनाजों और फलों की समृद्‌ध खेती के बारे में लिखा है।

उद्‌योग के क्षेत्र में सबसे पुराना उद्‌योग वस्त्र उद्‌योग है। इस उद्‌योग में गुप्त काल में जो प्रगति हुई थी, वह इस काल में जारी रही। इस काल के अभिलेखों में कपड़े की विभिन्न किस्मों और कोटियों का उल्लेख है; जैसे— ऊनी और सन के धागे से बने कपड़े, रेशम, हिरण के बालों, भेड़ और बकरी के बालों से बने कपड़े। बुनकरों, रंगसाजों और दर्जियों के व्यवसायों का उल्लेख समकालीन साहित्य में किया गया है।

धातुओं का काम सफलतापूर्वक किया जाता था, जैसा कि समकालीन साहित्य में हम ताँबे, पीतल, लोहे, सीसे, टिन, चाँदी और सोने का वर्णन पाते हैं। धातु उद्‌योग के लिए अनेक केंद्र प्रसिद्‌ध थे; जैसे— सौराष्ट्र घंटियों के निर्माण के लिए और वंग प्रदेश टिन उद्‌योग के लिए प्रसिद्‌ध था। विभिन्न ग्रंथों में रत्नों की सूचियाँ दी गई हैं, जिनमें कम से कम 33 किस्मों के रत्नों का जिक्र है और उनमें हीरों, पन्नों, माणिक, मोतियों, नीलम आदि के उत्तम गुणों का विश्लेषण किया गया है। पहले की तरह इस काल में भी व्यापार फल-फूल रहा था। अरब, चीनी और भारतीय स्रोतों में इस बात का वर्णन है कि पूर्व और पश्चिम के बीच भारत के रास्ते से व्यापार होता था। जहाँ तक भारतीय निर्यातों की सूची का संबंध है, अरब यात्री, इब्न खुर्दादबह ने नवीं शताब्दी के अंत में लिखते हुए इस बात का जिक्र किया है कि भारत द्‌वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं; जैसे— मुसब्बर की लकड़ी के विभिन्न उत्पाद, चंदन की लकड़ी, कर्पूर और कर्पूरजल, जायफल, लौंग, नारियल, सब्जियाँ, मखमली सूत और अन्य

किस्मों का कपड़ा, धातुएँ, बहुमूल्य और अल्पमूल्य वाले रत्न, मोती और मीन-उत्पाद आदि।

आयात की वस्तुओं की सूची में घोड़े सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। मध्य और पश्चिम एशिया से सबसे बढ़िया नस्ल के घोड़े मँगाए जाते थे।

गुजरात, मालाबार और तमिलनाडु के तटवर्ती नगरों की समृद्धि ने विदेशी व्यापारियों को भारत में बसने के लिए आकर्षित किया। अरब के भूगोलवेत्ताओं ने भारत के पश्चिमी तट के जिन पत्तनों का उल्लेख किया था, वे थे : देबल (सिंधु डेल्टा में), खंभात, थाना, सोपारा और क्विलोन। इस काल में दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार में विपुल वृद्धि हुई। शैलेंद्र राजाओं ने भारतीय राजाओं के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संबंध स्थापित किए। अरब यात्री शैलेंद्र राजाओं की धन-संपत्ति से आकर्षित हुए और उन्होंने उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

व्यवसाय संघ (श्रेणियाँ) और इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ पिछली शताब्दियों की तरह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रहीं। मेधातिथि औद्योगिक और व्यापारिक दोनों प्रकार के व्यवसाय संघों का जिक्र करता है। इन व्यवसाय संघों में वे व्यक्ति शामिल होते थे, जिनका व्यवसाय एकसमान होता था; जैसे— व्यापारी, कारीगर, साहूकार आदि। कारीगर नगरों और गाँवों दोनों जगहों पर काम करते थे। नगरों में इनका बाहुल्य था, वहाँ व्यावसायिक संघों को मान्यता प्राप्त थी। इस काल के उत्कीर्ण लेखों में हमें न केवल विभिन्न प्रकार के व्यवसाय संघों, बल्कि उनके गठन और कार्यों की भी जानकारी मिलती है। ये संघ धार्मिक उद्देश्यों के लिए पूर्व निधियों की स्थापना करते थे अथवा इन निधियों को न्यासों के पास जमा कराते थे, ताकि उनसे अर्जित ब्याज से इन उद्देश्यों के लिए धन प्रदान किया जा सके। दक्षिण भारतीय पुरालेखों से हमें दो प्रसिद्ध व्यापारिक निगमों के कार्यचालन के साक्ष्य मिलते हैं। इनमें से एक *मणिग्रामम्* है, जिसके नवीं शताब्दी के अंत से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के इतिहास की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसके क्रियाकलापों का संचालन दक्षिण भारत के तटवर्ती पत्तनों में और इसके अलावा आंतरिक नगरों में किया जाता था। दूसरे प्रसिद्ध निगम का नाम है *नानादेशातिसैयायिरत्तु ऐन्नुरुवर*, जिसने ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में अपनी गतिविधियों का विस्तार बर्मा और सुमात्रा तक किया था। इसने अपना कामकाज नवीं शताब्दी से शुरू किया था।

## धर्म और दर्शन

इससे पहले के काल के धार्मिक आचार-विचार की मूलभूत विशेषताएँ इस काल में भी जारी रहीं, लेकिन विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का एक-दूसरे पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके कारण विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के सापेक्ष धार्मिक महत्व में भारी परिवर्तन हो जाता है। शैव मत और वैष्णव मत की देखा-देखी बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों में ईश्वरवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

इस काल में बौद्ध धर्म के विशुद्ध हीनयान और महायान मत का न केवल ह्रास हुआ, बल्कि बौद्ध धर्म में धार्मिक दर्शन के एक नए दौर की शुरुआत हुई। बुद्ध की शिक्षाओं का स्थान, जो कर्मकांड से मुक्त थी, ईसाई युग की प्रारंभिक शताब्दियों में एक नए नैतिक और भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण वाले लोकप्रिय स्वरूप ने ले लिया, जिसमें बुद्ध की ईश्वर के रूप में पूजा की जाने लगी। अब भक्तिगीतों, अनुष्ठानों और समारोहों के साथ यह पूजा और भी

अधिक विस्तारपूर्ण हो गई। बौद्ध धर्म की *वज्रयान* शाखा पर तांत्रिक मत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पुरुष बोधिसत्वों की पत्नियों, ताराओं अथवा रक्षिकाओं को शक्ति जैसा सम्मान दिया जाने लगा। बौद्ध धर्म का जादुई संप्रदायों के साथ संबंध होना एक भ्रामक घटना थी क्योंकि उसकी अधिकतर मूल नैतिक शिक्षाएँ अब कर्मकांडों से और अधिक अभिभूत हो गईं। पाल राजाओं के समर्थन ने इसे पूर्वी भारत में जीवित रखा और राजसी संरक्षण के कारण यह उड़ीसा, कश्मीर और पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भागों में भी बना रहा। दक्षिण भारत में कांची बौद्ध धर्म का एक महान केंद्र था। चोल राजाओं ने भी बौद्धों को दान दिया था। यह कहा जाता है कि बौद्ध धर्म का इसलिए ह्रास होना शुरू हुआ क्योंकि इसे राजकीय संरक्षण मिलना बंद हो गया था और इस्लाम का आगमन इसके लिए अंतिम चोट साबित हुआ। विहारों पर आक्रमण और भिक्षुओं की हत्याओं के परिणामस्वरूप पूर्वी भारत से बौद्धों का निष्क्रमण हो गया।

जैन धर्म ने उत्तरी और पश्चिमी भारत के व्यापारिक वर्गों में लोकप्रियता प्राप्त की और दक्षिण भारत में उसे व्यापक राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। दक्कन में गंग, चालुक्य और राष्ट्रकूट शासकों द्वारा इसे सम्मानित किया गया। इस काल में देश के विभिन्न भागों में बहुत-से जैन *बसदि* (मंदिरों) और महास्तंभों की स्थापना हुई। श्रवणबेलगोला में विशाल प्रतिमा की स्थापना इसी काल में गई। जैन धर्म के चार प्रकार के दान वाले सिद्धांत (स्वाध्याय, अन्न, चिकित्सा और आश्रय) से जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने में सहायता मिली।

तंत्रवाद यानी तांत्रिक मत एक अन्य संप्रदाय था, जो इस काल में लोकप्रिय बना। तांत्रिक मत का उदय छठी शताब्दी में हुआ, लेकिन वह आठवीं शताब्दी से जोर पकड़ने लगा। पूर्वोत्तर भारत में इसका जोर सबसे अधिक था और इसके तिब्बत के साथ घनिष्ठ संबंध थे। इसके कुछ कर्मकांड तिब्बती प्रथाओं से अपनाए गए थे। यह कहा जाता है कि तांत्रिक मत वैदिक संप्रदायों का सरल रूप है और इसके द्वारा सभी जातियों और महिलाओं के लिए भी खुले थे। तांत्रिक मार्ग में प्रार्थनाओं, रहस्यपूर्ण सूत्रों, जादुई यंत्रों और प्रतीकों एवं किसी देवता-विशेष की पूजा की प्रमुखता है। मातृ-देवी को परम सम्मान दिया जाता था क्योंकि जीवन का सृजन माँ की कोख में होता है। इस प्रकार यह शाक्त-शक्ति संप्रदाय से भी संबंधित था। तांत्रिक मत में गुरु का स्थान सबसे ऊँचा होता था, क्योंकि जो लोग किसी संप्रदाय के सदस्य बनना चाहते थे, उन्हें किसी गुरु से दीक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। यह कहा जाता है कि तांत्रिक मत की रुचि जादू में होने के परिणामस्वरूप विशेष रूप से रसायनों और धातुओं के साथ प्रयोग किए जाने के कारण कुछ अर्ध-वैज्ञानिक किस्म की खोजें हुईं।

हिंदू धर्म अब शैव मत और वैष्णव मत के रूप में लोकप्रिय हो गया। पूर्ववर्ती काल में धार्मिक जीवन की दो विशेषताएँ अर्थात् सहिष्णुता और मूर्तिपूजा, न केवल पूरे जोर से जारी रहीं, बल्कि वैयक्तिक धार्मिक इष्टदेव की लोकप्रिय माँग के कारण ये और भी अधिक मजबूत हो गईं। इस प्रयोजन से, देवी-देवताओं के अनेकानेक नए रूपों की शुरुआत हुई और उन्हें अधिष्ठित करने के लिए मंदिरों और देवालयों की आवश्यकता हुई।

वैष्णव धर्म में विष्णु के अवतार अधिक लोकप्रिय हो गए और पुराणों तथा महाकाव्यों के क्षेत्रीय भाषाओं के संस्करणों से इन ग्रंथों में लोगों की रुचि में वृद्धि हुई और अवतारों की कथाओं की परंपरा प्रारंभ हुई। कृष्णावतार सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ।

कृष्ण और राधा की पूजा एक संप्रदाय के रूप में की जाने लगी। अब उनके प्रेम की व्याख्या जीवात्मा और परमात्मा के बीच के प्रेम और आसक्ति के रूप में की जाती थी।

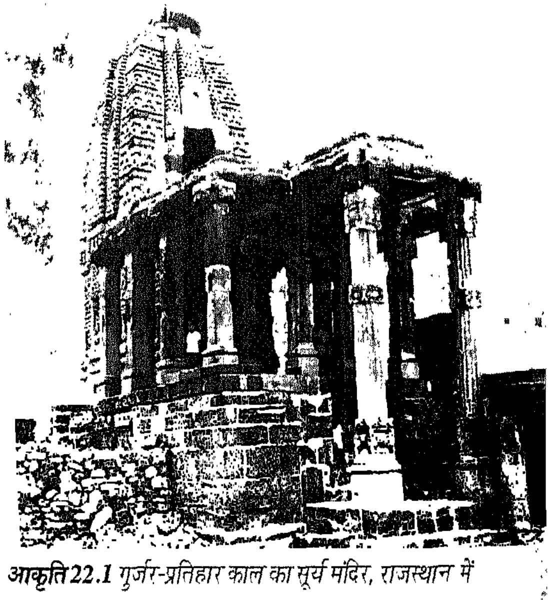
दक्षिण में आलवार तमिल वैष्णव धर्म के भावनात्मक पक्ष के प्रतिनिधि थे और उनके परवर्ती आचार्य, वैष्णव धर्म के बौद्धिक और दार्शनिक पक्षों के व्याख्याता थे और उन्होंने इसे लोकप्रिय बनाया।

शैव धर्म ने समाज में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। मुख्य सिद्धांत वही बने रहे, यद्यपि स्थानीय भिन्नताएँ थीं और उनके परिणामस्वरूप कुछ सैद्धांतिक मतभेद भी थे। शैव धर्म का एक रूप, जिसे कश्मीरी शैव धर्म कहा जाता है, एक प्रकार का एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद है। यह नौवीं और दसवीं शताब्दी ई. में लोकप्रिय बना। दक्षिण में शैव संतों, नायनारों ने इसे और अधिक लोकप्रिय बनाया। एक अन्य लोकप्रिय आंदोलन जो दक्षिण में फैला, लिंगायत अथवा वीरशैव मत था, जिसके दर्शन पर शंकर और रामानुज दोनों का प्रभाव पड़ा। कलचुरी राजा बिज्जल के प्रधानमंत्री बासव ने उसे प्रतिष्ठा एवं प्रमुखता दिलवाई। लिंगायत शैव धर्म के अनुयायी हैं। उन्होंने प्रेम और आत्म-समर्पण, सत्य, नैतिकता और शुचिता पर बल दिया। वे विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति देते थे।

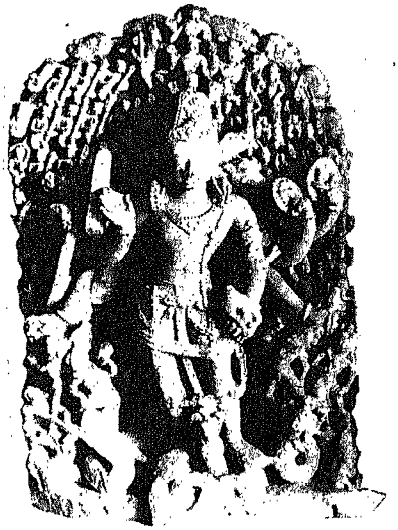
नायनार (शैव संतों) और आलवारों (वैष्णव संतों) के नेतृत्व में भक्ति आंदोलन देशभर में फैल गया। ये संत अपने प्रेम और भक्ति के संदेश को लेकर स्थान-स्थान पर गए। उन्होंने जातियों की असमानता को नकार दिया। इन संतों द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग सबके लिए खुला था, चाहे उनकी कोई भी जाति हो। इस भक्ति आंदोलन में एक ओर वेदों और वैदिक पूजा-पाठ पर फिर से जोर दिया गया और दूसरी ओर एक सशक्त साहित्यिक और बौद्धिक आंदोलन चलाया गया।

इस काल के महान बुद्धिजीवियों और दार्शनिक विभूतियों में से एक शंकर था, जिसे आदिशंकराचार्य के नाम से भी जाना जाता था। शृंगेरी मठ की परंपरा के अनुसार, उनका जन्म सन् 788 ई. में केरल में हुआ था। जब बालक शंकर तीन वर्ष के थे, तो उनके पिता शिवगुरु की मृत्यु हो गई. वे एक यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे। शंकर ने आठ वर्ष की आयु में संन्यास धारण कर लिया। शंकर ने काशी में शिक्षा प्राप्त की और अध्ययन समाप्त करने के बाद वे दिग्विजय के लिए चल पड़े। शंकर अपने दर्शन का प्रचार करने और अन्य विद्वानों से शास्त्रार्थ करने के लिए देश भर में घूमते रहे।

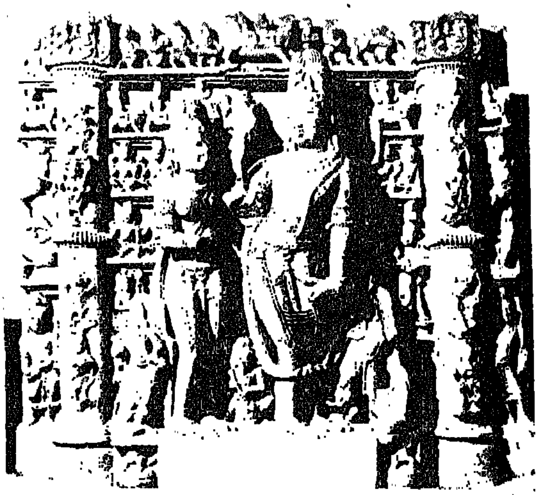
शंकर के दर्शन को अद्वैत कहा जाता है। उनका विश्वास था कि परम सत्य, जिसे ब्रह्म कहते हैं, अद्वैत है। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की; जैसे-



***आकृति 22.1** गुर्जर-प्रतिहार काल का सूर्य मंदिर, राजस्थान में*



*आकृति 22.2 गुर्जर-प्रतिहार काल की विष्णु की विश्वरूप प्रतिमा*



*आकृति 22.3 गुर्जर-प्रतिहार कालीन प्रतिमा में शिव-पार्वती विवाह का दृश्य*

*ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषदों* पर टीका, *भगवद्गीता* पर टीका आदि। शंकर ने वेदों को सच्चे ज्ञान का मूल स्रोत बताया।

शंकर की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने शैव धर्म की अद्वैत विचारधारा की दस शाखाएँ संगठित कीं, जिन्हें *दशनामी* कहा जाता है। एकता और समन्वय तथा बेहतर परस्पर-संपर्क स्थापित करने के लिए, उन्होंने देश के चार कोनों में चार मठ स्थापित किए। ये हैं : उत्तर में बद्रीनाथ में ज्योतिर्मठ, पश्चिम में द्वारावती (द्वारका) में शारदापीठ, पूर्व में पुरी में गोवर्धनमठ और दक्षिण में शृंगेरीमठ। उन्होंने अपने चार शिष्यों को इनमें से प्रत्येक मठ में भेजा। प्रत्येक मठ का एक गोत्र, अधिष्ठातृ देव, पुरुष और स्त्री दोनों, और विशुद्ध एकेश्वरवाद के दार्शनिक सार-तत्व के प्रतीकस्वरूप एक विशिष्ट सूत्र होता है। शंकर ने संन्यासियों को जिन दस शाखाओं में संगठित किया, वे हैं, *गिरि* (पहाड़ी), *पुरी* (नगर), *भारती* (विद्या), *वन* (लकड़ी), *अरण्य* (जंगल), *पर्वत, सागर, तीर्थ* (मंदिर), *आश्रम* (आश्रय), और *सरस्वती* (सच्चा ज्ञान)। शंकर का 32 वर्ष की आयु में देहावसान हो गया। वे एक महान आचार्य थे, जिन्होंने हिंदू धर्म को कीर्ति के एक नए उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

एक अन्य दार्शनिक और बुद्धिजीवी का नाम रामानुज था। वह एक तमिल ब्राह्मण थे, जिनका जन्म 1017 ई. के आसपास तिरुपति में हुआ था। रामानुज शंकर से इस बात में असहमत थे कि ज्ञान मोक्ष का मुख्य साधन है। उन्होंने भक्ति को वेदों की परंपरा में शामिल करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर के ज्ञान की अपेक्षा ईश्वर की कृपा प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार रामानुज ने भक्ति और वेदों के ज्ञान के बीच सेतु निर्माण करने का प्रयत्न किया।

## शिक्षा

पहले की शताब्दियों में धीरे-धीरे जो शिक्षा-प्रणाली विकसित हुई थी, वह इस काल में भी जारी रही। उत्तरवर्ती *स्मृतियों* ने एक नया अनुष्ठान आरंभ किया, जिसे *विद्यारंभ* और *अक्षरस्वीकृति* अथवा *अक्षराभ्यास* कहा जाता था। इस काल में हमें विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ मिलती हैं। सबसे पहला स्थान मंदिरों का है, जो लोगों की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति के स्रोत के साथ-साथ, सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक केंद्रों के रूप में विकसित हुए। अभिलेखों से हमें उनके विविधतापूर्ण कार्यों की कुछ जानकारी मिलती है; जैसे—वे बैंकों, कोषों, न्यायालयों, उद्यानों, प्रदर्शनी केंद्रों, हस्तशिल्प, नृत्य, संगीत और विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाकलापों के संवर्धकों, शिक्षा केंद्रों और अस्पतालों के रूप में कार्य करते थे और इस प्रकार बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार प्रदान करते थे। पहले की तरह अब भी मंदिरों में शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यार्थियों को मंदिरों के पुजारियों द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी, जैसा कि गाँवों के छोटे मंदिरों में होता था अथवा वे बड़े मंदिरों के साथ संबद्ध महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे। महाविद्यालयों में पाठ्यक्रमों का आयोजन सुव्यवस्थित तरीके से किया जाता था, जिसमें नियमित रूप से उपस्थित रहना और शिक्षा प्राप्त करना अपेक्षित था। व्यावसायिक शिक्षा प्रशिक्षुओं को व्यवसाय संघों में अथवा शिल्पकारों के समूहों में प्रशिक्षण दिया जाता था। अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय स्तर पर, संतों और वृद्धजनों द्वारा मौखिक शिक्षा दी जाती थी, जो महाविद्यालयों में प्रदान की जाने वाली संस्कृत की शिक्षा से कहीं अधिक सरल होती थी। विभिन्न शिक्षा केंद्र धर्म और दर्शन पर चर्चा करने को प्रोत्साहन देते थे। भारत के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में स्थित मठों और अन्य शिक्षा केंद्रों से विचारों के मुक्त प्रवाह में और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक उनके आदान-प्रदान में सहायता मिलती थी। उच्च शिक्षा तब तक पूरी नहीं समझी जाती थी, जब तक कि विद्यार्थी देश के विभिन्न भागों में स्थित विभिन्न शिक्षा केंद्रों में जाकर वहाँ के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ-चर्चा न कर ले। विचारों के देशव्यापी आदान-प्रदान का यह तरीका भारत की सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण रखने और उसे सुदृढ़ बनाने के लिए महत्वपूर्ण था।

विक्रमशिला, ओदंतपुर, वलभी और नालंदा के जैन और बौद्ध विहारों में भी, जो उच्च शिक्षा के महान केंद्र थे, शिक्षा उपलब्ध होती थी। उस काल के शिलालेखों और साहित्य से यह प्रमाणित होता है कि उस समय ऐसी सुसंगठित शिक्षा संस्थाओं का अस्तित्व था, जिनकी स्थापना और जिनका अनुरक्षण-संचालन राजाओं से लेकर जनसाधारण द्वारा किया जाता था। वस्त्र, भोजन और निवास-स्थान सहित, शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जाती थी। उस काल के उत्कीर्ण लेखों में विद्या के प्रयोजन से दिए जाने वाले विभिन्न प्रकार के दानों का उल्लेख है, जिनमें भूमि-दान भी शामिल है। विद्या के प्रयोजन से दान देने की यह परंपरा भारतीय समाज में अभी भी विद्यमान है। प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली को विदेशी यात्रियों द्वारा अद्वितीय समझा जाता था, क्योंकि प्रत्येक गाँव में एक विद्यालय होता था और उसके भरण-पोषण में प्रत्येक व्यक्ति योगदान देता था। इसके परिणामस्वरूप, उन्नीसवीं शताब्दी तक, विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में साक्षरता की दर सबसे ऊँची थी। ब्रिटेन और यूरोप के इतिहासकारों

और शिक्षाविदों द्वारा भी यह बात स्वीकार की गई है।

## कला और स्थापत्य

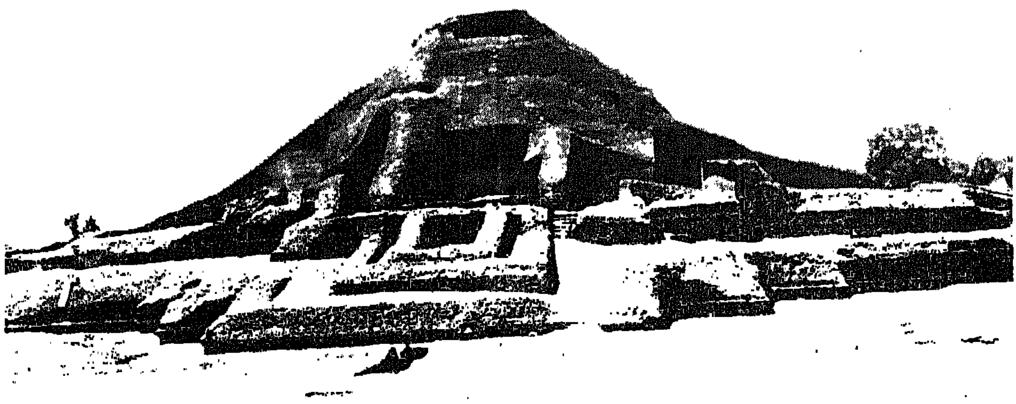
जहाँ तक कला और स्थापत्य का संबंध है, यह काल निस्संदेह उनके उत्कर्ष का काल था, जिसका पता उन असंख्य मंदिरों से चलता है जो पिछले 1,200 वर्षों से खड़े हैं। ये मंदिर उस काल के सर्वोत्कृष्ट भवनों में हैं और स्थापत्य कला की अधिकतर शैलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उड़ीसा, विशेष रूप से भुवनेश्वर के सुप्रसिद्ध मंदिर नागर शैली अथवा उत्तर भारतीय शैली के सर्वोत्तम नमूने हैं। प्रत्येक मंदिर में एक *विमान* (शिखर) और एक *जगमोहन* (पूजा मंडप) और उसके अलावा एक *नट मंडप* (नृत्य मण्डप) और *भोग मंडप* है। इस किस्म के सबसे बढ़िया उदाहरण भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर और कोणार्क का सूर्य मंदिर हैं।

एक अन्य स्थान, जहाँ पर नागर शैली के अनेक मंदिर अभी भी विद्यमान हैं, बुंदेलखंड में खजुराहो है। ये मंदिर चंदेल राजाओं द्वारा बनवाए गए थे; ये ऊँचे उठे आसन (प्लिंथ) पर निर्मित हैं और अपनी नक्काशी और कामोत्तेजक मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। कंदरिया महादेव मंदिर इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है।

कश्मीर में ललितादित्य मुक्तापीड द्वारा लगभग आठवीं शताब्दी ई. में निर्मित सूर्य मंदिर, जिसे मार्तण्ड मंदिर कहा जाता है, यह स्थापत्य की कश्मीर शैली का सर्वोत्तम उदाहरण है।

जैन भी महान निर्माणकर्ता थे और उनके मंदिरों में आमतौर पर अष्टभुज गुंबद होता है और उन्हें जैन पौराणिक कथाओं में से चुने गए विषयों से सजाया गया है। इस स्थापत्य शैली के उत्तम उदाहरण दिलवाड़ा (माउंट आबू) और शत्रुंजय (पालीताना) के प्रसिद्ध मंदिर हैं। ये मंदिर अपनी बारीक और बढ़िया नक्काशी और उत्तम अभिकल्प (डिजाइन) के लिए उल्लेखनीय हैं। श्रवणबेलगोला (हसन, जिला मैसूर) में प्रथम जिन ऋषभनाथ के पुत्र गोम्मतेश्वर की जो जैन मूर्ति (57 फुट ऊँची) है, वह संसार की बिना किसी सहारे के खड़ी सबसे ऊँची मूर्तियों में से एक है। इंद्रगिरि पहाड़ी पर स्थित ग्रेनाइट पत्थर की यह मूर्ति *कायोत्सर्ग*



***आकृति 22.4*** *धर्मपाल के समय का पहाड़पुर स्तूप (अब बांग्लादेश में)*



(क) (ख)

*आकृति 22.5 (क) नालंदा से प्राप्त बोधिसत्व, पाल काल (ख) नालंदा से प्राप्त अवलोकितेश्वर, पाल काल*

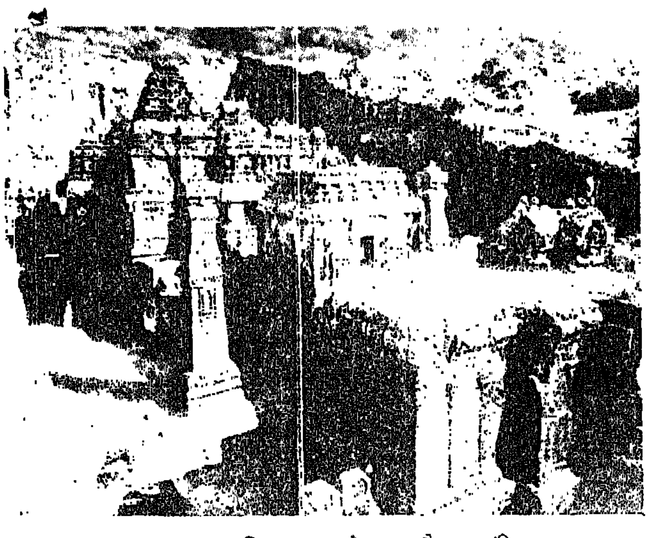
हलेबिड यद्यपि अपूर्ण निर्मित है, किंतु अपनी संरचना और अलंकरण की दृष्टि से किसी भारतीय मंदिर से कम नहीं है। दक्षिण में बिना सहारे के खड़े मंदिरों के अलावा, ऐसे मंदिर भी हैं, जो ठोस चट्टान काटकर बनाए गए हैं। एलोरा का कैलाश मंदिर, जो शिव को समर्पित है और जो राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण प्रथम के शासनकाल में बनाया गया था, संसार में स्थापत्य कला का एक अद्भुत नमूना माना जाता है।

दक्षिण में पल्लवों ने कला को बहुत अधिक गति प्रदान की और दलवनूर (अरकाट जिला), पल्लवरम, वल्लम (चिंगलपेट जिला), मामल्लपुरम् के रथ और समुद्रतटवर्ती मंदिर, कांची स्थित कैलाशनाथ मंदिर आज उन पल्लवों की कलात्मक प्रतिभा के पवित्र स्मारकों के रूप में खड़े हैं।

चोल राजाओं ने पल्लवों की स्थापत्य परंपराओं को आगे बढ़ाया और दक्षिण में अनेक मंदिरों का

तपस्या में लीन ऐसे व्यक्ति की है जो अविचल शांति का प्रतीक है, अपने पैरों पर लिपटे साँपों, अपनी जांघों पर रेंगने वाले कीड़ों अथवा अपने कंधों तक पहुँच चुके झाड़-झंखाड़ से विक्षुब्ध नहीं है।

दक्कन में वातापी (बादामी) और पट्टडकल (बीजापुर जिला) के मंदिर शैली की दृष्टि से भिन्न हैं। ये मंदिर व्यापक रूप से सजाए गए आसन (प्लिंथ) पर खड़े हैं। इनके कुछ उत्तम उदाहरण हैं, *हेलेबिड* में स्थित होयसलेश्वर मंदिर,



*आकृति 22.6 एलोरा का कैलाश मंदिर*

निर्माण किया। द्रविड़ मंदिर वर्गाकार *विमानों, मंडपों, गोपुरम,* अत्यधिक सज्जित स्तंभों वाले विशाल कक्षों, अलंकरणों के पारंपरिक सिंहों (याली), कोष्ठकों (ब्रेकेट) और संयुक्त स्तंभों, आदि के उपयोग के लिए उल्लेखनीय हैं। उत्तरोक्त ढांचों में केंद्रीयगुंबद उन अत्यंत सुंदर नक्काशी वाले गोपुरम के समक्ष, जो बहुत ऊँचे होते हैं, छोटे पड़ जाते हैं। इस शैली का सर्वोत्तम उदाहरण मदुरै स्थित मीनाक्षी मंदिर है, जहाँ इस शैली का चरमोत्कर्ष दिखता है। अधिकतर हिंदू मंदिर शिव अथवा विष्णु को समर्पित हैं।

स्थापत्य और मूर्तिकला के अलावा, चित्रकला का भी प्रचलन था। भित्तिचित्रों की प्राचीन परंपरा का उपयोग मंदिरों और महलों की दीवारों को सजाने के लिए किया जाता था। लघुचित्रों का अंकन भी इसी काल में शुरू हुआ, जो बाद में मुगल काल में लोकप्रिय हो गया। पश्चिम भारत के जैन मुनियों, नेपाल और पूर्वी भारत के बौद्धों, दक्षिण के शैवों और वैष्णवों ने अपनी पांडुलिपियों को चित्रांकित करना शुरू किया। वे ताड़ के पत्तों पर छोटे-छोटे चित्र बनाते थे उनमें से अधिकांश ग्रंथ में वर्णित दृश्यों के चित्र होते थे। शुरू में ये चित्र बड़े सादे होते थे, किंतु धीरे-धीरे इनमें अधिक ब्योरे और रंग भरे जाने लगे, अंततोगत्वा ये चित्र लघुचित्रकला के उत्कृष्ट नमूने बन गए।

## अभ्यास

1. निम्नलिखित को स्पष्ट करें :
   काव्य, पुनर्भू, धान्य, वज्रयान, बोधिसत्व, बसदि, अद्वैत, मठ, विमान, गोपुरम।
2. कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं के संदर्भ में, हर्षोत्तर काल की साहित्यिक कृतियों का वर्णन करें।
3. व्यापार और वाणिज्य के विशेष संदर्भ में इस काल की आर्थिक स्थिति के बारे में लिखें।
4. हर्षोत्तर काल में निम्नलिखित के बारे में लिखें :
   (i) सामाजिक स्थिति
   (ii) धर्म और दर्शन
   (iii) शिक्षा
   (iv) कला और स्थापत्य

**करने के लिए कार्य**

- इस काल की कला और स्थापत्य के बारे में एक परियोजना तैयार करें।
- अन्य देशों के साथ भारत के संबंधों के बारे में एक परियोजना तैयार करें।
- शंकर द्वारा स्थापित चार मठों के बारे में सामग्री संकलित करें।



अध्याय 23

# दक्षिण-पूर्व एशिया के विशेष संदर्भ में बाहरी संसार के साथ सांस्कृतिक संपर्क

**इस** विस्तार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह विस्तार किन्हीं विजय अभियानों द्वारा अथवा किसी व्यक्ति या समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा करके नहीं, बल्कि भारत के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को स्वेच्छा से स्वीकार किए जाने के फलस्वरूप हुआ था।

**हमने** पूर्ववर्ती अध्यायों में देखा है कि ई.पू. तीसरी सहस्राब्दी के लगभग मध्य से ही भारत का बाहरी संसार के साथ वाणिज्यिक संबंध था। भारत उस समय मेसोपोटामिया की सभ्यता के संपर्क में था, जहाँ हड़प्पा सभ्यता के भौतिक अवशेष मिले हैं।

लेकिन, इस संपर्क का सबसे अधिक उल्लेखनीय पहलू यह रहा है कि संसार के विभिन्न भागों, विशेष रूप से मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, चीन, जापान, कोरिया आदि में भारत की संस्कृति और सभ्यता का विस्तार हुआ। इस विस्तार का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह विस्तार किन्हीं विजय अभियानों द्वारा अथवा किसी व्यक्ति या समाज के अस्तित्व को खतरा पैदा करके नहीं, बल्कि भारत के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को स्वेच्छा से स्वीकार किए जाने के फलस्वरूप हुआ था। किसी भी अन्य संस्कृति और सभ्यता ने अपना विस्तार अहिंसा और सांस्कृतिक प्रभाव के जरिए नहीं किया।

## मध्य एशिया और चीन

दूसरी शताब्दी ई.पू. से भारत ने चीन, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और रोम साम्राज्य के साथ वाणिज्यिक संबंध स्थापित कर रखे थे। भारत के स्थल-मार्ग सिल्क-मार्ग से जुड़े हुए थे, जो चीन से शुरू होता था और लगभग समूचे एशिया से गुजरकर कैस्पियन सागर तक जाता था। यह सिल्क मार्ग उस समय के ज्ञात संसार की संस्कृतियों के आदान-प्रदान होने का एक महान माध्यम था।

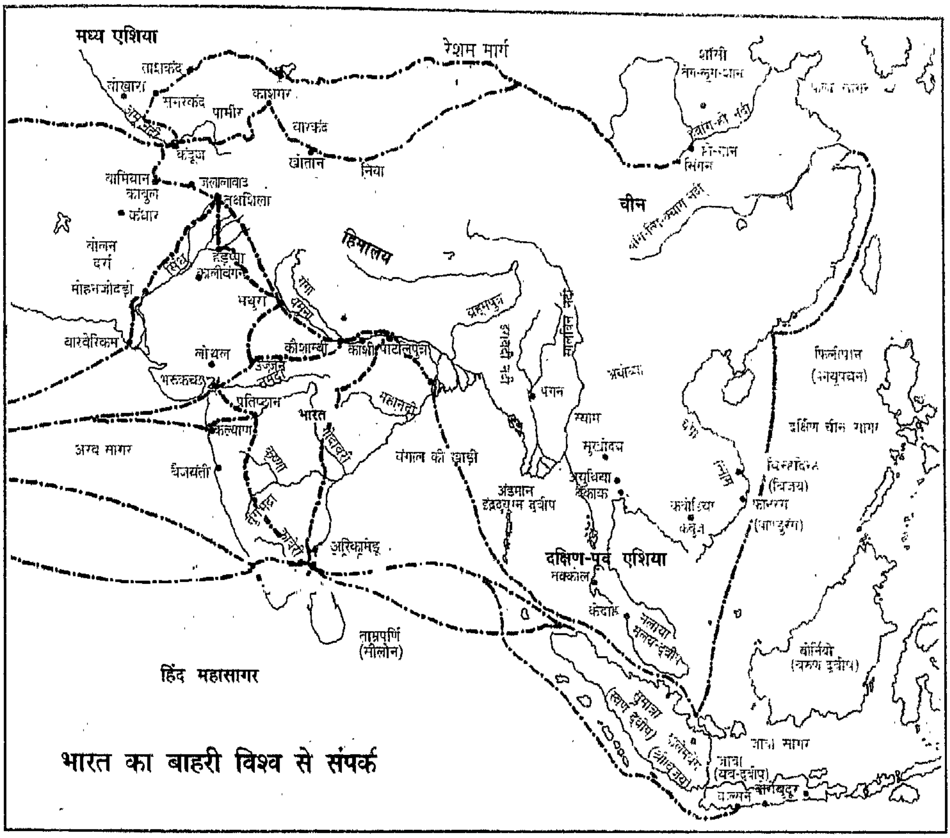
सिल्क-मार्ग के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रभाव मध्य एशिया और चीन में प्रबल रूप से महसूस किया जाता था। भारत और मध्य एशिया के देशों के बीच जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ, वह इन देशों में मिले प्राचीन स्तूपों, मंदिरों, विहारों, मूर्तियों और चित्रों से स्पष्ट दिखाई देता है। बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत और बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हुआ। इसके अतिरिक्त चीनी यात्रियों, फाहियान और ह्वेनसांग ने, जो क्रमशः पाँचवीं और सातवीं शताब्दी ई. में भारत आए थे, इस क्षेत्र के इतिहास और संस्कृति पर काफी प्रकाश डाला है। तुरफान, खोतान, कूची, अक्सु, काशगर, करशहर (अग्निदेश) बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के महान केंद्र थे। आरंभिक कुषाणों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और उन्होंने इसे मध्य एशिया की यायावर जातियों में फैलाने का कार्य किया था। बौद्ध धर्म ने मध्य एशिया के लोगों की हिंसात्मक जीवन पद्धति को नए सांचे में ढालकर कोमल बना दिया और वह वहाँ पर एक हजार वर्षों से अधिक समय तक एक प्रमुख धार्मिक शक्ति बना रहा। हमें यह भी ज्ञात है कि कुछ कुषाण राजाओं ने हिंदू धर्म अपना लिया था।

चीन और भारत के बीच प्रारंभिक संपर्क तीन व्यापारिक मार्गों — मध्य एशिया, यूनान और बर्मा के जरिए, तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के रास्ते समुद्री मार्ग द्वारा स्थापित किए गए थे। भारत और चीन के बीच नियमित संपर्क लगभग दूसरी शताब्दी ई.पू. में शुरू हुए। कुषाण राजाओं, विशेष रूप से कनिष्क के शासनकाल से बौद्ध धर्म ने चीन पर बहुत प्रभाव डाला। बौद्ध धर्म-प्रचारक बड़े दुर्गम प्रदेशों और कठिन मार्गों से एशिया के क्षेत्रों को पार करते हुए प्रथम शताब्दी ई.पू. से चीन जाने लगे थे। उन्होंने चीन के क्षेत्र को मध्य एशिया से भिन्न पाया। चीन के लोग अत्यंत सुसंस्कृत थे। उन्होंने बुद्ध के रोमांचकारी संदेश को बड़े चाव से सुना। बौद्ध दर्शन ने उनके मन और बुद्धि को प्रभावित किया, क्योंकि चीन में पहले से कंफ्यूशियस की दार्शनिक विचारधारा

विकसित थी। बौद्ध धर्म ने वहाँ पर लोगों को आपस में जोड़ने वाले तत्व के रूप में कार्य किया। उसने कंफ्यूशियस के दर्शन को आत्मसात कर लिया और वह चीनी जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

भारतीय विद्वानों में जो चीन गए थे, सबसे उल्लेखनीय नाम कुमारजीव का है, जो वहाँ 12 वर्ष (401-412 ई.) रहा। उसने वहाँ पर बौद्ध धर्म को फैलाने का कार्य किया। नए धर्म को स्वीकार करने के बाद, चीन के बौद्ध विद्वान उसके बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो गए। एक लंबा और संकटपूर्ण सफर तय करके और रास्ते के खतरों को झेलते हुए, वे बुद्ध की भूमि की यात्रा करने के लिए भारत आए। वे भारत में रहे और उन्होंने बौद्ध अवशेष और बौद्ध धर्म से संबंधित पांडुलिपियाँ संकलित कीं और विभिन्न शिक्षा केंद्रों में रह कर बौद्ध धर्म के बारे में जानकारी प्राप्त की।

जिन चीनी भिक्षुओं ने भारत की यात्रा की, उनमें फाहियान सबसे पहला यात्री प्रतीत होता है। वह चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया।




*आकृति 23.1 भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का मानचित्र*

सन् 420 ई. में फाहियान के नेतृत्व में भिक्षुओं का एक दल भारत आया। सातवीं शताब्दी ई. में ह्वेनसांग और ईत्सिंग भारत आए। हर्ष के शासनकाल में चीन और भारत ने राजदूतों का आदान-प्रदान भी किया।

चौथी और छठी शताब्दियों के दौरान भारतीय विद्वान भी चीन गए। उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय थे, बुद्धयश, गुणभद्र, जिनगुप्त, जिनभद्र, परमार्थ, बोधिधर्म और धर्मगुप्त। उन्होंने चीन के लोगों को बहुत प्रभावित किया। विद्वानों और भिक्षुओं के इस पारस्परिक आवागमन से सांस्कृतिक संपर्क बने और विचारों का आदान-प्रदान हुआ। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया, जापान, मंगोलिया और अन्य पड़ोसी देशों में फैला, जहाँ इसका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ और इसने इन देशों के सांस्कृतिक इतिहास में सशक्त भूमिका अदा की।

## श्रीलंका

*रामायण* के दिनों से ही भारत का श्रीलंका के साथ संपर्क था, जिसे *रामायण* में लंका कहा गया है। सीता का हरण किए जाने और उसे लंका लेकर जाने की कहानी भारत के हर बच्चे को मालूम है, हालांकि बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि *रामायण* की लंका संभवतः श्रीलंका से भिन्न थी। प्राचीन काल में श्रीलंका को *ताम्रपर्णि* भी कहा जाता था।

मौर्य काल में अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और अपनी पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए श्रीलंका भेजा था। इन दो राजकीय धर्म-प्रचारकों द्वारा श्रीलंका में जिस प्रसिद्ध बोधिवृक्ष का पौधा रोपा गया था, कालांतर में वह अत्यंत पल्लवित और पुष्पित हुआ। श्रीलंका के अधिकतर लोगों ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया। समुद्रगुप्त के शासनकाल में श्रीलंका के राजा मेघवर्मा ने समुद्रगुप्त के पास अपना राजदूत यह अनुरोध करने के लिए भेजा कि उसे श्रीलंका से आने वाले बौद्ध-यात्रियों के लिए बोधगया में एक विहार बनाने की अनुमति दी जाए। श्रीलंका की संस्कृति को आकार देने में बौद्ध धर्म ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। *दीपवंश* और *महावंश* ग्रंथ श्रीलंका के सुप्रसिद्ध बौद्ध स्रोत हैं। श्रीलंका के साहित्य, चित्रकारी, नृत्य, लोक-कथाओं, कला और स्थापत्य आदि पर भारत का बहुत प्रभाव पड़ा। पल्लव राजा नरसिंहवर्मन ने श्रीलंका के राजा मानवर्मा को अपना राज्य प्राप्त करने में सहायता दी। राजराज के शासनकाल (985-1014 ई.) में यह चोल साम्राज्य का भाग भी बना।

## मयनमार (म्यांमार)

मयनमार (जो पहले बर्मा के नाम से जाना जाता था) भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुआ। ह्वेनसांग ने इस क्षेत्र के अनेक राज्यों का उल्लेख किया है, जिन्होंने हिंदू धर्म अपना लिया था। मयनमार ने न केवल भारतीय धर्म को, बल्कि उसकी संस्कृति, भाषा आदि को भी अपना लिया। उन्होंने अपनी स्वयं की पालि भाषा विकसित की और बौद्ध तथा हिंदू धर्मग्रंथों का अनुवाद अपनी पालि भाषा में किया। अनेक बड़े-बड़े और कलात्मकतापूर्ण बौद्ध और ब्राह्मण *धर्म* के मंदिर मयनमार में बनाए गए।

## दक्षिण-पूर्व एशिया

दक्षिण-पूर्व एशिया का क्षेत्र मसालों, खनिजों और धातुओं के मामले में सदा समृद्ध रहा है। इसीलिए प्राचीन काल में, भारतीय इसे सुवर्णभूमि अथवा सुवर्णद्वीप कहते थे। भारतीय बहुत प्राचीन समय से व्यापार और साहसिक कार्यों के लिए भारत से दक्षिण-पूर्व एशिया की यात्रा करते थे, जैसा कि

*जातकों, बृहत्कथा, कथासरित्सागर* की कहानियों में कहा गया है। इसके अलावा *पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी* जैसे विदेशी स्रोतों में भी इन देशों में भारतीय व्यापारियों द्वारा यात्रा किए जाने का उल्लेख किया गया है। इन यात्रियों के साथ-साथ भारतीय धर्मों और संस्कृति का संदेश भी इन देशों में फैला। तीसरी और चौथी शताब्दी ई. के आस-पास, वहाँ भारतीय नामों वाले और संभवतः भारतीय वंश के राजाओं के अधीन शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों का विकास हुआ। यहाँ भी अधिकतर राजवंश और राजा अपना मूल भारत के साथ जोड़ते थे।

चंपा (अन्नाम) और कंबुज (कंबोडिया) के प्रसिद्ध राज्यों पर भारतीय मूल के राजाओं का शासन था। चंपा के शासक महान योद्धा थे और उन्होंने एक हजार वर्ष से अधिक समय तक अपने पड़ोसियों से अपनी स्वतंत्रता को सफलतापूर्वक बनाए रखा, लेकिन उसके बाद मंगोलों ने चंपा को रौंद डाला।

कंबुज में भारतीय मूल के कौडिन्य वंश ने प्रथम शताब्दी ई. से शासन किया। कंबुज के राजाओं ने अपने राज्य को एक विशाल रूप दिया। जब यह साम्राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर था तो इसमें लगभग समूचा आधुनिक वियतनाम और मलय शामिल था। हम अनेक संस्कृत शिलालेखों और साहित्यिक रचनाओं से कंबुज के इतिहास की पुनर्सरचना कर सकते हैं। हम इसके शानदार मंदिरों से, जो अभी भी देखे जा सकते हैं, उसकी प्राचीन भव्यता की झलक प्राप्त कर सकते हैं।

प्रसिद्ध शैलेंद्र राजवंश, जिसके विशाल साम्राज्य में मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली शामिल थे, अपना मूल उद्गम भारत को बताते थे। आठवीं शताब्दी में स्थापित यह शैलेंद्र साम्राज्य एक समृद्धशाली साम्राज्य था और यह तेरहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में रहा। ग्यारहवीं शताब्दी ई. में शैलेंद्र साम्राज्य का दक्षिण भारत के चोल साम्राज्य के साथ समुद्री संघर्ष हुआ। राजेंद्र चोल ने शैलेंद्र साम्राज्य के कुछ भाग मुख्यतः आधुनिक इंडोनेशिया के क्षेत्र को जीत लिया। चोल इसे बहुत लंबे समय तक अपने नियंत्रणाधीन नहीं रख सके और शैलेंद्र राजाओं ने अपना खोया क्षेत्र फिर से अपने अधिकार में ले लिया।

बाली ऐसा एकमेव देश है, जहाँ हिंदू संस्कृति पनपी और जीवित रही। आज जबकि समूचे द्वीप समूह ने इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया है, केवल बाली हिंदू संस्कृति और धर्म के प्रति आस्थावान बना हुआ है।

हमने अब तक सुवर्णद्वीप के राज्यों के संक्षिप्त इतिहास पर चर्चा की है। कदाचित् विश्व के अन्य किसी भाग पर भारत की संस्कृति और धर्म का इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है, जितना कि दक्षिण-पूर्व एशिया पर। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान और प्रभाव के अवशेषों के अध्ययन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत हैं, संस्कृत के वे पुरालेख जो विशुद्ध अथवा थोड़ी-बहुत परिवर्तित भारतीय लिपि में लेखबद्ध हैं। वे बर्मा, स्याम, मलय प्रायद्वीप, अन्नाम, कंबोडिया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली के संपूर्ण क्षेत्र में पाए गए हैं। इन उत्कीर्ण अभिलेखों और अन्य साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि इस क्षेत्र की भाषा, साहित्य और धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं पर भारत का बहुत प्रभाव पड़ा था।

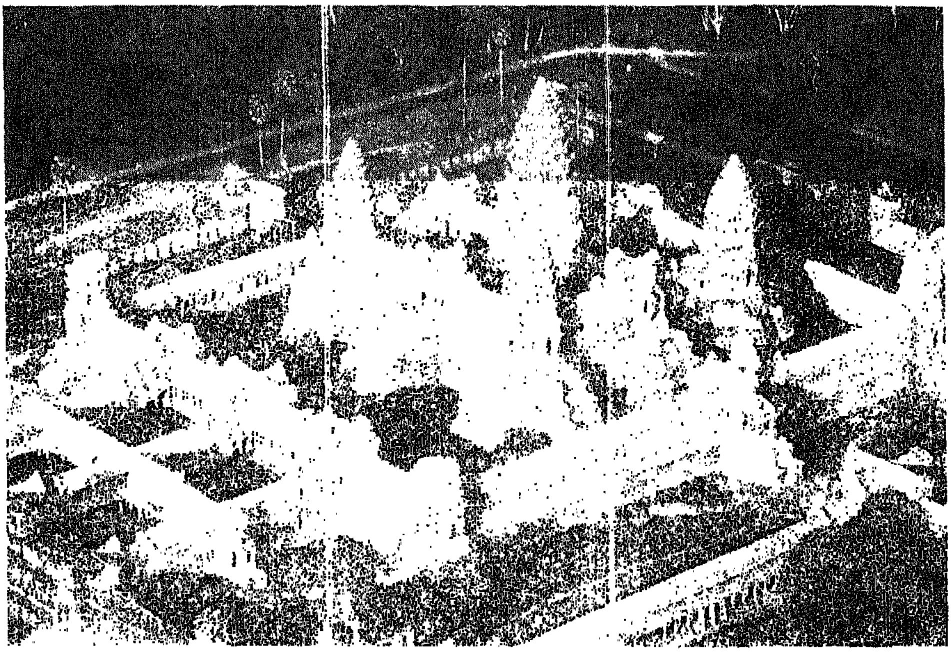
वर्ण-व्यवस्था, जो हिंदू समाज का मूलाधार है, इनमें से अधिकांश क्षेत्रों में लागू हो गई थी। उन्हें ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के रूप में समाज के विभाजन की जानकारी थी। यह व्यवस्था इन

क्षेत्रों में उतनी कड़ी नहीं बनी, जितनी कि भारत में थी। इस प्रकार, अंतर्विवाह और परस्पर खान-पान का व्यापक रूप से चलन था। कुल मिलाकर जाति व्यवस्था को जिस रूप में यह लांबोक और बाली के बालिनियों में आज विद्यमान है, ऋग्वेद काल की मूल वर्ण-व्यवस्था माना जा सकता है, जहाँ समाज को जन्म के आधार पर नहीं अपितु व्यवसाय के आधार पर विभाजित किया गया था।

विवाह के आदर्श, विवाह-संस्कार के ब्योरे और पारिवारिक संबंध सामान्यतः उसी प्रकार के हैं, जैसे कि भारत में हैं।

मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप छाया नाटक था, जिसे *वायुंग* कहा जाता था (भारत के कठपुतलियों के खेल की तरह)। *वायुंग* के विषय आमतौर पर भारत के दो महाकाव्यों, *रामायण* और *महाभारत* से लिए जाते हैं। ये दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में अभी भी बहुत लोकप्रिय हैं, बावजूद इसके कि इनमें से अधिकांश देशों ने अब इस्लाम धर्म अपना लिया है।

संस्कृत और पालि के साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि भाषा बहुत उन्नत थी। न्यायालय और समाज दोनों स्थानों पर उसका प्रयोग किया जाता था। उन्होंने सभी प्रमुख ब्राह्मण और बौद्ध देवी-देवताओं तथा उनसे संबद्ध विचारों के साथ-साथ दार्शनिक विचारों, वैदिक धर्म, पौराणिक मिथकों और महाकाव्यों में शामिल मिथकों और उपाख्यानों को अपना लिया था। भारतीय महीनों और खगोलशास्त्रीय पद्धतियों को भी अपना लिया गया था। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने भारत से संबंधित भौगोलिक नामों का चलन शुरू



*आकृति 23.2 कंबोडिया का अंकोरवाट मंदिर*

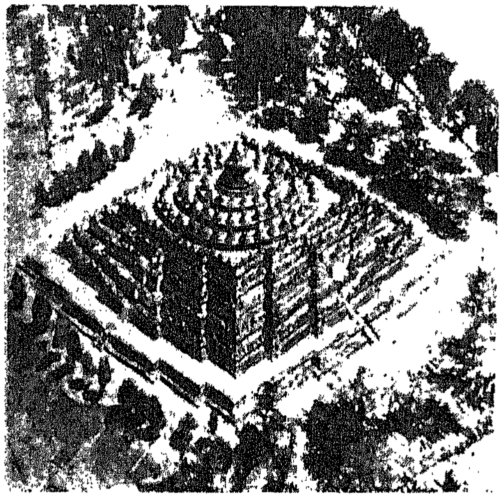
किया। हमें वहाँ पर द्वारावती, चंपा, अमरावती, गांधार, विदेह, अयुथिया (अयोध्या), कंबोज, कलिंग जैसे नाम और गोमती, गंगा, यमुना, चंद्रभागा जैसे नदियों के नाम मिलते हैं। वे अभी भी अपने अस्पतालों, स्कूलों, पुस्तकालयों और कई अन्य सार्वजनिक स्थानों को उनके मूल संस्कृत नामों से पुकारते हैं।

इन लोगों में बौद्ध धर्म के दोनों संप्रदायों अर्थात् हीनयान, महायान तथा इसके साथ वैष्णव-धर्म, शैवधर्म और ब्राह्मण धर्म के अनेक अन्य छोटे संप्रदायों का प्रचार था। वहाँ हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पाई गई हैं। त्रिमूर्ति (अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश) की पूजा का व्यापक रूप से चलन था, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वोच्च स्थान शिव को दिया गया था।

बौद्ध धर्म ने भी समाज में अपना सुदृढ़ स्थान बना रखा था। कुछ स्थान बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केंद्र बन गए थे। चीनी इतिवृत्तों से भी इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की प्रधानता का प्रमाण मिलता है। इत्सिंग बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन के लिए सात वर्षों तक श्रीविजय में रहा था। एक अन्य रोचक बात थी, आश्रमों की बहुत बड़ी संख्या, जिनकी स्थापना वैष्णव धर्म, शैव धर्म और बौद्ध धर्म से संबद्ध भारतीय मंदिरों, मठों, विहारों, घटिकाओं और अग्रहारों की पद्धति पर शिक्षा प्रदान करने के लिए की गई थी।

## कला और स्थापत्य

हमें दक्षिण-पूर्व एशिया के भव्य मंदिरों, स्तूपों और मूर्तियों से वहाँ की कला और स्थापत्य के पूर्व-वैभव की झलक मिलती है। बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं की अनेकानेक मूर्तियों से भारतीय मूर्तिकला की विशेषताओं और कलात्मक श्रेष्ठता का परिचय प्राप्त होता है।



***आकृति 23.3*** *जावा का बोरोबुदूर स्तूप*

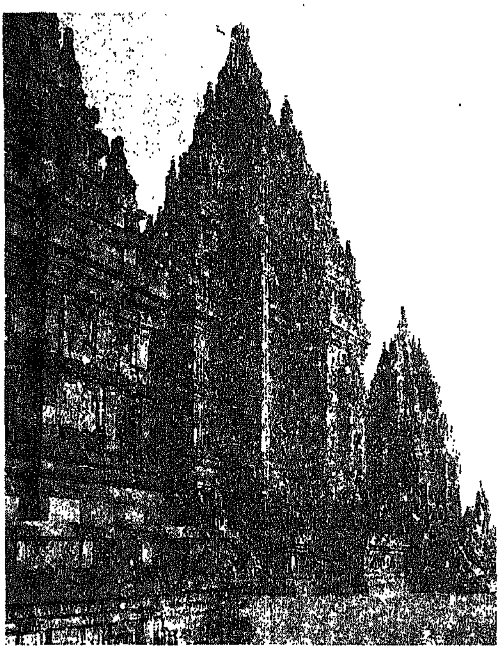
स्थापत्य कला के सर्वाधिक महत्वपूर्ण नमूनों में से कुछ ये हैं : अंकोरवाट (अंगकोरवाट) का मंदिर, बोरोबुदूर स्तूप, जावा और मयनमार के बौद्ध और ब्राह्मण मंदिर। स्थापत्य कला की ये सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ दक्षिण-पूर्व एशिया पर भारत के सांस्कृतिक प्रभाव की अलौकिकता और गंभीरता प्रदर्शित करती हैं।

अंकोरथोम नगर के निकट स्थित अंकोरवाट मंदिर विष्णु को समर्पित था। इस मंदिर का निर्माण 1112 ई. से 1180 ई. के बीच किया गया था। मंदिर के संपूर्ण परिसर का क्षेत्रफल 987 × 1005 मीटर है और इसके चारों ओर दीवार और खाई है। यह खाई 4 किलोमीटर लंबी है। यह शानदार मंदिर स्वयं 66 × 70 मीटर के क्षेत्र पर निर्मित है। मंदिर का केंद्रीय शिखर भूमि स्तर से लगभग 70 मीटर ऊँचा उठा हुआ है। *रामायण* और *महाभारत* की कथाएँ, मुख्य मंदिर की दीवारों और कई वीथियों तथा परिक्रमाओं में, जिनकी लंबाई कई सौ मीटर है, उभरे अक्षरों में लेखबद्ध हैं।

शैलेंद्र वंश के राजा बौद्ध धर्म के महायान मत के अनुयायी थे। अपने धर्म में उनकी आस्था का परिचय उनके द्वारा निर्मित अनेक भवनों से मिलता है, जिनमें जावा का बोरोबुदूर स्तूप सबसे अधिक भव्य है। आठवीं शताब्दी ई. में बनाया गया यह स्तूप स्थापत्य की छत एवं सोपान शैली और इसकी तक्षित दीवारों की विलक्षणता के लिए प्रसिद्ध है। इस उत्कृष्ट इमारत में नौ उत्तरोत्तर सोपानों की एक शृंखला है और सबसे ऊपर के सोपान के मध्य में घंटे की शक्ल का एक स्तूप है। नीचे के छः सोपान वर्गाकार हैं, जबकि ऊपर के तीन सोपान गोलाकार हैं। सबसे ऊपर के सोपानों के चारों ओर स्तूप हैं, जिनमें से प्रत्येक में बुद्ध की एक मूर्ति है। बुद्ध की ऐसी मूर्तियों की कुल संख्या 432 है। केंद्रीय स्तूप में *ध्यानी* (ध्यानावस्थित) बुद्ध की एक मूर्ति है, जो भारत-जावा स्थापत्य कला का सर्वोत्तम नमूना समझी जाती है।



***आकृति 23.5*** *मयनमार के एक मंदिर की दीवार में लगी ब्रह्मा की प्रस्तर मूर्ति*



***आकृति 23.4*** *जावा का हिंदू मंदिर*

जावा के ब्राह्मण मंदिर संभवतः इतने भव्य नहीं रहे होंगे, जितना कि बोरोबुदूर का स्तूप, लेकिन प्रांबानन की घाटी के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इसके परिसर में आठ मुख्य मंदिर हैं, प्रत्येक पंक्ति में तीन मंदिर और उनके बीच दो मंदिर, इन सबके चारों ओर एक दीवार है। इसके बाद दीवार के इर्द-गिर्द प्रत्येक ओर छोटे-छोटे मंदिरों की तीन पंक्तियाँ हैं और इस प्रकार कुल 156 मंदिर हैं। पश्चिमी पंक्ति के तीन

मुख्य मंदिरों में मध्य में स्थित मंदिर सबसे बड़ा और सबसे प्रसिद्ध है और उसमें शिव की मूर्ति है। उत्तर की ओर के मंदिर में विष्णु की और दक्षिण की ओर के मंदिर में ब्रह्मा की मूर्ति है। मंदिर में तक्षित मूर्तियों के 42 फलकों (पैनलों) की एक शृंखला है, जिनमें *रामायण* की कथा शुरू से लेकर लंका पर चढ़ाई करने तक दर्शाई गई है। मयनमार में सर्वोत्तम मंदिर पगान का आनंद मंदिर है। यह एक प्रांगण में निर्मित है, जिसका क्षेत्रफल लगभग 175 वर्ग मीटर है। मुख्य मंदिर ईंटों से बना है। गर्भगृह में बुद्ध की मूर्ति है, जो लगभग 9.5 मीटर ऊँची है। मंदिर को तक्षित फलकों से सजाया गया है, जिनमें बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं के दृश्य हैं।

## अभ्यास

1. दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के विस्तार का विवरण दें।
2. श्रीलंका के साथ भारत के सांस्कृतिक संपर्क पर चर्चा करें।
3. निम्नलिखित पर भारत के सांस्कृतिक प्रभाव के बारे में चर्चा करें :
   (i) मध्य एशिया
   (ii) चीन
   (iii) मयनमार
4. चीन के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंधों पर चर्चा करें।
5. दक्षिण-पूर्वी एशिया की कला और स्थापत्य पर चर्चा करें।

**करने के लिए कुछ**

- एशिया के मानचित्र पर उन देशों के नाम दर्शाएँ, जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ था।
- दक्षिण-पूर्वी एशिया में निर्मित हिंदू और बौद्ध मंदिरों के चित्र एकत्र करें और एक समुचित चित्र (कोलॉज) तैयार करें।
- विश्व के विभिन्न भागों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के बारे में एक निबंध लिखने के लिए एक समूह-परियोजना तैयार करें और इन क्षेत्रों पर उसके उन प्रभावों के बारे में लिखें जो अभी भी दिखाई देते हैं।

# पारिभाषिक शब्दावली

| | | |
|---|---|---|
| **अग्रहार** | : | राजा द्वारा विद्वान ब्राह्मण (ब्राह्मणों) को किसी गाँव से प्राप्त होने वाले करों अथवा भूमि का दान। |
| **अग्निकुल** | : | कुछ राजपूत जातियाँ, जिनका दावा है कि उनकी उत्पत्ति यज्ञ के हवन कुंड से हुई है। |
| **आजीवक** | : | जैन धर्म का नजदीकी एक अशास्त्रीय संप्रदाय, जो बुद्ध के समय फला-फूला था। |
| **अमात्य** | : | किसी उच्च पदाधिकारी के लिए मौर्य काल से ही प्रयुक्त किया जाने वाला सरकारी पदनाम। |
| **आरण्यक** | : | पारंपरिक रूप से ऋषियों द्वारा रचित वैदिक ग्रंथ। |
| **अर्थ** | : | समृद्धि और खुशहाली, हिंदू जीवन के चार उद्देश्यों में से एक। |
| **अर्थशास्त्र** | : | राज्य-व्यवस्था का सिद्धांत; मौर्य काल में कौटिल्य द्वारा इस विषय पर लिखित पुस्तक का भी नाम। |
| **आश्रम** | : | जीवन की चार अवस्थाएँ; इसके अलावा वह स्थान जहाँ तपस्वी रहते हैं। |
| **आयुक्त** | : | एक अधिकारी का पदनाम, जिसका मौर्य काल में अक्सर इस्तेमाल किया जाता था। |
| **भागवत** | : | विष्णु को समर्पित एक संप्रदाय। |
| **भुक्ति** | : | किसी राज्य का एक प्रशासनिक एकक, जिसका उल्लेख गुप्त काल में बहुत बार किया जाता था। |
| **बोधिसत्व** | : | वह व्यक्ति जो संसार के कल्याण के लिए कार्य करता हुआ निर्वाण प्राप्त करता है और पुनर्जन्म से मुक्ति को स्वेच्छा से स्थगित कर देता है; उसे इस संसार में बुद्ध के पिछले जन्मों का अवतार भी माना जाता है। |
| **ब्रह्मचर्य** | : | अविवाहित छात्रावस्था, जीवन की चार अवस्थाओं (आश्रमों) में से पहली अवस्था। |
| **ब्राह्मण (ग्रंथ)** | : | कर्मकांड और बलि से संबंधित वैदिक ग्रंथ। |
| **चैत्य** | : | एक पावन परिसर। इस शब्द का प्रयोग बौद्ध उपासना-स्थल के लिए भी किया जाता है। |
| **चार्वाक** | : | भौतिक दर्शन को मानने वाला एक धार्मिक संप्रदाय। |
| **देवदान** | : | किसी मंदिर को दान दिया गया राजस्व। |
| **दिगंबर** | : | एक जैन संप्रदाय, जिसके अनुयायी तन ढंकने के लिए कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा भी पहनने में विश्वास नहीं करते। |
| **धर्म** | : | पुण्य, नैतिकता — एक जीवन पद्धति। |
| **धर्मशास्त्र** | : | हिंदुओं के धार्मिक आचारों और समाज संबंधी विधियों (कानूनों) के ग्रंथ। |
| **दोआब** | : | दो नदियों के बीच का क्षेत्र। |
| **द्विज** | : | दो बार जन्म लेने वाला; पहला तब जब वह शारीरिक रूप से जन्म लेता है और दूसरा तब जब वह विद्यारंभ करता है। |

| | | |
|---|---|---|
| **गर्भगृह** | : | हिंदू मंदिर का पवित्रतम स्थल, जिसमें मुख्य देवमूर्ति विराजमान होती हैं। |
| **गायत्री मंत्र** | : | ऋग्वेद का एक मंत्र, जिसमें मन और बुद्धि ज्ञान से आलोकित करने की प्रार्थना की गई है। |
| **ग्राम** | : | एक गाँव। |
| **हीनयान** | : | दो प्रमुख बौद्ध संप्रदायों में से एक संप्रदाय। |
| **जाति** | : | लोगों का समूह अथवा परिवार, जिसका निर्धारण उनके व्यवसाय के आधार पर किया गया हो। |
| **कल्प** | : | ब्रह्मा का एक दिन जो पृथ्वी के 43,200 लाख वर्षों के बराबर होता है। |
| **कलियुग** | : | सृष्टि की चौथी और अंतिम अवस्था। |
| **कर्म** | : | कार्य; किसी व्यक्ति के वर्तमान अथवा पिछले जन्मों के कार्यों से उसके भावी जन्म निर्धारित होने का सिद्धांत। |
| **कायस्थ** | : | राजस्व संबंधी अभिलेख रखने वाली जाति; इनका उल्लेख सबसे पहले मौर्य काल में पाया गया है और बाद में मध्य काल में इसका बार-बार उल्लेख हुआ है। |
| **खरोष्ठी** | : | एक लिपि, जिसमें अशोक के शहबाजगढ़ी और मानसेहरा के शिलालेख लिखे गए हैं। |
| **कोट्टम** | : | एक प्रशासनिक इकाई। |
| **कुल** | : | वंश अथवा विस्तारित परिवार। |
| **कुमारामात्य** | : | एक उच्च पदाधिकारी का सरकारी पदनाम। |
| **महाक्षत्रप** | : | महान शासक; शासकों, मुख्यतः शक राजाओं द्वारा ग्रहण की गई उपाधि। |
| **महाराजाधिराज** | : | राजाओं का राजा, एक शाही उपाधि। |
| **मंडलम्** | : | एक प्रशासनिक इकाई; इस शब्द का दक्षिण भारत में अधिक इस्तेमाल किया जाता था। |
| **मठ** | : | मंदिर या धार्मिक अधिष्ठान से संबद्ध शिक्षा केंद्र |
| **मत्स्य न्याय** | : | एक राजनीतिक सिद्धांत, जिसके अनुसार अराजकता की स्थिति में शक्तिशाली कमजोर को हड़प लेता है। |
| **माया** | : | भ्रम। |
| **मोक्ष** | : | पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा। |
| **नाडु** | : | एक प्रशासनिक इकाई; इस शब्द का दक्षिण भारत में अधिक प्रयोग किया जाता था। |
| **नागर** | : | मंदिरों के स्थापत्य की एक शैली, जो मध्य और उत्तरी भारत में विकसित हुई थी। |
| **निर्वाण** | : | पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा। |
| **निष्क** | : | एक सिक्के के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द। |
| **पालि** | : | संस्कृत पर आधारित एक भाषा, जिसमें श्रीलंका में बौद्ध धर्म ग्रंथ लिखे गए थे। |
| **पण** | : | सिक्के के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द। |
| **पाशुपत** | : | एक शैव संप्रदाय। |
| **पुराण** | : | हिंदू ग्रंथ, जिनमें विभिन्न वंशों का इतिहास दिया गया है। |

| | | |
|---|---|---|
| **राजुक** | : | एक सरकारी पदनाम, जिसका उपयोग मौर्य काल में किया जाता था। |
| **राष्ट्र** | : | देश। |
| **सभा** | : | कुछ चुने हुए लोगों/वयोवृद्धों का समूह, जिसका उल्लेख पहली बार ऋग्वेद में किया गया है। |
| **समिति** | : | बड़ी सभा। |
| **सांख्य** | : | प्राचीन भारत की छः प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं में से एक। |
| **सती** | : | सद्गुणों वाली महिला; ऐसी महिला जो अपने पति की चिता पर जल कर भस्म हो गई हो। |
| **सेनापति** | : | सेना का नेतृत्व करने वाला। |
| **संगम** | : | तमिल साहित्य का सबसे पहला चरण। |
| **शतमान** | : | चाँदी का सिक्का, जिसका वजन अनाज के लगभग 180 दानों के बराबर होता था। |
| **शिखर** | : | किसी मंदिर के ऊपर का बुर्ज। |
| **श्रेणी** | : | व्यवसाय संघ (गिल्ड); शिल्पियों और व्यापारियों का संगठन। |
| **श्वेतांबर** | : | जैनधर्म के दो प्रमुख संप्रदायों में से एक, जिसके अनुयायी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। |
| **स्तूप** | : | गुंबद की तरह का ढाँचा, जिसमें बुद्ध के अवशेष रखे होते हैं। |
| **तांत्रिक** | : | एक धार्मिक संप्रदाय। |
| **थेरवाद** | : | एक बौद्ध संप्रदाय। |
| **उपनिषद** | : | वैदिक साहित्य में सम्मिलित दार्शनिक ग्रंथ। |
| **वर्ण** | : | हिंदू समाज का चार भागों में विभाजन। |
| **वेदांत** | : | प्राचीन भारत की छः प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं में से एक। |
| **विहार** | : | बौद्ध मठ। |
| **यवन** | : | भारतीय स्रोतों में पश्चिम एशिया के लोगों, यूनानियों और रोमनों के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द। |
| **योग** | : | प्राचीन भारत की छः प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं में से एक। |
| **युग** | : | सृष्टि के जीवन की चार अवस्थाओं (भागों) में से एक। |

# पुस्तक-सूची


ए. घोष : *एन एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन आर्कियोलॉजी* (दो खंड), नई दिल्ली, 1989

: *दि सिटी इन अर्ली हिस्टॉरिकल इंडिया*, नई दिल्ली, 1990

ए.के. नारायण : *दि इंडो-ग्रीक्स*, ऑक्सफ़ोर्ड, 1957

ए.एल. बाशम (संपा.) : *दि वंडर दैट वाज़ इंडिया*, लंदन, 1954

: *दि कल्चरल सिविलाइज़ेशन ऑफ़ साउथ एशिया*, नई दिल्ली, 1997

बी.बी. लाल : *दि सरस्वती फ्लोज़ ऑन : दि कॉन्टिन्युइटी ऑफ़ इंडियन कल्चर*, नई दिल्ली, 2002

बी.एन. बनर्जी : *हिंदू कल्चर, कस्टम एंड सेरेमनी*, नई दिल्ली, 1979

बी.एन. पुरी : *इंडिया अंडर दि कुषाणाज़*, बम्बई, 1965

बेनी प्रसाद : *थ्योरी ऑफ़ गवर्नमेंट इन एंशियंट इंडिया*, इलाहाबाद, 1974

भगवान सिंह : *वैदिक हड़प्पन्ज़*, नई दिल्ली, 1991

ब्रिजेट एंड रेमंड आलचिन : *दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन इन इंडिया एंड पाकिस्तान*, नई दिल्ली, 1983

डी.डी. कोसांबी : *एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री*, बम्बई, 1956

: *दि कल्चर एंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एंशियंट इंडिया एन हिस्टॉरिकल आउटलाइन*, लंदन, 1965

देवहूति : *हर्ष - ए पोलिटिकल स्टडी*, ऑक्सफ़ोर्ड, 1970

डी.एम. बोस और अन्य : *कन्साइज़ हिस्ट्री ऑफ़ साइंस इन इंडिया*, नई दिल्ली, 1971

डी.पी. चट्टोपाध्याय : *हिस्ट्री ऑफ़ साइंस एंड टेक्नोलॉजी इन एंशियंट इंडिया*, कलकत्ता, 1986

बी.डी. चट्टोपाध्याय : *दि मेकिंग ऑफ़ अर्ली मेडीवल इंडिया*, नई दिल्ली, 1999

डेविड फ्रॉली : *वैदिक आर्यन्ज एंड दि ओरिजिन ऑफ़ सिविलाइज़ेशन*, एन.एस. राजाराम, नई दिल्ली, 1994

डी.पी. अग्रवाल : *आर्कियोलॉजी ऑफ़ इंडिया*, नई दिल्ली, 1971

डी.पी. सिंघल : *इंडिया एंड दि वर्ल्ड सिविलाइज़ेशन*, नई दिल्ली, 1993

डी.आर. भंडारकर : *अशोक*, कलकत्ता, 1932

: *सम एस्पेक्ट्स ऑफ़ एंशियंट हिंदू पोलिटी*, पटना, 1988

ई.एच. कार : *व्हाट इज़ हिस्ट्री?* पेंग्विन, 2000

एडविन ब्रायंट : *दि क्वेस्ट फ़ॉर दि ओरिजिन्स ऑफ़ वैदिक कल्चर*, नई दिल्ली, 2002

जी.सी. पांडे : *फाउंडेशंज ऑफ़ इंडियन कल्चर (दो खंड)*, नई दिल्ली, 1995

: *वैदिक संस्कृति*, इलाहाबाद, 2001

जी. यज़दानी (संपा.) : *दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ डेक्कन*, ऑक्सफ़ोर्ड, 1960

एच.सी. रायचौधुरी : *पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एंशियंट इंडिया*, नई दिल्ली, 1997

एच.डी. संकलिया : *प्री हिस्ट्री ए[illegible]ो हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया एंड पाकिस्तान*, पुणे, 1974

: *प्री हिस्ट्री अ[illegible] इंडिया*, पुणे, 1977

के.ए. नीलकंठ शास्त्री : *हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया*, मद्रास, 1950

के.पी. जायसवाल : *हिंदू पोलिटी*, पटना, 1924

एल. गोपाल : *दि इकोनॉमिक लाइफ़ इन नार्दर्न इंडिया*, कलकत्ता, 1963

मक्खन लाल : *सेटलमेंट हिस्ट्री एंड राइज़ ऑफ सिविलाइज़ेशन इन गंगा-यमुना*, नई दिल्ली, 1984

पी.सी. बागची : *इंडिया एंड सेंट्रल एशिया*, कलकत्ता, 1955

पी.सी. प्रसाद : *फोरेन ट्रेड एंड कॉमर्स इन एंशियंट इंडिया*, नई दिल्ली, 1997

पी.वी. काणे : *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्राज़ (5 खंड)*, पुणे, 1997

आर.सी. मजूमदार : *दि वाकाटक-गुप्ता एज*, बनारस, 1954, ए.एस. अल्तेकर (संपा.)

: *कॉरपोरेट लाइफ़ इन एंशिएंट इंडिया*, कलकत्ता, 1969

: *एंशियंट इंडिया*, नई दिल्ली 1994

आर.सी. मजूमदार (संपा.): *दि क्लासिकल एज ऑफ़ इंडिया*, बम्बई, 1988

: *दि एज ऑफ़ इंपीरियल यूनिटी*, बम्बई, 1990

: *दि एज ऑफ़ इंपीरियल कन्नौज*, बम्बई, *1993*

: *दि वैदिक एज*, बम्बई, 1996

आर.के. मुकर्जी : *हिंदू सिविलाइज़ेशन*, बम्बई, 1956

: *चंद्रगुप्त मौर्य एंड हिज़ टाइम्स*, दिल्ली 1960

: *अशोक*, दिल्ली, 1968

आर.एस. शर्मा : *इंडियन फ्यूडलिज़्म*,-नई दिल्ली, 1965

: *मेटीरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशंज़ इन एंशियंट इंडिया*, नई दिल्ली, 1983

: *एस्पेक्ट्स ऑफ़ पोलिटिकल आइडिआज़ एंड इंस्टीट्यूशंस इन एंशियंट इंडिया*, नई दिल्ली, 1996

राजबली पांडे : *हिंदू संस्कार*, नई दिल्ली, 1994

आर.एस. त्रिपाठी : *हिस्ट्री [illegible] कन्[illegible]*, बनारस, 1937

: *हिस्ट्री ऑफ़ एंशियं[illegible]डिया*, नई दिल्ली, 1960

रोमिला थापर : *ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, खंड 1*, पेंग्युइन, 1966

एस. राधाकृष्णन : *इंडियन फ़िलोसॉफ़ी (2 खंड)*, नई दिल्ली, 1998

एस.पी. गुप्ता : *इंडस-सरस्वती सिविलाइज़ेशन: ओरिजिंस, प्राब्लम्स एंड इश्यूज़*, नई दिल्ली, 1996

श्री अरविंद : *दि फाउंडेशंस ऑफ़ इंडियन कल्चर*, पांडिचेरी, 1959

वी. गॉर्डन चाइल्ड : *व्हाट हैपन्ड इन हिस्ट्री*, पेलिकन बुक्स, हारमंड्सवर्थ, 1948

: *मैन मेक्स हिमसेल्फ़*, लंदन, 1956

विलियम हाल्बफास : *इंडिया एंड यूरोप*, नई दिल्ली, 1990

Fernald expressed himself as definitely in favor of giving mental defectives such academic education as they are capable of achieving. He said that one of the main values of such instruction was its diagnostic significance. He told of two brothers who had been sent to the Feebleminded Institution at Waverly, Mass., who learned rapidly by the methods used in teaching there. Both boys belonged to the "word-blind" classification. After they had learned to read, they were dismissed from the institution and eventually became individuals of outstanding ability.

In connection with our clinic, we have had several cases of individuals of normal intelligence who have been classified as feeble-minded. In this salvaged group we had an eleven-year-old boy with an I.Q. of 107, who had been certified to the State Institution for the Feebleminded mainly because he had learned only five words in five years at school. In the Clinic School he learned 234 words in five weeks and was soon doing arithmetic far beyond the comprehension of any mental defective. He completed the tenth grade in the public schools. We have had four boys in the university clinic who had spent from two to five years in feeble-minded rooms in the public schools. All of them developed normal skills in schoolwork under remedial techniques. A seventeen-year-old boy, who had been labeled with a "37 I.Q." as a result of a group intelligence test, came all the way from a distant state because he heard there was a place in California where they could teach him to read This boy learned 787 words in three months, working two hours a day, and made 5 grades progress in reading in nine months. (For complete case history see page 317.)

When such children as the foregoing are discovered in the mentally deficient group, they should be transferred to a normal remedial group. The rescue of even a few such children would justify the use of remedial methods in work with mental defectives. The statement made by Dr. Walter Fernald in 1913 is still true today: "We have no *foolproof* tests for mental deficiency" This will always be true as long as tests are administered by untrained and inexperienced people and as long as non-readers are diagnosed on a basis of group tests that require reading.

## PRESENT SCHOOL POLICY

The policy of most of our schools at the present time is to give the mentally retarded child training in such activities and trades as he is capable of mastering and as much instruction in formal

school subjects as he is able to comprehend. The children are taught either in segregated classes in a regular school or in separate schools. Most school systems require that each child in these classes be given at least an hour a day of instruction in basic school subjects.

In preparing teachers for this type of work much more emphasis is usually placed on manual training than on methods of teaching reading, writing, and arithmetic. The result is that the latter are frequently very poorly taught and the time spent on them is wasted.

It was at the request of a group of teachers of development rooms that we made our first experiments in the application of remedial techniques to the problem of the mentally retarded child. These teachers said, "All the courses we take give us unlimited detail with reference to hand work and vocational training, but fail to tell us how to teach the fundamental school subjects on which we are required to spend a definite period of time each day."

## NEED FOR REMEDIAL WORK WITH MENTALLY RETARDED CHILDREN

In experiments with segregated groups of mentally retarded children in the summer session Clinical School and in the "opportunity rooms" in the public schools, we were surprised to find many cases of mentally deficient children who profited greatly by remedial work of the same type as that which was effective in the work with children of normal intelligence. Many children who had never been able to learn to read or write by other methods made progress that would have been considered good in the case of children of much better mental equipment. This progress would continue until the child's reading level was equal to his mental age level. Reading comprehension seldom went much beyond the child's intelligence level though his ability to recognize words sometimes seemed equal to that of a normal individual of his chronological age.

Hegge[1] in his work at the Wayne County Training School at Northville, Mich., found that many children in this institution for the mentally retarded had failed to read up to their mental level and that "some pupils experience greater difficulty in learning to read than others of corresponding mental age."

[1] T. G. Hegge, Reading Cases in an Institution for Mentally Retarded Problem Children, *Proc. Fifty-sixth Ann. Session Amer. Assoc. for the Study of the Feeble-minded*, Philadelphia, May 26, 1932, pp. 4, 5.

As a result of the application of remedial techniques to cases of children in the institution, Hegge reports, "We have found that a special reading disability is quite common in this group and that trainability is present in seemingly hopeless cases. We have, to be sure, so far been unable to raise a single I.Q. significantly, although we have given some of our cases a great number of individual lessons and have improved their reading considerably." Hegge's work would seem to show that the same individual differences in learning are found in the feeble-minded as in the normal group. Special methods adapted to individuals resulted in great improvement in reading. He found certain individuals who learned best by the usual visual methods; others by phonetic drills; others by kinesthetic methods.

## REASONS FOR READING, SPELLING, AND ARITHMETIC FAILURE IN THE CASE OF THE MENTAL DEFECTIVE

Any of the following reasons may explain the failure of the mental defective to read and spell up to his mental age level: (1) Classes may have been so large that it was impossible to give the child individual attention. (2) The pace may have been so fast that the child was lost and unable to learn anything. (3) Methods may have been used that were not adapted to the child. In the case of children who have failed for the first two reasons, the real cause of the failure is the mental retardation that makes it impossible for them to learn on their own initiative and at a normal rate. Most of these children will learn by the methods commonly used in our schools if they are given individual attention and adequate time. The child who belongs in the third group seems to profit by remedial techniques similar to those used in work with remedial reading cases of normal intelligence.

The mental defective fails in arithmetic because he lacks ability to think abstractly. As was said in Chap XIV, the feeble-minded individual may learn specific facts in arithmetic but he is unable to apply these to new situations. In other words he fails in arithmetic because he is mentally deficient.

## CHAPTER XVI

## REMEDIAL TECHNIQUES FOR THE MENTAL DEFECTIVE

**Reading.**—Most of our work with mental defectives was done in groups made up of children whose reading level was below their intelligence level. In these groups were individuals with all degrees of disability from total disability to second- or third-grade level.

*Cases of Total Disability*—The methods used with mental defectives were similar to those described in Chapter IX. The tracing had to be more carefully supervised than in the case of normal children. Many defective children have difficulty in following the line with the finger. It is necessary to help them say the word as they trace it and write it. A child may have to trace the word many times before he can write it. He will probably make many attempts, with errors in learning his first words.

*Content of Writing*—The child first learns a few easy words suggested by the teacher If the work is done in a group, all the children learn the same word for their first writing. The teacher shows them how to trace the word and then assists them as best she can in the tracing and writing of the word. It is very important that the child write these first words correctly and without copying them.

After the first few words have been written, the children are told that they may write a story. The topics for these first stories as well as for later ones usually have to be suggested to the children. A picture, a pet, an event such as a picnic or a trip, or any object that can be told about in simple narrative may be chosen as the subject for the first story. Each child learns the words he needs to use in his story. After the stories have been written they are typed for the children. At the story hour the next day each child reads his own story aloud to the group. (For further details see Chap. IX.)

Much more direction and external motivation are required in the case of the mental defective than in the case of the normal individual. The former is much more limited than the latter in complexity of his thought processes and in meaning derived from

experiences. Consequently the ideas that the mental defective has to express are much less impelling and connected. Whereas the normal child is bursting with ideas, which he wishes to express as soon as the mechanics of expression is made possible, the defective child has little ideational drive and soon exhausts the little he has. The normal child has more things to write about than he can manage to finish in the hours of the school day. The mental defective may have some little detailed story which he writes over and over or he may be unable to think of anything to write about.

In our remedial work with defective children we tell stories, read about matters of interest to the children, or show them pictures that may serve as subjects for stories. For example, the children may be told an incident concerning some kind act. They all write about this event. Or several pictures cut from magazines or other sources may be placed where the children can look them over and select one as the subject for the daily story. Each child may take a separate picture if the supply is adequate. The children may write about some topic such as their pets, furnishing a house, or getting meals.

The child, regardless of his actual age, will delight in topics that would be suited to the young child. The materials we use as a basis for motivation must be such as to rouse and keep the child's interest.

A sixteen-year-old boy with an I.Q. of 60 wrote the following story after selecting the picture of a cat: "This is a picture of a cat. We have a cat at home. Its name is Jerry. Every day the milk man leaves milk and I give a saucer of it to my kitty. He drinks the milk. He has a bed and he sleeps in his bed. He likes me and I like my kitty"

The following story was written by a twelve-year-old girl with an I.Q. of 70: "I watched the builders build a house. Then I had my dinner. Then I played for a long time. Then I went to bed. In the morning I had my breakfast. Then I went to school. I had two kittens. I washed them and gave them a bath. Then they were clean. Then I washed the mother cat. She was clean too."

One seventeen-year-old boy with an I.Q. of 60 made a geography book based on his trip to Europe. The sequence of events is quite correct, giving the location of points of interest encountered on the trip. The accounts give all the trifling details of happenings without regard to their importance. "We went to New York and

we went to a hotel and there was a door that went round and round and I liked to make the door go round and round. And we went on a ship and slept on the ship and ate on the ship. I liked the waiter. He was a good man and he liked my father and my father said he was a good man. And we went to Le Havre, France, and we went on a train . . . ."

All three of these children learned to read up to above third-grade level as a result of the remedial work. Like the other children in their group, they derived great satisfaction from their reading, and even more from their writing, of which they were very proud. They were always anxious to read their stories to anyone who would listen to them. They made elaborate books illustrated with pictures cut out of magazines. They were constantly taking these books home to show their parents and insisted on keeping them when the remedial work was over.

If there were no other argument in favor of teaching reading to mentally retarded individuals, the happiness that they derived from the experience would seem to justify the enterprise.

**Spelling.**—Most mentally retarded children who have difficulty in reading spell poorly. In many cases of defectives with no reading disability the spelling is above the reading level. The children in our experimental groups learned their words by tracing them as many times as they needed for first writing and for successive writing periods. They liked "spelling lessons" with dictation of words they had learned. Word files were kept as in the case of normal children (see page 36). In the spelling as in the reading the defective child lacks initiative and needs to be given definite stimuli or he will lose interest in his task.

**Arithmetic: Determination of Child's Intelligence Level and Number Concepts.**—As in the case of the normal child, the work in arithmetic begins with the adjustment to concrete situations at the level of the child's comprehension. In the case of the mental defective this level will be so low that the child's first work may be the counting of objects in small groups, as having two cents and discovering how much he would have if someone gave him two more. If a child cannot solve a simple problem like this without counting the pennies, then he needs to count them. The child who has no concept of two, three, four, and other simple numbers will count as the very small child does, beginning each time with "one." That is, he will find that he has two cents by counting "one, two." If he is given two more and asked how many he has, he will count

"one, two, three, four" instead of simply adding "three, four" to the two he has just counted. He is given ten cents and counts "one, two, three, four, five, six, seven, eight, nine, ten." If he is given five cents more, he does not count from the ten, "eleven, twelve, thirteen, fourteen, fifteen," but counts from one to ten again and then continues on to fifteen. He does this because, like the very small child, he has no real concept of "two" or of "ten."

The child whose mental age limit is five or six years will never be able to do more than simple counting of objects actually before him. For each new problem, however simple it may be, he will need to count actual objects to get the answer. The thirty-eight-year-old woman (page 213) with the seven-year mental age, who could not tell how much two apples would cost if three apples cost nine cents, was given nine pennies and three apples. She carefully arranged the apples in a row and then shifted the pennies around until she had an equal number by each apple. She then counted the pennies by two of the apples "one, two, three, four, five, six" and announced the answer "six" with great pride. In spite of careful, individual teaching in a family of wealth, she had never been able to go beyond simple counting of objects.

Individuals with a somewhat higher mental age will be able to form concepts of simple numbers as "five," "ten," and so forth. They can learn to count up money, make change, and tell time.

One feeble-minded boy with a twenty-year actual age and a seven-year mental age was able to count up money to $2.00 if he were given sufficient time and allowed to count on his fingers. The process was painfully slow but quite accurate. The last time we saw him he was going to night school and happily doing *long division.* His problem was, $295\overline{)\,6482}$ which he was solving as follows:

$$\begin{array}{r} 48 \\ 295\overline{)\,6482} \\ \underline{1180} \\ 5482 \\ \underline{2360} \\ 3122 \end{array}$$

He had a whole page of problems in which his use of combinations was quite accurate but in which he showed a total lack of any real

number concepts. He put any number down in his answer, multiplied the divisor quite accurately, subtracted correctly except that he would reverse the lower and the upper numbers when the number in the minuend was smaller than the number immediately below it in the subtrahend. Any extra numbers were disregarded. His answers were, of course, quite amazing.

The mental defective whose mental age is below seven will probably not be able to learn to tell time. Our diagnosis was questioned by the school authorities in the case of an eighteen-year-old girl who had been committed to the State School. We suggested that they teach her to tell time. Two weeks later we were told she had learned to tell the hour. We urged the authorities to continue their efforts. They taught her to tell the half hour but by the time she had learned how to do this she had forgotten how to tell the hour. She had no concepts to use to figure time and so had to learn each separate position of the clock hands.

The occupational preference as stated by this girl was "to be a cashier in a five- and ten-cent store." The fact that she was unable to make change did not disturb her in the least.

*Methods of Teaching.*—The child is given concrete material to work with and problems that are adapted to his ability He plays simple games requiring distribution of supplies and other number adjustments, such as ring toss, store, or house, with families of dolls or of other children. He learns to write the numbers and to give the answers to simple number combinations. He draws or makes a house with two windows. Each window has two curtains. He draws or makes the curtains and counts them, and so forth.

It seems unnecessary to go into detail with reference to arithmetic activities and games for the mental defective. The degree of deficiency will determine the complexity of the processes that can be developed in the child. It is useless to teach the defective child tricks in which numbers are used. He may learn to say and write the multiplication tables, but if he has no comprehension of the numbers, the time spent in memorizing by rote things he cannot understand could have been better spent on something that would be of use to him. The final level of his development in arithmetic will probably be approximately that of the child whose actual age corresponds with his mental age. The mental defective of sixteen years of age with an eight-year mental age will eventually be able to do about what the third-grade child does.

It must be remembered that the mental defective will learn much more slowly than the normal child. Consequently, in arithmetic as in other subjects, he will have to take a much longer time than the normal child to learn what he is able to learn.

Whatever he learns should be something he can use. The opportunity to use it should be provided. One of the great differences between the normal and the defective child is the lack of interest in abstract number on the part of the latter. Whatever he learns to do with numbers remains concrete and specific to him.

# PART VI

## *Case Studies*

# CHAPTER XVII

## CASE STUDIES

The case studies given here represent the various types of reading disability with which we have worked. The numbers are those used throughout our publications to designate these cases and are consequently not consecutive here.

## CASE 100 (B.W.)[1]

### ALEXIA AND APHASIA DUE TO BRAIN INJURY

*Male:* Age, 12 years 7 months (Aug. 2, 1935).

*Vision, Hearing:* Normal.

*Speech.* Unable to pronounce simple words. Unable to name common objects although could signify meaning by pointing to pictures that represent objects.

*Handedness.* Right *Eye Dominance:* Right

*Medical Report* "*Personal injuries.* Aug 2, 1935, auto accident, collision with bicycle. Boy riding bicycle, struck by auto. Unconscious 23 days. Injury: depressed compound fracture, left parietal, with depression ¼ in. into brain tissue. Extrusion of cortical substance of brain Rupture of middle meningeal artery left. Definite loss of cortical substance. Operated.

" . . . cavity size of quarter dollar, from loss of cortical brain tissue.

"Boy gives school grade as 8th when injured. Today unable to read or pronounce simple words as 'oak,' 'red,' 'Mary,' etc. When addressed exhibits difficulty in continuity of thought, or connected ideas. Unable to follow the text in illustrated book but again and again pointed to pictures, and with hand gestures sought to convey words he is unable to pronounce."

*Summary:*

1 "Injury to brain, loss of cortical substance and damage to speech center is permanent

2. "The degree of vocational handicap is such that it no doubt will prevent this boy from becoming a self-sustaining member of society.

[1] Reference to this case is made possible through the courtesy of Dr. Ellen B. Sullivan, University of California, Los Angeles, under whose direction the experiment was conducted The full report of the case is to be published in the near future. The significance of the case in connection with the general problem of reading disability seems so great that we have asked permission to include this brief statement here.

3. "The loss from an economic or productive standpoint cannot be measured in terms of manual labor This boy by his present place in school, 8*B*, and evidence of mental alertness, present in spite of his injuries, might readily have developed into a scholar, a lawyer, or a distinguished member of any of the learned professions. All this is now denied him by reason of the damage to brain tissue, by reason of the accidental injuries he suffered.
4. "As the boy matures, the probabilities are that further impairment of personality and mental development will be manifest, rendering him a dependent and pitiful object."

*Psychological Examination:* Intelligence unmeasurable with standardized tests. I.Q. level undetermined due to failure on all types of verbal tests in Binet and other scales. Scattered non-verbal items give indication of good ability and mental alertness. Tested below third grade in all achievement tests.

## REMEDIAL WORK

Attended Clinic School under the direction of Dr. Ellen B. Sullivan from January to June, 1936, and from September, 1936, to January, 1938. The methods were, in general, the same as those used with our cases of total reading disability Like other cases of alexia due to accident, although B.W was unable to recognize the simplest printed words from the visual cue alone, he was able to trace any word he had known and would recognize it after so doing.

B.W learned to write a number of common words, using the tracing method. These words were all taught in context as parts of sentences. After the sentence had been written, it was printed as in the work with reading disability cases. B W. not only recognized words after they had been written several times in this way but could use them correctly in speech. He soon began to indicate objects that he wished to talk and write about. He would attempt to express his meaning by gestures and was especially pleased when he was understood and the meaning was given in words that he comprehended as soon as he traced them. At first he would use the wrong word frequently to designate an object after he had gone through the process just described. For example, he worked over the name of one of his teachers and then shouted "elephant" when she came into the room. She actually had little resemblance to the pachyderm. As soon as B W. was shown his teacher's name in print, he said it correctly.

A spoken and written vocabulary was built up by the process just described Progress was quite slow at first but very rapid after a few words had been learned. After a year and a half of re-education work, B W. was talking and reading so normally that the only trace of the old difficulty was the occasional hesitation over a word and the substitution of phrases or synonyms for words he could not recall. In January, 1938, just two years after the remedial work was begun, B W was placed in the ninth grade of the public school. He was promoted to the tenth grade, June, 1938.

As reported in March, 1941, he was making college recommended grades in all his school subjects in the twelfth grade. The high school reported that he spent much time in the library and read books that would be considered above the comprehension of a high-school student, The only criticism of him was

that he read too much and too difficult material. He seemed, however, to have excellent comprehension of the content of what he read. He recovered his ability to write and spell words correctly and used a very elaborate vocabulary to express his ideas. The only peculiarity about his spoken and written expression was that he tended to use long and difficult words rather than the simpler ones used by most youngsters his age.

## CASE 93 (P.W.)

## ALEXIA DUE TO BIRTH INJURY

*Male:* Age, 9 years 8 months.
*I.Q.:* 109.
*Hearing, Speech:* Normal
*Vision:* Normal except for slight muscular imbalance of right eye.
*Handedness:* Left. *Eye Dominance.* Left.
*Physical Condition:* Good. No record of serious illness other than that described in medical report.
*Social Status:* Superior.
*Family Data.* Father and mother both university graduates, well to do, cultured. One brother, superior intelligence, no school difficulty.

### CASE HISTORY

Difficulty in learning to read from first grade. At the age of 9 years 9 months was unable to keep up with the work of third grade on account of reading difficulty. Reading level about second grade Special remedial work was done in 1937 to 1938. In the fall of 1938, P W. entered the sixth grade of the public schools where he did satisfactory work. After two months of school he began to have fainting spells. These increased in frequency until he was forced to drop out of school. He was out of school for two years and ten months because of his physical condition (January, 1938, to November, 1940).

*Medical Report.*—"At birth a great deal of damage was done to the cranium. Patient was in constant convulsions for first five days. There was a right-sided hemiplegia lasting several months. Patient recovered from both conditions and had no further difficulty until the summer of 1938 when he was ten years old, when the convulsions recurred. Diagnosis was made of cerebral pressure in the left Rolandic area. A large plaque of bone roughly one quarter of an inch thick and measuring 3 by 5 cm. was removed"

As soon as possible after the operation and before P W. had returned to school or done any schoolwork, achievement tests were given. These tests showed that after the brain operation he had lost none of the ability to read that he had acquired as a result of his remedial work.

In November, 1940, P.W. returned to the Clinic School because he was eager to study and the doctor did not want him to undertake work in large groups. There he made excellent progress in all his school subjects. At the age of 13 years 3 months P.W. completed the 9b grade in the public school, with excellent reports.

RESULTS OF STANFORD ACHIEVEMENT TESTS GIVEN AT DATES INDICATED
Column 1, when remedial work was begun; 2, at the end of one year of work; 3 after the operation; 4, at end of remedial work

| | Grade Placement | | | |
|---|---|---|---|---|
| | Form V 11/10/37 | Form X 6/20/38 | Form Z 11/19/40 | Form Y 5/27/41 |
| Paragraph meaning | ... | 5.6 | 5.9 | 7.4 |
| Word meaning | | 4.3 | 5.6 | 6.2 |
| Dictation (spelling) | . | 4.6 | 6.2 | 10.0 |
| Language usage | . | 6.8 | 7.5 | 10.0+ |
| Literature | ... | 4.4 | 6.4 | 4.4 |
| History, civics | ... | 4.9 | 6.0 | 6.3 |
| Geography | . . | 5.2 | 6.8 | 6.6 |
| Physiology, hygiene | . | 3.9 | 6.7 | 6.7 |
| Arithmetic reasoning | ... | 4.3 | 5.6 | 7.6 |
| Arithmetic computation | 3.2 | 4.8 | 6.1 | 10.0+ |

## CASE 12 (B.L.)

## TOTAL READING DISABILITY

*Male:* Age, **10** years 7 months (May. 25, 1929).
*I.Q.:* 106 (Stanford Revision Binet-Simon)
*Vision:* Left eye injured when a small child. Vision of right eye normal. *Monocular vision.*
*Hearing, Speech:* Normal.
*Handedness.* Right. *Eye Dominance:* Right.
*Physical Condition:* Sturdy, no history of illness, very well built, fine looking
*Social Status:* Popular with other boys, fond of games such as baseball and football
*Family Data:* Father, head of the purchasing department of a large grocery concern, reports that he has always had difficulty in learning to read and spell. (For further details see page 314.) Mother graduate of eighth grade; no reading disability; seems reliable; keeps a good home. One older brother also a serious reading disability. Two older sisters, high school students, no reading disability.

### CASE HISTORY

There is a history of regular school attendance from kindergarten at the age of five until remedial work was begun at the age of 10 years 7 months. B.L. attended a good public school in a first-class neighborhood. When he was nine and a half years old, his teachers became so concerned over his reading disability that they arranged a schedule so that he had individual instruction for the greater part of the day.

In spite of everything that had been done, B.L. was a total reading disability case at the age of 10 years 7 months. He could not read the simplest primer or score on any reading test. During all these years in school, he had succeeded in learning to read and write just one word. This word was *her* which he thought spelled *chicken.*

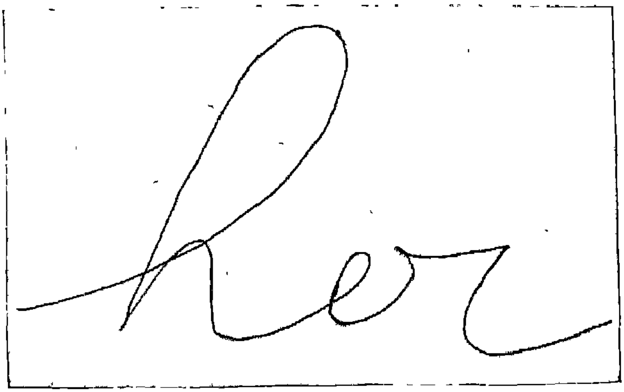



FIG. 50.

On May 25, 1929, B.L. wrote the following from dictation: *loiy* (boy), *hcool* (school), *livui* (them). On May 28, he wrote the following sentences:

"Biuy . . . little loiy, . . hcool is . . . to"
(My good little boy, your school is out today)

NOTE: The only words that were written correctly in the above, *little* and *is* had been learned by B.L for use in stories he had written on May 26 to 28.

## REMEDIAL WORK

**Methods.**—B L. learned to write his first words by tracing them. He drew diagrams, which he labeled (see Fig 51), wrote stories, and learned words in connection with projects in geography and history. These were printed for him as described on page 35 After about three months of work, tracing dropped out and B.L. learned new words by the techniques described under stages 2 and 3 (see pages 39 to 51). He read magazines and books as his ability to read developed.

**Results.**—On the first day of remedial work (May 25, 1929) B L. drew a diagram of an airplane (see Fig. 51). He learned to write the following words: *propeller, wheel, tire, aviator, step, canvas, wire for tail, run rudder, biplane.* All these words were recognized by him in print the next day and at various times thereafter when he had occasion to read them.

On this same day, he learned to write the word *Deutsch* in *German script* (Fig 52) after tracing it. He wrote the word correctly the next day without seeing the copy again, this in spite of the fact that he knew no German.

B.L. was so excited over his new found ability to learn words that he insisted on climaxing his first day at the Clinic School by learning the word *hallucination*

which he saw on the blackboard of one of the psychology lecture rooms. He went about the neighborhood that evening, asking other boys if they could write *hallucination* and read *Deutsch*, which he wrote for them in script. His mother came to school with him the next morning and said, "I don't know

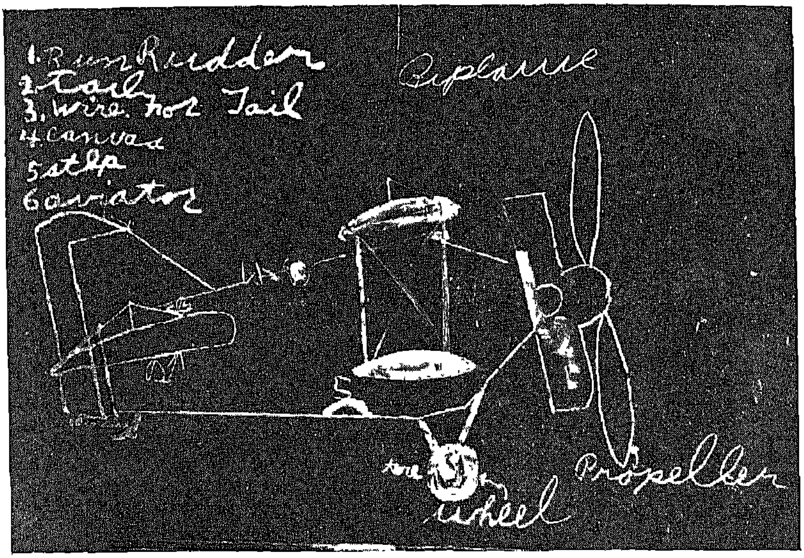



FIG. 51.



FIG. 52.

what language it is *B* is learning but could he learn English first?" As a matter of fact, the two words no one in his family or his neighborhood knew were more potent factors in his emotional reconditioning than any ordinary words could have been.

B.L. attended the Clinic School for ten months (May, 1929, to June, 1930) somewhat irregularly. He learned 503 words in 49 days (Sept. 30, 1929, to

Jan. 1, 1930) and was able to read them in print. For over two months he continued to write *her* for *chicken* without the least idea that it was incorrect. In this case this was allowed for experimental purposes only. One day in connection with a demonstration, a sentence was dictated to him containing the word *chicken* He hesitated and then said, "I can't write the word chicken." He was told, "You have been writing it ever since you have been here." He said, "I don't think that word I have been writing is 'chicken.' It doesn't begin right and it isn't long enough." As he said this he moved his hand as if he were making the letters *her*.

At the end of ten months, B L was able to read at about fifth-grade level. His spelling was about fourth grade. Against our advice, he was returned to the sixth grade of the public school. He never went through the final stages of reading for speed and comprehension. At the time of our last report from B.L he was in the tenth grade at the age of sixteen He was doing excellent work in science and mathematics He still read slowly but well enough to get along in school or in some job but not easily enough to read for pleasure

## CASE 22 (M.L.)

## EXTREME READING DISABILITY

*Male:* Age, 9 years 1 month (Oct. 3, 1933).

*I Q.*: 126

*Vision, Hearing, Speech.* Normal

*Handedness* Right *Eye Dominance:* Right.

*Physical Condition* Fine looking, sturdy, great physical dexterity, strong and healthy from infancy

*Special Characteristics:* Remarkable ability in art. Draws and paints constantly Adjudged unusual by competent art critics.

*Family Data:* Father very intelligent, self-educated, great reader from early childhood. Did not have schooling above eighth grade Artistic. Mother, very intelligent and well informed, two years college, majored in art, no reading disability. One brother, two sisters all in superior intelligence group by city school ratings. One sister, two years younger, had difficulty in reading until remedial work was done with results similar to those reported here.

### CASE HISTORY

Very happy, well-behaved child at home and school through kindergarten and during greater part of first grade. He failed to make any progress in first-grade reading At end of first year he could not read or write the simplest monosyllabic word. As he began to realize he was not keeping up with the other children in his class, he became sullen and hard to manage During his second year in the first grade, he became a serious discipline problem, both at home and at school. He said he did not want to go to school, did not care to learn to read, and so forth. When the case was brought to our attention, we were told that the difficulty with the boy was indifference—that he did not care to learn.

The boy was used to demonstrate the kinesthetic method at the Pasadena meetings of the A.A.A.S., May, 1931, when he was 7 years 8 months old There

he learned to write, "The horse ran into the barn." These were the first words he had ever learned. On the way home, when he was told he had done well, he said, "I did write the horse ran into the barn, didn't I?" Then he broke down and cried. His parents say that he never cries even when he is badly hurt.

He attended the university Clinic School for three weeks the next year. He found he could learn words by tracing and writing them and made three very nice books, illustrated with his own drawings. He was unable to continue at the university as the family lived at a distance from the school. He went back into the second grade in the public school, confident that he could learn by the new method. There his teacher noticed that he was attempting to trace words and at the same time moving his lips as he said the words She insisted that he stop both practices and learn as the other children did. When asked the reason for not allowing a method by which the child learned so easily, the teacher said, "I know he can learn if he traces his words but it isn't in the county course of study, and besides we want him to be normal. Unless I watch him all the time, he even traces the words under his desk."

The result was that M.L. slipped back into his old reactions and emotional upset and became more of a behavior problem than ever

## REMEDIAL WORK

In the fall of 1933, when M.L was 9 years 1 month of age, he had three months of remedial work with a group of ten children in a special room in one of our city schools. The work was given for three hours every morning, from Oct 3, 1933, to Jan 21, 1934. All the children in the group were reading failures The methods were the same as those described on pages 35 to 55.

## RESULTS

M.L. learned rapidly. He made six beautiful books about various projects. These books were illustrated by original drawings. Tracing was unnecessary after three weeks He began to read incessantly. He read "Tom Sawyer" and "Treasure Island," among other books. His parents reported that he wanted to read all the time and that it was often necessary to turn his light out to keep him from reading too long after he had gone to bed By fall he was reading books in connection with his school projects, magazines, books by Mark Twain, Scott, and so forth.

After three months of remedial work, M L. was promoted to the third grade His teacher reported that he wanted to read all the time, that he disliked the "baby" stories the other children were reading. She obtained books that he asked for from the school library One of these was Macaulay's "History of England," which he read with great interest The teacher reported that he was easily the best reader in the room When interviewed at this time with reference to his hobbies, he gave them as "reading, arithmetic, and art"

M.L. was promoted an extra half year in the fall and refused the offer of a second promotion in the spring because he wanted to finish a history project on the California missions with the fourth-grade class. His teacher asked to have him stay with the class until the project was finished as he had looked up the details of making adobe bricks and of the general construction of the missions in encyclopedias and other books and was managing the entire project,

At the age of 15 years 11 months, he entered the tenth grade He was an incessant reader. Our last report of M.L. from the public school said that he was considered the most gifted child in the school.

TEST DATA

Intelligence tests (report of public school)

| Date | Grade | Test | Age | Score | M A | I Q. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 3/7/30 | Kgn | Detroit-Kgn. *A* | 5-6 | 21 | 5-11 | 108 |
| 9/17/30 | *B*1 | Detroit First *A* | 6-0 | 46 | 7-5 | 124 |
| 6/10/32 | *B*2 | Binet | 7-9 | | 9-5 | 122 |

Achievement tests (report of public school)

| Date | Grade | Test | Age | Score | Subject age | Grade Placement |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 5/19/31 | *A*1 | D.W R.-*A* | 6-8 | 4 | 6-3 | 1.0 |
| 5/19/32 | *A*1 | D.W.R.-*B* | 7-8 | 6 | | 1 1 |
| 1/11/33 | *B*2 | D.W R -*B* | 8-4 | 19 | 7-3 | 1 9 |
| 5/16/33 | *A*2 | HAGG. *R* | 8-8 | 2 | 6-5 | 1.2 |

Gates Primary Reading Test

| | Form 1, Oct. 3, 1933, Age, 9-1 | | Form 2, Jan 8, 1934, Age, 9-4 | |
|---|---|---|---|---|
| | Reading age | Grade | Reading age | Grade |
| Type 1—Word recognition. | 7-4 | 2.0 | 8-6 | 3 0 |
| Type 2—Sentence reading . | 7-9 | 2.4 | 8-1 | 2.6 |
| Type 3—Reading directions . | 7-5 | 2.0 | 8-8 | 3 1 |

Stanford Achievement Tests

| | Oct 3, 1933, Age, 9-1 | | | Jan 8, 1934, Age, 9-4 | | | Apr. 15, 1935, Age, 10-7 | | | Jan 30, 1940, Age, 15-4 | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | Score | Educ age | Grade | Score | Educ. age | Grade | Score | Educ age | Grade | Score | Educ age | Grade |
| Paragraph meaning | 3 | | | 31 | 8-6 | 3 0 | 89 | 13-9 | 7.9 | 110 | 17-0 | 10+ |
| Word meaning . . | 3 | | | 18 | 7-2 | 2 5 | | | | 108 | 16-8 | 10+ |
| Dictation (spelling). | 8 | | | 20 | 7-5 | 2 6 | 81 | 12-7 | 6.8 | | | |
| Arithmetic reasoning | 12 | 6-4 | 1 0 | 19 | 7-4 | 2 5 | | | | | | |
| Arithmetic computation . | 31 | 8-6 | 3 0 | 33 | 8-8 | 3 1 | | | | | | |

The tests in the first two tables show that in spite of a high intelligence rating, M L. made little progress in learning to read during three years in the public schools. He scored only grade 1.2 by the Haggerty Reading Test and 1.9 by the Detroit Word Recognition Test.

The Gates Primary Reading Tests, given at the beginning of the remedial reading work and again at the end of three months of remedial work, show an average improvement of 0 8 of a grade during that period.

At the beginning of the remedial work, M L. was unable to score on any of the Stanford Achievement tests except arithmetic At the end of the three months of remedial work, he scored third grade in paragraph meaning, 2.5 in word meaning, and 2.6 in spelling (dictation). One and a half years after the remedial work was started, M.L., then in the 5*A* grade, scored 7 9 in paragraph meaning and 6 8 in spelling. At the age of 15 years 4 months, M.L. then in the 9*A* grade, scored 17 years educational age on paragraph meaning and 16-8 on word meaning. Both these tests were above tenth-grade level

## CASE 49 (R)

## EXTREME READING DISABILITY

*Male:* Age, 9 years 2 months (April 2, 1932).
*I.Q* : 131
*Parents:* Father, well-known playwright. Mother and father divorced. Father remarried. Boy lives with father. Home luxurious Child well cared for
*Siblings* · One half brother, two years old.
*Vision, Hearing, Speech:* Normal
*Handedness.* Right.
*Physical Condition:* Strong, healthy child, very fine looking.

### CASE HISTORY

No report of any behavior difficulty until school failure. Attended kindergarten. Entered first grade at age of six. From the beginning of his schoolwork he was unable to learn to read After two years of failure in the public school he was sent to a private school of good standing and was tutored outside of school At the age of 9 years 2 months, after three years of school, *R* was unable to score on any reading test or to read the simplest primer. He had developed negative attitudes toward his teachers and toward other children He was constantly fighting and refused to play with other children during recess periods. He was extremely sensitive concerning his inability to read.

### REMEDIAL WORK

**Method.**—*R* learned his first words by tracing and wrote stories, which were printed for him. He was particularly interested in writing because he wanted to be an author like his father whom he adored. His first stories were quite elaborate tales of adventure. Several of them were plays, which the children acted out The project method, as described in Chap VIII, pages 94–100, was used to cover the work of the first four grades. He was very much interested in the *National Geographic Magazine* and worked up special topics from copies of

the magazine obtained at secondhand book stores. In arithmetic he did not know his number combinations and could not read problems, but was superior in his ability to solve problems if they were read to him. The work in arithmetic followed the plan outlined in Chap. XIV.

**Results.**—*R*'s progress in reading was very rapid; his recall for words used in his writing was practically 100 per cent Tracing was no longer necessary at the end of two months. He still wanted to write about his school projects and about adventures of all sorts. After one year of remedial work he went into the fifth grade of the public school. He was reported as doing very good work in the fifth grade and was promoted to the sixth grade at the end of the year In June, 1940, at the age of 17 years 2 months, he was graduated from high school. He was admitted to Princeton University in the fall of 1940 at the age of 17 years 5 months.

After the completion of the remedial work, there was no trace of the previous emotional difficulties. At the end of his high-school course, *R* was a friendly, charming, well-adjusted individual.

EDUCATIONAL TESTS

April, 1932 Total failure on all *reading* tests.
Wrote: "See my littee top "
"Do yow like thes book."
"eat ____ ____."
"he rundo s ____."
"stand well ____ "

*Arithmetic*· Failed on all tests because unable to read problems. When problems were read to him he made a score of 44 on the Stanford Achievement Test with an educational age of 9 years 6 months and a grade placement of 3.7. Because he did not know any of his number combinations, he used the numbers in the scoring at the bottom of the page to figure out the answers

Stanford Achievement Tests

| | Apr. 2, 1932 | | Feb 9, 1933 | |
|---|---|---|---|---|
| | Score | Grade | Score | Grade |
| Paragraph meaning | 0 | . | 36 | 3 2 |
| Word meaning | 0 | . | 47 | 3 9 |
| Dictation | 13 | 1 | 36 | 3.2 |
| Language usage | . | .. | 20 | 2 6 |
| Literature | 0 | .. | 45 | 3 8 |
| History and civics | | .. | 53 | 4.3 |
| Geography | | . | 43 | 3.6 |
| Physiology | .. | .. | 24 | 2.7 |
| Arithmetic reasoning | 0 | | 30 | 3 0 |
| Arithmetic computation | 0 | .. | 43 | 3.6 |

Actual time spent in remedial work approximately six months: Apr. 2 to May 25, Oct 1 to Feb 9.

## CASE 5 (W.J.)

## TOTAL READING DISABILITY

*Male.* Age, 8 years 9 months (June, 1924).
*I.Q.:* 92.
*Vision, Hearing, Speech:* Normal.
*Handedness:* Left.
*Family Data:* Incomplete. Reported as having a good home with respectable parents. Lived in a city in northern California. No siblings

### CASE HISTORY

Difficulty in learning in first grade. Repeated first grade without learning anything The third year in school he began to play truant, often running away after a day's absence from school and staying away overnight. He was sent to the Whittier State School on account of his continual truancy and his absence from home

When he entered Whittier it was found that he could recognize only one word and that was W$\underline{m}$ He could not recognize his name "William" or "Willie" in script or print. It was then discovered that he would call any combination of a large and a small letter "William" provided a line was drawn under the small letter, as D$\underline{x}$. He could not write his own name or the simplest monosyllabic word.

The first day he was started in school at Whittier he attempted to run away but was caught and brought back. It was immediately after this episode that the case was brought to our attention to see what could be done about the reading disability It was impossible to get a special teacher for him, so one of the older boys in the school who was a leading boy scout was shown how to teach Willie. The first "story" Willie wrote for the boy scout teacher was "I am going to school tomorrow."

A week later we found Willie working away filing words in his "word file" We were told that John, the teacher, was "printing" a story Willie had just written We stepped out of sight as John rushed in, spread a typed page on the table in front of William, and said, "There, read that." Willie made a book with illustrations cut from magazines. The stories for the dates from Sept. 6 to Oct 27 are given below just as the boy wrote them.

At the end of seven weeks, tracing was no longer necessary and Willie was eager to read. He was especially anxious to take all the tests given at the school although he had refused to go into the room where a group test was being given the first day we attempted to test him.

At the end of three months he had made three grades progress in reading and spelling and was allowed to go into regular classes. There was no further difficulty either in his school progress or in attendance.

A year after he had been returned to his home the school report was satisfactory

**On *Mar.* 15, 1940, *W.J.* was holding a good job in a printing establishment where he had been for six years.**

STORIES WRITTEN BY W.J. WITH THE HELP OF J.M., A HIGH-SCHOOL BOY SCOUT

"I am going to school tomorrow."

"The dog lives in Los Angeles. His name is Kewee. He goes to school every day."

THE CAT (SEPT. 10)

"We have a cat. His name is Kitty. He is a black cat. He is very tame We feed him meat and milk. He likes for us to pet him. He sleeps in a basket. We like him very much. He is a good pet."

W J

THE BIRD (SEPT. 15)

"We have a bird. He can fly in the air. He is a swallow. He is a blue and white bird He can sing like a canary bird He has a nest in a tree. He has five blue eggs."

THE HORSE (SEPT. 17)

"We have a horse. We call him Benito. We ride on his back. He can run fast He can trot too. When he trots we bounce up and down When he runs we do not bounce. I like to ride at a gallop. He is a Spark Plug. He will not kick or bite me."

THE BROWN BEAR

"The Brown Bear lives in the woods The Brown Bear likes meat. He likes to play in the woods. He can run and jump He stands on his hind legs. The bear likes honey. There are no bears in Los Angeles that will bite little boys."

THE DOG (SEPT. 26)

"We have a dog. The dog is black and white Rover is a little dog He has a little house. He has a long tail. He can jump up and down. He can chew a bone. He can bark and bite"

THE RED FOX (SEPT. 30)

"We saw a red fox in a rye field He had a chicken in his mouth. He ran away when he saw us. Our dog Kewee ran after him. The fox ran through the rye. Kewee barked at the fox. The fox ran into a hole. We dug the fox up with a shovel. We found four baby foxes in the hole. They are good pets We call them Spot, Brownie, Jip, and Shep. They eat little chickens. They sleep in a box. They are very tame. They will not bite me."

THE WHITE LAMB (OCT. 6)

"We have a little lamb he is white. When we feed him he goes baa baa. The little white lamb has a brother. He is a black lamb. They play all the

time. They play and eat in the tall grass. We all like the little lambs. They are good pets. They like for little boys and girls to play with them. They have pink ribbons on their necks."

THE RAT (OCT. 10)

"There is a rat in our cellar. He is black and white. He squeaks at night. He eats cheese and bread. He has three little rats. One is black, one is gray, and one is white. Rats are no good."

THE INDIANS (OCT. 15)

"The Indians live in North America and South America The Indians were fierce people. The Indians liked dogs. The Indians ride horses. They killed Buffalos They killed deer and caught fish in the rivers. They ride in canoes on the rivers. They hunt ducks for their supper. They cook the ducks over the fire and eat them They live in wigwams made out of Buffalo skins. They shoot bows and arrows."

THE PIGEON (OCT. 18)

"He is a wild bird. He has a nest with two white eggs in it. His mate sits on the nest. He goes coo coo coo. He fights with the other pigeons for food. He will peck you if you get too near his nest."

THE SAILOR BOY (OCT. 20)

"The sailor rides in a boat. The boat sails over the waves. He is on a war ship. They fight other ships. They have airplanes on the ship. The airplanes drop bombs. The bombs sink the ship. The sailor gets into a life boat when the ship sinks Then they row to land Sometimes the sailor get drowned. When the life boat sinks they have to swim to land. They like to ride over the waves. When it is rough they get sick. I would like to be sailor."

THE TRAIN (OCT. 21)

"We saw a train. It was going very fast. It was dark black It had lots of smoke coming out of its smoke stack. I like to ride on a train. John Muirhead likes to play train. He goes choo choo when he plays train I came here on a train. I live in Eureka. It takes two days to go to Eureka from here."

THE SCOUT (OCT. 22)

"The Scout can signal. He can hike a long ways in the woods. He does a good turn every day My teacher is good scout. He is a first class scout. Scouts go to school every day. Scouts tell the truth."

FOOTBALL (OCT. 27)

"I like to play football. You have to run fast. You get hurt lots. We have three foot ball teams. The C team. The B team and the A team. The C team won three games. I lost one game. The B team lost one game. The A team won two games."

## CASE 46 (R.W.)

## EXTREME READING AND SPELLING DISABILITY

*Male:* Age, 17 years 6 months (Oct. 1, 1928).

*Intelligence Test* Mental age, 16 years 8 months by original Stanford Revision of Binet-Simon Test.

*Vision, Hearing, Speech:* Normal.

*Handedness* Left *Eye Dominance:* Not determined

*Physical Condition:* Good physique, very fine appearance.

*Family Data:* Parents intelligent, fairly well educated. Father well-to-do proprietor of a grocery store. One sister, very intelligent, high-school graduate.

### CASE HISTORY

Complete inability to read, in spite of steady attendance at good schools. Could not write simplest sentence. When the boy failed to learn in the public schools, the father hired tutors over a long period of time and finally put him in an excellent private school. The result was still no progress in learning to read or write, though the boy did well in manual training and in such mathematics as did not depend upon reading He worked some in his father's grocery store but could not deliver groceries as he could not read the names of articles such as "sugar" or "potatoes" nor the names of streets.

The boy was referred to us after the twenty-year-old sister had written the following letter to a newspaper:

"Can you tell me what can be done about my seventeen-year-old brother? He can't read. He is a very nice looking boy and only a few of our intimate friends know of his trouble. He does not look dumb and has very little trouble remembering things that I read to him or that he hears or sees. In fact he sometimes astonishes me with what he can remember.

"He can remember plays and movies that he saw years ago and tell stories that I had long forgotten. He is interested in most subjects and especially does he like to hear about animals, the stars, and the planets. But this is not going to help him. I can't always read to him and something should be done for him

"The doctors say there is nothing mentally wrong with the boy and they predicted when they examined him at about 9 years of age that he would sometime learn to read. But he has not, though father kept a private tutor for him for over a year and he has had two years in an opportunity school. Here he learned to make useful things for the home, got high grades in workmanship and outdoor sports, but even they could not teach him to read. They reported him thoroughly reliable and a fine boy but totally unable to learn to read.

"He wants work so much but can't get it for this reason. He wants an automobile operator's license, but again he can't get it because of his handicap. He knows all the traffic rules and signs but he can't read new ones.

"And he is becoming more and more sensitive He does not want people to know of his affliction. And who can blame him? I feel so sorry for him and

want to help him and so I am asking you what to do for him. His success in life depends upon his cure."

## CASE ANALYSIS

**Intelligence Test** (Stanford Revision).

Mental Age: 16 years 8 months.

Did all 14-year tests, all tests but vocabulary and digits reversed of 16 year. The second alternate was given instead of the code test, as R.W. did not know his alphabet. In diagraming the path of the cannon ball, he said, "It goes straight out and then kind of falls." In answer to the question about hitting a distant target he said, "The one farther away would be harder unless the target was made larger."

Superior adult—paper cutting and ingenuity done correctly.

**Educational Tests** (Nov. 5, 1928).—No score on Stanford Achievement reading tests Less than first grade score in the Morrison McCall Test.

Writes:

"I will paly wat you
Lae the book darn
He lad the hors to the boid"

**Emotional Reactions.**—Excessive sensitivity over inability to read. Through all his early work, any visitor would cause the boy to flush and cringe. He would be upset for days. This extreme emotionalism persisted until the disability was no longer evident.

**Method.**—R.W began by tracing, according to the outline given on pages 35 to 39.

At first it was necessary for him to trace even common monosyllabic words many times before he could write them, but it was also possible for him to learn words of three and four syllables quite easily by the tracing method From the start he wrote about any subjects that interested him, animals, travel, aviation, and so forth. Everything written by R.W. was typed for him. The printed copy of his own compositions was thus the material for his first reading. After tracing was no longer necessary, R.W. continued to write, learning any new words from script or print. Gradually he began to read newspapers, magazines, and books. At the end of his work with us, he spent all his time reading about things of interest to him. This period, devoted exclusively to reading, lasted about two months As it was necessary for R W. to discontinue the school at this point, the experiment was discontinued before the final work described under stage 4 (page 51) was done. Later R.W. arranged to return and finish the work he began four years previously.

The work in "spelling," consisted in a study of the Ayres words by the same method used in writing other words but with a check on the ability to write the words as well as to recognize them. At first all words were traced, but after 2½ months' work R.W. had no difficulty in learning any word by looking at it, saying it, and then writing it without looking at the copy. If he missed the word on a later attempt to write it, the word was immediately written correctly after the process just described had been repeated. Care was taken not to allow the learning to degenerate into a mechanical repetition.

## RESULTS

**Development of a Foundation Vocabulary.** *Learning of First Words.*—The first word learned was *interested.* This was traced more than 20 times and then written correctly. The second word was *secret* and the third *service.* Both the latter were traced many times before they could be written but as they were done without supervision no count was kept. It was necessary for R.W. to trace *am* and *in* three times each before he could write them.

R.W. then (Oct. 1, 1928) wrote his first sentence, "I am interested in secret service." The word *I* is the only word he was able to write without tracing. The next day (Oct. 2) he learned, by tracing, *it* (2 tracings), *is* (2 tracings), *like* (4 tracings), *work* (4 tracings), *was* (3 tracings), *used* (4 tracings), *during* (8 tracings), *the* (2 tracings), *war* (4 tracings) (See Table 2.) He then wrote "I am interested in secret service. It is like detective work. It was used during the war."

In spite of the fact that R.W. had to trace words like *am* and *was* before he could write them, he recognized all the words he had written 24 hours later, 11 days later, 5 weeks later, and 3 months later. The only words he had any difficulty in recognizing were *war* and *work* which he missed on the same day they were written He had no difficulty at any time in recognizing any of the more difficult words in printed form but had to go back to the script once for *during*, *used*, *war*, and *was*. This difficulty occurred two days after the words were learned. Thereafter these words were immediately recognized in print. Table 2 shows the number of tracings necessary for the most common words at the start of his work.

Following are a few illustrations of the writings of R W. on the dates designated. It is impossible to include all his writings here, but the samples show the increase in the length and complexity of what he was able to write as the work progressed.

Oct. 1, 1928

"I am interested in secret service."

Oct. 2, 1928

"I am interested in secret service It is like detective work. It was used during the war"

Oct. 5, 1928

"Have you heard of the man who swam the Panama Canal? He was given official permission so that the locks were opened for him"

Oct. 11, 1928

"The English Channel is hard to swim. The water is very choppy."

"The university is located on Vermont Avenue in Los Angeles. Almost six thousand students go to the university. The university is in the Pacific Coast Conference. The teams play Stanford, California, Idaho, Oregon, and Washington."

Dec. 10, 1928

"On Friday the Maryland struck a storm. The wind blew seventy miles an hour and the breakers broke over the main deck. The Maryland stopped

at every country along the west coast of South America. In Chili Hoover's party made an overland trip to the east coast. From there he will take the U S.S. Utah to New York."

"There is a tradition at the University that the Juniors and Seniors play a football game each year. This year the president of the losing class has to stand on his head once every hour for a day. The game will be close. The seniors have more experience but the juniors weigh more."

During the first ten days of work R.W. learned to write 170 different new words by the tracing method. Of these he recognized 140, or 82 per cent, in printed form. He failed to recognize 30, or 8 per cent.

On Oct. 31, or just one month after his first words were learned, R W learned his first two words, *running* and *vote*, from script without tracing. From this time many words were learned by simply looking at the script and saying the word without tracing it.

On Nov. 13, the first word *sharp* was learned from print, that is, R W. looked at the word in print, said it, and then wrote it correctly. On Nov. 15, six weeks after the work started, the words *luck*, *its*, *nine*, *free*, and *most* were learned in the same way. During this same period, words like *expect*, *friends*, *different*, and *imagined* were learned from script without tracing.

By Dec. 12, 2½ months after the work began, he was able to learn any ordinary word by simply looking at the printed copy and saying the word over once or twice. On that date he wrote correctly (without copying), after a brief look at the printed copy, *helping*, *carrying*, *bass*, *sweating*, *ever*, *lift*, *braid*, and *checked* On Jan. 7, less than three months[1] after the writing of the first word, *Singapore*, *Yokohama*, *London*, *expect*, *friends*, *hotel*, *trying*, *anything*, *sail*, *which*, *usually* were all learned from the printed copy.

On Jan. 20, 1929, three months[1] after the first words were learned with numerous tracings, R W. learned 73 new words without tracing any except *whole* and *would*. Tracing disappeared altogether after Feb. 2.

At this stage, although very difficult new words were written correctly after a single glance, he would fail to recognize words if he were simply told what they were and did not write them. If, however, he wrote a word once after he had been told what it was, he would recognize it without fail, even if a considerable interval had elapsed. The writing still seemed essential for the development of word recognition.

On Dec. 12, R.W. began reading material other than his own writings. On that date he read the following composition which had been written by one of the other boys He read correctly all words except those underlined.

"Ben's team and Tom's team have been playing baseball. The game was a <u>close</u> one. They often met so there is a lot of <u>rivalry between</u> them. In the first inning Tom's team made one <u>point</u>. Then there were no points made <u>until</u> the last inning Tom's team went up to bat first, and they made another point, making the score 2 to 0. When Ben's team went up, they were in a <u>fighting</u> spirit, so they made two <u>hits</u> and then one boy made a home-run. If he hadn't <u>slid</u> for home he would <u>have</u> been out."

[1] The actual working time was less than the dates indicate, as three weeks' time was lost during Christmas vacation.

Between Oct. 1, 1928, and Jan. 24, 1929, with only three months' school attendance (three weeks' vacation), R.W. learned to write 823 new words for his compositions. Of these he recognized 750, or 91.13 per cent, on a check made at least one month after words were written. He failed to recognize 73, or 8.87 per cent. As a rule the words he failed to recognize were the shorter, easier ones

On account of limited space we are unable to give the entire word list. We illustrate with the words of the *a* and *s* lists:

*A*

about
absence
account
action
aeroplane
afire
afraid
after
afternoon
age
ago
air
airplane
all
almost
along
also
always
am
America
an
and
angry
animals
another
any
anything
apparatus
apples
approaches
apricots
are
Armistice
army
around
arranged
as
assembly
astonishing
at
athletic
Atlantic
auto
avenue
aviator

*S*

sailing
saint
saints
salt
San Francisco
San Pedro
Saturday
sauce
saves
saw
scheduled
school
score
scraped
sea
seaports
season
secret
sections
see
seedless
sell
seniors
sent
sentences
seriously
service
serviceable
set
seven
seventh
seventy
several
Shalot
sharp
she
ships
shipwreck
shirts
shore
short
shows
shrines
sides
signed
silky
Simba
Singapore
sister
six
size
skid
sky
small
Smith
snow
so
some
someone
something
sometime
sometimes
sort
sorts
south
southern
spaghetti
spare
spinach
spirit
sport
spring
Stanford

| | | |
|---|---|---|
| start | store | summer |
| started | storm | Sunday |
| starting | street | supplies |
| starts | streets | swam |
| state | stripes | sweating |
| station | students | swept |
| stayed | such | swim |
| stopped | sugar | switched |

After the Christmas holidays, R.W. was very eager to read. He said that he had been able to read the "funny papers" and some of the articles in the newspapers during the vacation. He read the university paper each morning, especially the accounts of athletics in which he was quite interested. He read also from books about subjects that interested him. On January 18, for example, he read the following and had no difficulty in recognizing any words except those underlined.

"St Mary's may play U.C.L.A. in a night football game next fall. This is the latest development in Bruin gridiron circles and it is being seriously considered by the officials of both schools. The Saints have been scheduled to meet the Bruins in the coliseum on the second Saturday in November."

In all this first reading, he would glance over a paragraph and underline any words that he did not recognize. He was told these words and wrote each one after looking at it carefully as he pronounced it. He would then read the paragraph over to himself and tell what he had read. Frequently he read the entire paragraph aloud. Care was taken, however, not to have him read out loud until he was sufficiently familiar with the words and content to read easily and with satisfactory word grouping.

Gradually R.W. spent more time on reading and less on writing. By the first of April, he definitely decided that he wanted to read as much as possible and spent all his time on reading and spelling.

During the same period that he was reading from books he read magazines, being particularly interested in advertisements. He would bring magazines with articles or stories in which he was interested and read them according to the method described.

As his reading ability increased, work was done for word group recognition with the flash exposure of word groups as outlined on pages 78 to 81. By the close of school, June 1, R.W. was able to read any ordinary printed material and to write about any ordinary subject. He still lacked the vocabulary that most boys of his age get from much reading. He felt, however, that he read well enough to get along in the work he wanted to do. Among other things, he had taken and passed the examination for his driver's license (see sister's letter, page 287) He had reached the point where he could learn any new word he needed to write, at one brief glance, and write it correctly thereafter.

The last Stanford Achievement Test (Form *V*) given May 20, 1929, gave the results shown in the table on page 293.

The work in "spelling," consisted in a study of the Ayres words by the same method used in writing other words but with a check on the ability to write the words as well as to recognize them. R.W. had no difficulty in learning any word by looking at it, saying it, and then writing it without looking at the copy.

| | Score | Grade |
|---|---|---|
| Word recognition | 51 | 4.1 |
| Word meaning | 33 | 3.1 |
| Dictation | 56 | 4.4 |
| Geography | 73 | 5.9 |
| Arithmetic reasoning | 81 | 6.8 |
| Arithmetic computation | 67 | 5.4 |

If he missed the word on a later attempt to write it, it was *immediately* written correctly after the process just described had been repeated. Care was taken not to allow the learning to degenerate into a mechanical repetition.

## SUMMARY OF CASE 46

*Oct.* 1, 1928. R.W. was unable to score on any reading test or write the simplest sentence. He wrote first words after many tracings.

*Oct.* 31, 1928. R.W. wrote first words without tracing.

*Nov.* 13, 1928. First words learned from printed copy.

*Dec.* 14—*Jan.* 5, 1929. Christmas vacation.

*Between Oct.* 1, 1928 *and Jan.* 24, 1929. R.W. wrote 823 new words in his compositions. Of these he recognized without fail on repeated check, 750, or 91.13 per cent, and failed to recognize 73, or 8.87 per cent. As a rule the words he failed to recognize were the shorter easier ones.

*Apr.* 1 *to June* 1. Read several books, magazine articles, and so forth. Spent most of time in reading and checking spelling of common words.

*June* 1. Able to read any ordinary material. Graded between fourth and fifth grade on Stanford Achievement tests for reading but read above this level in material connected with matters that interested him and about which he had written. Work discontinued.

In reading from Apr. 3 to May 20, R.W. failed to recognize 312 words. Of these 41 were old words he had used in his writing, 271 were new words. That is, only 13 per cent of the words he failed to recognize were words he had *previously learned.*

## CASE 45[1] (C.L.)

## EXTREME READING DISABILITY

*Male:* Age, 16 (June 21, 1930).

*I.Q.:* 103 (Stanford Revision of Binet-Simon tests).

*Vision, Hearing, Speech:* Normal.

*Handedness:* Right. *Eye Dominance:* Not determined.

*Family Data:* Both parents intelligent; common school education; no reading disability. Two sisters, one brother—no school difficulty of any sort. One sister, a high-school teacher.

[1]All work on this case was done by Miss Lillian Rayner, high-school teacher and counselor in the Los Angeles city schools and instructor at the University of Oregon clinical school during the summer session.

## CASE HISTORY

Started school when six years of age Had learned the number combinations by himself before he started school, so was put in the second grade in arithmetic From the start he had difficulty in learning to read and spell. At the end of the first year had an *A* in second-grade arithmetic, but was conditioned to the second grade on account of reading and spelling Continued with *A* grades in arithmetic, poor grades in reading, and *F*'s in spelling in the third grade.

His school attendance was irregular during the next three years on account of sinus trouble which heightened the difficulty already existing. We find him at the age of fourteen in the fourth grade, still getting *A* in arithmetic, barely passing in reading, and *F* in spelling. He explains getting some passing grades in reading by saying that he was not asked to read out loud and that he would do the arithmetic for the boy across the aisle, who, in turn, would tell him what the story he was supposed to be reading was about.

The boy attended the ten-week summer session at Oregon, and then came to Los Angeles in the fall and entered the junior high school where he could be under Miss Rayner's supervision. He was allowed to enter classes of the ninth grade after signing a statement that he would ask for no credit for his work.

## CASE ANALYSIS

**Intelligence Test.**—I.Q , 103 (Stanford Revision, Binet-Simon).

**Analysis of Test Results.**—Did all tests up to fourteenth year except 10-year reading and 12-year dissected sentences Did all 14-year tests. In the sixteenth year he failed on vocabulary, digits backward, and code; succeeded in fables, differences between abstract terms, and problem of enclosed boxes. In the eighteenth year, failed on vocabulary, memory for eight digits reversed; succeeded in paper-cutting test, meaning of passages, and ingenuity.

**Reading Disability.**—Sufficient to result in complete failure on any material above first-grade level. Even in an ordinary first reader there would be many words he could not read without help

**Slow in Response to Spoken Word.**—There was the same slowness in comprehending what was said to him that we noticed in other cases. The boy was so slow at times as to appear stupid. If he was allowed to say the words over to himself, he would react to them in a normal fashion.

## METHODS

The boy started tracing all his words. By this method he learned very rapidly. From the start he showed a distinct skill in writing. We were all surprised at the complex and charming things he produced as soon as he found he could learn to write the words correctly. He was so full of the thoughts he wanted to get down on paper that it was only necessary to have someone at hand to write the words he asked for, so that he could learn them. He had no difficulty in reading the printed copy of anything he had written. The tracing period was very short. C L. soon developed the ability to look at a word, say it, and write it.

By the time he started his work in Los Angeles, he could learn any word from the printed form by merely saying it as he looked at it. His reading

TABLE 25.—RESULTS OF STANFORD ACHIEVEMENT TESTS (CASE 45)

| Date | Test I Paragraph meaning | | Test II Word meaning | | Test III Dictation | | Test IV Language usage | | Test V Literature | | Test VI History, civics | | Test VII Geography | | Test VIII Physiology | | Test IX Arithmetic reasoning | | Test X Arithmetic computation | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade | Score | Grade |
| June 21, 1930 | 16 | 1 | 37 | 3 3 | 0 | . | | . | | | | | | | | . . . | 44 | 3.7 | 60 | 4 7 |
| Aug. 21, 1930 | 52 | 4 2 | 52 | 4 2 | 40 | 3 4 | | | | | | | | | | | | | | |
| Jan 15, 1931 | 61 | 4 8 | 55 | 4.4 | 49 | 4 0 | 49 | 4 0 | 72 | 5 8 | 63 | 5 0 | 62 | 4.9 | 75 | 6.1 | 85 | 7 4 | 76 | 6.2 |
| June 16, 1931 | 80 | 6.7 | 53 | 4.3 | 60 | 4 7 | 64 | 5 1 | 81 | 6 8 | 85 | 7 4 | 75 | 6 1 | 76 | 6 2 | 88 | 7.8 | 109 | Above 10 |

NOTE: Unfortunately, form V of the Stanford Achievement Test was used at the Los Angeles High School as well as at the Clinic School at the University of Oregon. This would seem to be of little consequence except in the case of the tests given in January and July, 1931, after sufficient reading ability had been developed to make practice a factor in ability to do the tests. The school records show that the boy was able to do better work than the results indicate. The table shows the progress of the boy during his year of remedial work.

level was about the middle of the fourth grade at this time. He went into regular ninth-grade classes and was given an hour of special help in reading and spelling each day. He read with great difficulty but with a high degree of comprehension of content.

## RESULTS

At the end of the 10 weeks of the summer session, the boy's reading level had gone up to 4.4 grade, his spelling from 0 to 3.4 grade. He was thrilled over his progress and eager to go on with his work.

In his work at the Los Angeles High School, he was at first lost, but improved steadily, and continued to work all the time. At the end of the year he was allowed to take the examinations with his classes as a mere matter of form. He passed all his examinations so well that he was allowed to graduate from the ninth grade. He made the highest grade in a large class on the final examination in natural science.

He returned to his home in another state and graduated from the local high school in June, 1934, just four years after his first remedial work. In 1936 he was a junior in a university of first rank. He found the work difficult because of his lack of reading background but tried to make up the deficiency by much reading in his spare time.

# CASE 43 (R.F.)

## UNIVERSITY STUDENT, PARTIAL READING DISABILITY

*Male:* Age, 26 (May 1931).
*Vision, Hearing, Speech:* Normal.
*Handedness:* Right.
*Physical Condition:* Strong, good physique. No history of illness.
*Social Status:* Made friends easily. Rather shy with other students.
*Family Data:* Parents both fairly well educated. One sister, no reading disability.

## CASE HISTORY

Great difficulty in learning to read and spell. Repeated first and third grade. Never read as other children did because it took too long. Never read any books for pleasure. Worked very hard all through school, studying hours out of school in order to prepare lessons. Managed to graduate from high school by working all the time during the four years of high school. During all his high school, he did not read anything outside of books required for schoolwork. Had to work excessively hard over anything requiring reading and have the assistance of the family in making out the most common words.

Graduated from high school at the age of 19 with college recommendations Worked at various jobs for two years before entering the university. Took one year at business college, failing completely to learn shorthand or improve his spelling. Entered university; was disqualified at the end of the first semester. Failed in all subjects except mathematics.

## CASE ANALYSIS

**Processes Involved in Reading.**—Read very slowly with lip and throat movement A study of both lip and eye movements showed that he repeated words and phrases over many times to himself in the attempt to get meaning Oral reading showed that he either made errors in many common words or had to mouth them over in order to read them correctly.

**Reaction to Spoken Word.**—R F was distinctly slow in his response to spoken words, in spite of the fact that he talked very intelligently and made excellent choice of words to express his ideas. He would seem not to understand what was said to him but after a very noticeable pause would come out with a response in which the choice of words was surprisingly good considering the case history.

**Imagery.**—Hand and lip-throat kinesthetic. No visual imagery at any stage of the learning process.

**Emotional Reactions.**—Evidence of fatigue and extreme emotional imbalance after a short period of reading. Face muscles became rigid, eyes bloodshot, whole attitude tense. Very noticeable panic in examinations requiring reading or writing.

## METHOD

Two hours a week of special reading work was done with R.F. through one semester. This was much less time than was spent in the other adult cases, in which several hours a day were given to remedial reading

The time was devoted entirely to reading. The method was the same as that used in cases 41 and 42, except that the written work and reading, based on this, were omitted. R.F glanced over a given paragraph, marking any words he failed to recognize immediately These words were written by him, at first with the tracing method. Flash exposures were given to get apperception of word groups. Verbal and oral reports were given of the content read.

## RESULTS

On reinstatement R.F made a *C* average, which allowed him to stay at the university on probation but did not remove probation. Following are the results of Army Alpha and Intelligence tests given at the beginning and at the end of the period of special work.

Results of Army Alpha Tests*

| | Score |
|---|---|
| May 4, 1931 | 98 |
| Apr. 29, 1932 | 145 |

The data based on the examination of 434 entering freshmen at the University of California at Los Angeles give the following results for the Army Alpha:

| | |
|---|---|
| Mean score | 152 |

Less than 0 6 of 1 per cent fall below 100.

* Courtesy Ellen B. Sullivan.

RESULTS OF STANFORD ACHIEVEMENT

| | Score Test 2, Word Meaning |
|---|---|
| May 4, 1931 | 82 |
| Apr. 29, 1932 | 109 |

The data based on the examination of 434 entering freshmen at the University of California at Los Angeles give the following results for the Stanford Achievement Test 2, Word Meaning:

| | |
|---|---|
| Mean score | 120 |
| Less than 10 per cent fall below 109. | |

Observation of R.F at the time the second test was given showed that he still moved his lips while reading, enunciated each word to himself, and went back over words and phrases. He did not read for pleasure as did cases 41 and 42. He said that he managed to cover his university assignments in much less time than was formerly required, but that he still had to spend all his time studying, in order to make *C* grades.

The improvement of 47 points in the Army Alpha score (from 98 to 145) and of 27 points (82–109) in the Stanford Achievement word meaning test brings him up to a point slightly below that of the mean of entering university students in each of these tests, but within the range of students able to do satisfactory university work.

After three years of work at the university with only a *C* average, R.F. finally made a *B* average his senior year. This gave him the grade points necessary for graduation

## CASE 41 (J.R.)

## UNIVERSITY STUDENT, PARTIAL READING DISABILITY

*Male:* Age, 20 (July, 1929).
*Intelligence Tests·* Does all tests of original Stanford Achievement
*Vision, Hearing, Speech:* Normal.
*Handedness·* Right.
*Physical Condition·* Good physique, attractive appearance, no history of serious illness
*Family Data:* Father university graduate, high-school principal. Mother college graduate. One sister, teacher.

### CASE HISTORY

Had great difficulty in learning to read from the start. Parents worked with him constantly out of school hours. In spite of regular attendance and hard work by both the boy and his parents, he was a complete reading failure until he was twelve years old. His parents continued to read his lessons over with him each day at home until he finally acquired the ability to read slowly and with difficulty. He was always excellent in arithmetic except when he was required to read problems. He had genuine artistic ability and excelled in

mechanical drawing of any sort. His skill in this last respect has been sufficiently above the average to make it possible for him to get and hold jobs in large architectural and engineering firms, even during the summers of the depression years.

J R. was admitted to Stanford University on credentials. He was disqualified at the end of the first quarter, his only passing grade being in mathematics. He worked in an architect's office for a year. He was reinstated at Stanford and again disqualified at the end of one quarter with failures in history, English, and French.

The case was called to the attention of Professor Walter Miles, of the Stanford psychology department Dr. Miles discovered the long history of reading disability and that the boy had never acquired sufficient skill in reading to meet the requirements of university work. Dr Miles refers to him as "a young man, apparently a non-reader, who has lately been disqualified for the second time from Stanford." J R attended the Clinic School at the summer session of the University of Oregon for six weeks, and then spent two months at the Clinic School conducted by the psychology department of the University of California at Los Angeles He was reinstated at Stanford on probation at our request.

## CASE ANALYSIS

**Slow Reader.**—When reading to himself, he read word by word with definite lip movement for each word. He often repeated words several times as if in an effort to get at their meaning. It seemed to take several re-readings of even common material to get the meaning of what he read.

**Failure to Grasp Word Meaning.**—Often he would seem unable to think the meaning of a word that he had managed to read, and so was unable to get the content of a sentence or paragraph.

**Slow in Reactions to Spoken Word.**—He was often very slow in his response to questions, no matter how simply they were phrased. There would be a definite hiatus during which J.R. seemed to be puzzled over the meaning of the question

**Imagery.**—A series of laboratory tests, as well as introspective report of the reading process, showed that the first recall content was throat and hand kinesthetic,[1] followed, after a definite interval, by a very distinct visual image. The kinesthetic stage seemed necessary for the development of the visual image and lasted for a considerable period This relationship is still maintained during the learning of any new thing.

**Physiological Symptoms.**—Evident eyestrain during reading in spite of fact that repeated examinations showed the eyes were normal After a period of reading the eyes were always bloodshot and twitched nervously. General fatigue was very evident. J R reported that his throat muscles were always fatigued after continued reading (see page 301).

**Emotional Reactions.**—Very sensitive, apologetic attitude; at first seemed unresponsive. Eager to work, but morbid over failure. Often gave appearance of great depression.

[1] It is to be noted we use the term "content" rather than "image" in describing the kinesthetic recall This avoids discussion of the theoretical question as to whether there is any true kinesthetic imagery.

## METHOD

During the six weeks at the University of Oregon, the greater part of the day was spent in working by the methods described on pages 73 to 82. It was arranged to have J R. take one regular university course in history with Professor L. J Saunders. All the references for this course were used as part of the subject matter for the reading work.

During the ten weeks at the Clinic School at the University of California at Los Angeles, the work in reading and writing was continued. It was arranged to have J.R. take one of the regular university courses in English and one in beginning German We felt that the latter was very important, as he had failed in all attempts at a foreign language for the same reason that he failed in English. He had failed in French and Latin in high school and French at Stanford (For method in German, see his own letter, page 302.)

It was necessary to have him entered at the university as a "clinical subject" with no credit for the courses, as he was still under disqualification from Stanford. By special arrangement, he was allowed to be called upon to recite and take all examinations.

## RESULTS

**Oregon Clinic.**—J R. showed great improvement in reading rate and comprehension during the six weeks. However, he still had to go through a sort of translation process in order to get the meaning of what he read. At times he would read quite easily and then suddenly fail to get the meaning of some ordinary word, until he had said it over to himself several times.

He passed the course in history with a *C* grade, of which he was very proud. The following statement from Professor Saunders gives an excellent summary of his progress at this stage.

"I enclose J.R.'s final paper in English History. The mark (3) is too high for the actual performance, but you will see for yourself that the paper improves toward the end as the student recovered from his panic, and occasionally there are quite effective points of focus amid the disorganizations "

III. **Progress in German.**—From the start J.R. did excellent work in beginning German. He had never had any experience with the language and so was not handicapped by habits or negative conditioning. His own report (page 302) gives a complete statement of his methods and results in the language. It was the first subject to arouse his enthusiasm as he found himself able to master it by the new technique he had developed

**Attitude.**—The change in attitude was, perhaps, the most striking development in the case. J.R. lost all his old suppressed appearance. His face became expressive and alert. The dull, almost stolid expression disappeared altogether. His own letters and report which follow (pages 301–303) make further comment unnecessary.

**Since Reinstatement at Stanford.**—J R. took five subjects the first quarter he was readmitted to Stanford on probation. He made five *A* grades at the end of the quarter This gave him full reinstatement plus 9 honor points. He had no difficulty in keeping up with his work. He was graduated from Stanford in June, 1934, with a *B*+ average for the entire four years. He had worked

for one year because a particularly good opportunity was offered him. He is now holding a very fine engineering job.

The most valuable data we have on this case are the subject's own accounts of his experiences as contained in his letters and in a final analysis which he made at our request. The following are extracts from his various letters and his report in full:

### Extracts from J.R.'s Letters and Summary of Experiences

*From letter to Professor Miles, May 2, 1929:*

"I certainly do appreciate your interest in me and want to thank you sincerely . . . If I can learn to read, it will mean more to me than just a chance to get back into Stanford."

*From his first letter after reinstatement:*

"I certainly want to thank you for all you have done for me. Aside from actual reading work, you have restored my self-confidence, which is in a way more important.

"Would you be pleased to know that I, Exhibit A, received five *A*'s on my card for last quarter's work? I am now off probation and plus nine in the standings as published quarterly. My grades[1] were "A" in German. . . . As you see, I left history alone, but I am not afraid of it now."

*From letter at end of second quarter after reinstatement:*

"I would like to repeat that the greatest handicap to the non-reader as I see it from my experience, is the complex that accompanies it. I used to fall down in mathematics exams even because of a fear developed in other courses. I took my math exam (final) this quarter with a bit of cramming and brought the grade up from a *B*— to a *B*+. I'm not proud of my math. grade, but the history and German made me feel pretty fine."

*General summary written by J.R., Feb.* 10, 1931

"Prior to the summer of 1929 my reading rate was fearfully slow, as you know. This was due to the awkward mechanics I employed. In the first place I read practically every word either with my lips or with throat movement. The reason for this seemed to be that I was unable to get any meaning out of groups of words, but only out of single words. The process of getting meaning from the printed page was a sort of translation system in which I would associate certain preconceived ideas with each word and then the sum total of words would mean a sum total of little short ideas, which after reflection would give me the meaning of the sentence. However, this system did not work well with long, involved sentences because I found it necessary, in many instances, to reconstruct my ideas as I proceeded with the sentence and often it would take several readings before the true meaning of the sentence became clear. Dealing with each word as a separate unit it was very hard for me to realize a subtle meaning placed on any one word which would naturally alter the sentence. The activity of my throat muscles was very fatiguing to me and I

[1] All grades were verified by report from University Recorder.

found it very difficult to continue reading for any great length of time. Also it was very boring to get so few new ideas per length of time spent. The result of this was that my mind would wander from the subject at hand.

"In the summer of 1929, I was given an opportunity to learn to read all over again. First my old habits had to be broken and then new ones formed. I was allowed to look at a group of words only a fraction of a second and then they were covered. At first, because I could not read each of them, I would get very little or nothing out of the phrase. The harder I would try the less I seemed to accomplish. Finally the nervous tension was eliminated and I began to be able to see more words without being so conscious of seeing any one of them. Finally the groups meant ideas in themselves. The words that I was conscious of as words were similar to those of a telegram, with the prepositions, conjunctions, and articles understood.

"I do not like to suggest that the way I learn a foreign language is correct or should be followed by anyone other than myself. It is quite satisfactory as far as I am concerned and that is why I work the way I do. In the first place I never had done much memory work and always relied on an ability to reason logically from a simple base that was familiar to me. Then I tried to memorize everything and that only confused me because I did not have time to do it all well. Starting with German, as my one successful language attempt, I would like to say that I found a large amount of memorizing necessary. However, I did not try to memorize more than a suitable vocabulary. In as far as possible I tried to associate the words, not with our words that correspond, but with the thoughts and objects that are represented by them. The nouns, verbs, and adjectives that I attempted to learn, I really did learn, so that in the end I spent less time and accomplished more as I did not have to bother about looking up words over again and also in reviewing, I was able to omit all of the parts that I had done thoroughly. As I said before, I did not try to memorize everything. The grammar followed, to a certain extent, a logical course, and for that reason I could remember what to do in each particular construction without actually memorizing many rules. I would pick a difficult sentence, one that had confused me to some extent in preparing a lesson, and after it was straightened out for me in class I would keep it for a reference The simple examples in the book did not always explain all of the little difficulties that arose out of usage. The harder sentence did, and also adequately explained everything that the simple sentence did.

"I also developed a different system for memorizing the things that I had to memorize. In the first place, I would read over the words or the conjugation, as it might be, without any particular attempt at learning any of it, but merely to become used to the sound of the words. Then I would concentrate on the ones that seemed the most difficult, that is, the ones that had no direct connection with the English equivalents either in sound or spelling Most of the German words are spelled phonetically and that helped me, as I remembered your system of learning the words by syllables I would look at the word, close my eyes, and try to visualize it. Then I would pronounce it aloud by syllables reading it as I would see it with my eyes closed. The advantage of this seemed to be that my mind was more active and also, when I would again come to the word in a story, its form was enough to tell me what it meant. I also wrote the words so that my hand became familiar with the forming of

them. That enabled me to write much faster in examinations. When we had reading to do, I would read thru the lesson much as I would an English story and then see what meaning I could get out of it. I could usually get enough to give a brief summary of the story. Then I would go thru it again and look up words that were necessary to know for the meaning of the sentence at hand The words that I could guess at I would. Any word that appeared a second time I would learn well. I found that a good idea, because that gave me a vocabulary of words that are in very common use. That seems to be the main group of points that I employed Also I concentrated on what was going on in class until I could understand what the professor was saying in German. I never could understand a word in French."

## CASE 42 (B.T.)

## PARTIAL DISABILITY, HIGH SCHOOL

*Female:* Age, 17 (July 1929).

*Result of Intelligence Tests:* Superior adult classification by original Stanford Revision of Binet-Simon test.

*Vision, Hearing:* Normal *Speech:* Normal except for slight hesitation at times.

*Handedness:* Right. *Eye Dominance.* Not determined.

*Family Data* Both parents university graduates. Father professor of English in university of first rank Mother well-known writer Three brothers. Two older brothers brilliant students, younger brother no reading or spelling difficulty.

### CASE HISTORY

Great difficulty in learning to read and spell. Considered the "intellectual black sheep" of a brilliant family. Only subject in which she excelled was mathematics. Intelligence quotient, based on results of group test given in the public school, gave her lowest rating in her class. So certain were her teachers of her stupidity that they were greatly amused at our diagnosis of normal mentality.

At the time we began to work with her, she had completed her junior year in high school with very poor grades and no chance to make college recommendations.

Reading level below fifth grade (Stanford Achievement).

Spelling below third grade (Ayres Scale).

### CASE ANALYSIS

**Slow and Inaccurate Reader.**—Read word by word with lip movement, going over words and phrases many times to get the meaning. Often misinterpreted the meaning because of incorrect perception of single words, as *ability* for *agility*, or failure to attach meaning to a well-known word, although correctly pronounced.

**Failure to grasp meaning of common words** without repeating them and thinking what they meant. This was true of words which B.T. had heard used constantly and of which she knew the meaning. If she had time to think what the word meant and then go back over the group of words in which it

occurred, she could get the correct meaning. If she were attempting to read at all rapidly the result was the failure to understand the entire word group or the misinterpretation of the whole.

**Reaction to Spoken Word.**—B.T. reported a slowness to get the meaning of spoken words. We observed only a deliberateness which seemed to us quite charming in a young girl. Her teachers, however, reported her very slow to comprehend what was said to her.

**Imagery.**—Very predominantly hand-kinesthetic. No visual image at any stage of the learning process.

**Emotional Reactions.**—Shy, sensitive, but from the start completely carried away by the thrill of being able to learn. (For details, see own report, below )

## METHODS

Learned words by tracing, then writing Continued tracing for six weeks then became able to learn words by saying them while looking at words in script, or print. Did much writing and reading during six-week summer session. No problem in motivation as subject was so eager to learn, and so delighted with her ability to do so, that she worked incessantly.

Subject did much reading for comprehension and speed according to the plan outlined on pages 75 and 78 to 81.

## RESULTS

Steady increase in reading rate and ability to write correctly during ten weeks of summer session Reading and spelling normal for age by end of summer.

Returned to high school in the fall. Made *A* grades in all subjects during senior year, including French. Passed entrance examinations for a woman's college of first rank. After two years, B.T. was transferred to the state university from which she was graduated two years later. Only subject in which she had any difficulty was German. This was taught quite formally which probably explains the difficulty. The learning of vocabularies, as such, seemed impossible.

The subject's own analysis of the case is sufficiently valuable to be given in full. A letter received from her during her senior year in high school precedes the report.

### Letter Written in Senior Year in High School

November 1, 1929

"I owe you more than I ever can tell you. I've been waiting for my report card to write to you so that you could have proof.[1]

"I read with such ease, which has opened up to me a new world It seems astonishing how much it means to one to be able to read easily. Through books and a happier living, I have lately come to feel the great romance and thrill to be alive.

"You have not only given me an ability to read and spell, but you have given me the reputation of being bright, self-confidence, happiness, intellectual

[1] All grades 1, including French and English.

stimulation, and all that goes along with those things I was an unhappy child, afraid of life, and I thought I was inferior and "dumb" Can you see what you have done for me? I feel deeply indebted to you and hardly know how to repay, but to work hard and try to make myself the finest kind of a person.

"My studies are not the only things that have come through with flying colors this year. I am editor of our annual; I am secretary of the Girl's League; I am president of the Inkspots, a girl's writing club, I am president of the French Club, and I was head of the Little Sister movement at school, at the first of the year. Above all I'm in the prime of health and happiness.

"My heart aches when I think of hundreds of other youngsters who haven't the chance I have and are struggling along unhappy, thinking themselves inferior and "dumb." It seems to me that that thought of yourself is the most poisonous thought there is. Through books life holds in store so much, and yet their eyes are blind.

"Every night I'm tutoring a little neighbor boy, who has had great difficulty. He's pulling through. If I can but give him that start which you gave me! He reads much more easily than he did when I started with him, and he is very quick in spelling

"Every Friday, in school, I have a small class in spelling. They all seem so anxious to learn to spell and work so hard. They are thrilled as I am, to see how easy it is to learn to spell that way. All the English teachers are so interested in it now.

"One thing that infuriates me so is the intelligence tests they give at the schools every year. Perhaps I am wrong but it seems to me that they only test rapidity in reading and ability to concentrate, along with vocabulary. Perhaps I'm especially prejudiced because I get low grades and that I've seen over and over again students find out they have a low rate and get to feeling they are "dumb" By an intelligence test, on which I found I rated very low, was when I first thought I must be inferior. It seems so unfair, so uncertain to draw such conclusions as they do from these tests"

Summary Written by B.T. at End of Freshman Year in College

"As a child, I lived in a world of my own, more or less unconscious of what was going on about me. When I sat at the table with my family, I didn't hear the conversation at all, for I would be thinking about something else. Then, not to be left out of things, I would suddenly try to enter the conversation, not knowing what had been said. I made irrelevant remarks that sounded dumb or silly. My brothers made fun of me and would say, 'Here comes Betty by freight' I used to wonder why I was different.

"When people spoke to me, I would almost always ask them to repeat it for I hadn't listened to what they had said I almost never heard a whole conversation, and it was an effort for me to concentrate upon what others were saying. My mother had me tested several times to see if I were deaf, but it turned out that I could hear as well as anyone.

"When I went to school I found new difficulties. It was a very hard struggle for me to learn to read I didn't concentrate upon what the teacher was saying. When we read our lessons to ourselves, I would read pages without knowing a thing it said. Sometimes I would sit with a friend and we would run our

fingers along under the sentences to keep our places. My friend read so much faster, and I didn't want her to know I was so slow, so I would run my finger along faster than she. She admired my rapidity. My reading aloud was a terrible struggle and the teacher would have me sit down as soon as I struggled through one sentence When I read aloud I guessed at words, mispronounced them, and put words in that weren't there in place of those that were.

"I scarcely ever read to myself all through my grammar school and junior high school years. When I did read to myself it was because my mother was very anxious for me to read, but it was a terrible struggle for me I would find that I had read pages without knowing what it said, or about half of what it said

"My spelling was likewise very difficult. I had to ask how to spell almost every word when I wrote. If someone dictated a word to me, it was very hard for me to write it. They had to spell very slowly and repeat, and repeat before I could get it. When we had spell-downs in school, I always missed the first word.

"In conversation, I constantly mispronounced words, and I couldn't hear the difference when they were pointed out to me For instance, there was no difference between *Moore* and *more*, and *really* and *reely*, in sound

"In grammar school I didn't worry over my difficulties very much. I was happy in my own little world, and I got good grades in everything but reading and spelling.

"In the seventh grade, my first unhappiness came. We were given intelligence tests. Some of my friends and I went to the principal to find out what we had gotten in our tests. My friends all had good I Q 's, but when I asked for my I Q , the principal looked at me gravely He told me my I.Q. before my friends, and it was twenty points under any of them I didn't let my family know for I couldn't bear to let them know how dumb I was. My brothers had both gone through the school before me and had been excellent students

"One day one of the teachers became angry with me and said that I was the intellectual black sheep of the family. At last I began to really believe I was. All the little fears of this through my school at last came to the conscious surface I didn't want to be with people. I was afraid of being found out, or I was afraid they didn't want me around. I cried a very great deal when I was alone I loved my family and I wanted to be good enough for them.

"Finally my mother went to Dr. DeBusk and told him my difficulties in reading and spelling. He gave me twenty words to spell of which I spelled eighteen wrong He had me trace each one, and gave me the list again, and I spelled eighteen right. It was a wonderful thrill and surprise to me to find there *was* a way I could learn to spell

"Then I went to summer school at the University of Oregon. Here I wasn't considered "dumb," but only someone with difficulties. Suddenly reading became easy! I had a sudden desire to read everything I found I could learn to spell, and I learned that I wasn't intellectually inferior. Being able to read opened up a whole new world to me. My great sorrow left me and I became suddenly awfully anxious to learn the many things I didn't know.

"I had been given the tools to learn and still more, I'd learned what happiness was! Bit by bit I overcame my inferiority complex, and the world became a different place for me.

"The year following this summer, which was my last year in high school, I got a scholarship cup for being the senior girl with the highest grades

"I am now in a college of high scholastic standing and I don't feel at all inferior intellectually. I feel lacking in a reading background, but I'm acquiring that as rapidly as I can I have to be a little careful yet in not letting my mind wander when I'm talking with people, and I'm listening to lectures or reading. I still trace words if I find I don't remember how to spell them when I look at them. I love to read and it is easy for me I am very happy now!"

## CASE 50[1] (D.M.)

## EXTREME READING DISABILITY

Case in which environmental factors, aside from reading disability, contributed to general emotional instability.

*Male.* Age, 10 years 10 months (July 8, 1936).

*I.Q.:* 101.

*Vision, Hearing, Speech*· Normal.

*Handedness* Right *Eye Dominance:* Right.

*Family Data*· See case history.

### REPORT OF CHILD WELFARE AGENCY

"*Physical Examination.* 7/8/36. General physical condition good Wasserman (7/26/35), negative No history of thumb sucking or enuresis. No indication of masturbation.

"*Psychological Examination.* 7/11/36.

"Revised Stanford-Binet (L), physical age 10-10, mental age 11-00.

"Arthur Performance Scale—performance age 11-0

"Monroe Diagnostic Reading Examination—reading index 0 37.

"*Classification.* Normal.

"*Abilities Indicated.* Good in picture analysis and in observing picture absurdities, and inferior in verbal analysis and in perceiving verbal absurdities.

"*Disabilities Indicated* Poor memory indicated in retaining verbal impressions, as well as in repeating digits. His rote memory and ability to retain are equally poor. Slow to comprehend verbal material and inferior in perceiving verbal relationships.

"*Remarks.* Test range six through fourteen year levels, indicating a special ability in working with concrete material which depends upon some analysis and planning, and minimizing upon memory. Patient has a strained appearance. Shows excellent effort in spite of facing continued difficulties. Appears repressed and inhibited. Timid. The only time he appeared to relax and enjoy his work was when working with the performance tests The

[1] This case was referred to us by one of the child welfare agencies. It is of particular interest because there was extreme emotional maladjustment due to conditions other than reading disability. The case came to us only after efforts had been made over a period of a year to get some correction of the difficulty. The extracts are taken from the case history as given to us by the agency.

patient's average reading grade is 1.7, spelling is less than 1.4, arithmetic 4 2, indicating a definite reading disability. Theoretically, *this degree of disability is found in less than one out of a thousand children* He is anxious to learn to read and shows considerable emotional reaction toward it "

## CASE HISTORY

"*Family History* Mother from family of means and good social position. Married Irish saloon keeper.

"*Siblings*. Two half brothers, two half sisters.

"*Home*. Insecure and unstable home. Left to care of ten-year-old half sister through earl · infancy. Mother ill and nervous, father constantly intoxicated. Mothe died when child was eight years old. Boy remained with father under care of half sister until he was ten years old During all this time the father drank to excess. At the age of ten the child was made a ward of the Juvenile Court. He was placed in two different boarding homes where every effort was made to obtain *satisfactory emotional* and *school adjustment* with little success."

The following account, taken from the report of the Child Welfare Agency, is based on a study of the boy made over a period of a year.

"*Personality Traits* Donald is a shy child, he is very reserved and shows very slight apparent reaction to his half sister and others interested in him.

"Donald is a quiet child and does not care for active games such as do other boys his age He is a daydreamer, his main interest is in art, he draws quite well. He is very neat and tidy, unusually so for a boy his age. His half sister states that he is a sensitive child and that she attributes part of his reserve to the fact that his father, when the child was at home, would nag and swear at him.

"Donald has great difficulty in learning; social worker has had several conferences with his teachers, who advise that the child is practically unable to read at all. He is also very poor in spelling, the boarding-home mother has spent a great deal of time with him helping him with his lessons, but apparently the child's memory does not carry over until the time of recitation. His best subject is arithmetic.

"He is anxious to learn to read and shows considerable emotional reaction toward it. He is serious about his schoolwork and is quite persistent. He will spend hours trying to master his spelling lesson or learning to read a story, but with very little success His most marked talent is for drawing and sketching. His last teacher was quite fond of him; she tried without a great deal of success to gain his confidence.

"His reading disability, be it of emotional or other origin, has served to further deprive patient and has added to the burden of his diffidence and insecurity."

## REMEDIAL WORK

**Technique Used in Emotional Phase of Problem.**—In a consultation held by the various authorities with reference to Donald, the consensus of opinion was that it would be necessary to get a definite emotional reorganization before attempting remedial work in school subjects. From this opinion

we dissented. We recommended that the remedial work be started immediately as soon as a home could be found for the child near the university

A good home was found similar to those in which the child had already been boarded during a two-year period. On Sept. 22, 1936, the boy entered the clinical school at the university.

As in all our other cases, the methods used to correct the emotional attitudes were reconditioning and direction of the attention to new interests, chief of which was his schoolwork. This became of intense interest to him as soon as he found he could learn.

Donald was taken to a room in which 12 boys of about his age and at various stages of disability were learning to read and write and were working on the various projects that had to do with their school subjects. They greeted the new boy in the friendly way boys have

At first Donald was painfully shy. He wanted to sit off by himself during recess periods and at noon when the other boys played. In school there was no difficulty because the boy was immediately interested in his work. He was so delighted when he found that he not only could learn to write new words but that he could read these same words when he saw them in print, that he paid little attention to anything except the writing of stories and the reading of these after they had been written.

**Methods in Reading and Other School Subjects.**—The methods were the same as those described in Chap V The boy began writing stories and school projects, learning all his first words by tracing. After tracing was no longer necessary, he still wrote up his school projects and stories, illustrating them with his own drawings At the end of the first month of work, the boy became interested in reading His time was divided between reading and writing He was allowed to do as much of each as he wished. He read many books at "home" in addition to his school reading

## RESULTS

Table 1, pages 42–43, shows the progress of case 50 through the tracing period All words were traced for the first 14 days. Tracing dropped out altogether after 23 days. Four hundred and fifty-five words were learned during the first 25 days of remedial work

After 23 days, all words were learned by glancing at them, saying them, and writing them. From this period, reading developed rapidly, with the end result as shown in the following tables:

Achievement Test Results

*July* 11, 1936 (Report from Child Welfare Clinic):

| | Grade |
|---|---|
| Reading | 1.7 |
| Spelling | 1 4 |
| Arithmetic | 4 2 |
| Monroe diagnostic examination | Reading index 0.37 |

*Oct.* 31, 1936 (Tests given at U. C. L. A. Clinic School):

GATES PRIMARY READING TEST (FORM I)

| | Score | Grade placement |
|---|---|---|
| Type 3, Paragraph reading | 11 | 1.8 |
| Type 1, Word recognition | 28 | 2 4 |
| Type 2, Sentence reading | 27 | 2 8 |
| Spelling (progressive achievement) | 4 | 2.3 |

*Words as written by Donald. Actual words dictated are in parentheses:*

| | | | |
|---|---|---|---|
| find | (live) | wont | (lady) |
| teum | (late) | fia | (half) |
| tonesa | (stone) | thanes | (father) |
| ond | (song) | bys | (past) |
| set | (cast) | tdec | (build) |

koot (broke)

It is to be noted that there is little or no connection between the word forms and the sound of the word

STANFORD ACHIEVEMENT TESTS

| | Grade placement | | | One year's improvement (May, 1937, to May, 1938) |
|---|---|---|---|---|
| | Sept 22, 1936 | May 27, 1937 (8 mo. remedial work)* | May 26, 1938 (16 mo remedial work) | |
| Paragraph meaning | 0 | 3.7 | 5 5 | 1.8 |
| Word meaning | 0 | 3.2 | 4 5 | 1 3 |
| Dictation (spelling) | 0 | 3 2 | 5.1 | 1 9 |
| Language usage | 0 | 3 2 | 6 2 | 3.0 |
| Literature | 0 | 3 9 | 7.0 | 3 1 |
| History and civics | 0 | 4.0 | 4.9 | 0 9 |
| Geography | 0 | 4 3 | 5 3 | 1 0 |
| Physiology | 0 | 4 3 | 4.9 | 0 6 |
| Arithmetic reasoning | 0 | 6.0 | 7.8 | 1.8 |
| Arithmetic computation | 4.2 | 4 9 | 7.8 | 2.9 |

* Since the score on entering the Clinic School, September, 1936, was 0 in all reading subjects, the improvement in first year would be the grade placement on May 27, 1937

**School Progress.**—Donald was allowed to remain in the Clinic School 2 years because of the need for complete emotional adjustment. At the end of that time his average grade placement by the Stanford Achievement test was 5.9. His boarding home mother reported that he read all summer. In the fall he entered the seventh grade of the public school in one of the best sections

of Los Angeles After he had been in this school for a month, the teacher reported that he was the best reader in the room. The teacher and his boarding-mother reported that he was reading everything he could find to read. At the age of 14 years 10 months, Donald was given a double promotion to the ninth grade He had no difficulty in any of his school subjects. He was still an outstanding student in mathematics and art

**Emotional Adjustment.**—In the classroom all the boys were making books, either drawing or tracing such illustrations as they used. As has already been stated, Donald had rather unusual artistic ability. After he found he could learn any word he wanted to use, he began to write stories and to work up school projects illustrating them with his own drawings These drawings were greatly admired by the other boys, several of whom asked Donald to make drawings for them to use in their books

From the start he was a very happy, eager boy during the school hours. The emotional readjustment there was immediate and persisted both at the university and the public school through the four years after the remedial work was started

At first he seemed not to care to play with the other boys outside of school hours, and no special effort was made to force him to do this. As he found he could learn as well as the other boys and draw better than any of them, he began to respond to their friendly advances and in a short time was playing games and joining in group activities with an eagerness which was almost pitiful when one considered the case history. During the second year at the clinic he was very much of a leader He made an entirely satisfactory adjustment to all school activities in the ninth grade of the public school During the last week we were invited to be the guests of our boy at a parent-teacher association party. Since we could not attend, we sent one of the boy's favorite teachers to the party, *in loco parentis*. She reported a very happy affair with the boy quite normal in his social adjustment.

The author wishes it were possible to insert here a picture of one of the last appearances of this child on the university campus It would be a picture of a charming little fellow dashing out onto the playground, eager to join the other boys in a game, stopping to wave to us, and obviously happy and friendly. No other child has been more loved by his teachers and his playmates, nor has any other child returned the affection more sincerely. To appreciate the significance of the final emotional adjustment in this case, it might be well to re-read the early case history

## CASE 55 (A.N.)

## ENGLISH CHILD, EXTREME READING AND SPELLING DISABILITY

*Male*· Age, 16 years 2 months (Feb. 28, 1941).
*I.Q* . 112.
*Birthplace.* London, England.
*Vision, Hearing, Speech*· Normal.
*Handedness:* Right. *Eye Dominance*· Right.

*Physical condition:* No history of serious illness. Somewhat under weight and nervous, probably due to war conditions under which the boy had lived up to within a few weeks of his admission to the Clinic School.

*Social Status:* Very well mannered, shy, eager to make friends. Well liked by other boys.

*Family Data:* Father, prominent London surgeon, died 1939. Mother university graduate of much charm and culture. One sister awarded honorary scholarship in first-class eastern preparatory school.

### CASE HISTORY

The boy was born in London and lived there until November, 1940. We first heard of A.N. in 1936 when the English preparatory school which he attended, wrote us with reference to his case. They reported that although he was a boy of a high degree of intelligence, they had not been able to teach him to read. At the age of eleven years he was a total reading disability case. They said that the case was the more puzzling because of the culture of the family and of their intellectual brilliance. As in many other interesting cases that have come to us, the school had learned of our work with reading disability through the article by Albert Edward Wiggam in *The Reader's Digest*, November, 1936. They had used our method as described by Mr. Wiggam with what seemed to them amazing results. A.N. not only learned new words easily by the tracing method but he recognized these words in print after he had written them. The boy's father helped him outside of school and hired a tutor to teach him by the kinesthetic method in school.

In the summer of 1940 we received a letter asking if it would be possible for us to take this child in the Clinic School as a refugee. The letter stated that A.N. had made good progress in learning to read but had had no special help in spelling, arithmetic, or any of his other school subjects except those directly dependent on reading and was much retarded in those subjects.

Table 26 shows the results of achievement tests given A.N. at the time he entered the Clinic School and after three months of work. His reading level was fifth grade as the result of work done in England by his father and his school. The school assures us that the boy was unable to read any words at the time the work was begun. It had been necessary to discontinue the work at the end of two years owing to the death of the boy's father and the loss of his school through the war. It is to be noted that A.N.'s best grade is in literature and his poorest grade in arithmetic. This, he explains, is due to the fact that he read the literature as he learned to read but had no special work in arithmetic.

**Method.**—A.N. had reached the point where he no longer needed to trace words. In fact, tracing had probably been continued for too long a period in his work in England. He learned words by saying them as he looked at them and then writing them without looking at the copy. (See stage 3, page 50.)

He wrote stories, which were printed for him. He read with sufficient ease to do much reading.

In arithmetic his ignorance was appalling. He was lacking in the most ordinary number concepts. His arithmetic work seems to have consisted in attempting to learn tables and rules with which he had the same type of difficulty he had had in learning reading and spelling.

Table 26 shows the progress made in the first three months at the Clinic School. The most progress was in spelling with 5.2 grades—from 4.6 to 9.8; next came word meaning with 3 grades progress, paragraph meaning and arithmetic reasoning with 2.4 grades progress; and arithmetic computation with 1.9 grades progress.

A.N. was soon doing ninth-grade work in English, history, and social science, and sixth-grade work in arithmetic

In arithmetic he developed fundamental concepts and made very rapid progress. He was proud and happy over his success in this subject which was the one of which he was most fearful when he first began his remedial work.

TABLE 26

| Test | Form W Feb 28, 1941 | | | Form Y May 27, 1941 | | | Progress made in 3 months | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | Score | Educ. Age | Grade | Score | Educ. Age | Grade | Score | Grade |
| Paragraph meaning | 63 | 10-11 | 5.0 | 85 | 13-1 | 7.4 | 22 | 2.4 |
| Word meaning | 52 | 10-1 | 4.2 | 84 | 12-11 | 7.2 | 32 | 3.0 |
| Dictation (spelling) | 58 | 10-6 | 4.6 | 101 | 15-9 | 9.8 | 43 | 5.2 |
| Language usage | 73 | 11-9 | 5.9 | 73 | 11-9 | 5.9 | 0 | 0 |
| Literature | 87 | 13-5 | 7.6 | 92 | 14-4 | 8.4 | 5 | 0.8 |
| History and Civics | 53 | 10-2 | 4.3 | 68 | 11-4 | 5.5 | 15 | 1.2 |
| Geography | 71 | 11-7 | 5.7 | 76 | 12-0 | 6.2 | 5 | 0.5 |
| Physiology and Hygiene | 75 | 11-11 | 6.1 | 75 | 11-11 | 6.1 | 0 | 0 |
| Arithmetic reasoning | 22 | 7-8 | 2.6 | 63 | 10-11 | 5.0 | 41 | 2.4 |
| Arithmetic computation | 38 | 9-1 | 3.3 | 55 | 10-4 | 4.4 | 17 | 1.1 |
| Total score | 59.2 | 10-7 | 4.6 | 77.2 | 12-2 | 6.5 | 18 | 1.9 |

The other boys have helped him by teaching him American money after A.N. brought a few English coins to show them.

The plan outlined in Chap XIV was used. A.N. worked with concrete objects including American money about which he was anxious to know. He started numbers at first with panic, then with growing interest, until he was eager for his work in the subject.

## RESULTS OF REMEDIAL WORK

In spite of the fact that he came to us directly from the trying experiences of the war, an ocean trip in which the convoy for the refugee ship was attacked, and his father's death, and in spite of the fact that he came into a new environment with all the differences of language and customs, A.N. has made remarkable progress in his emotional adjustment and his schoolwork

**Emotional Adjustment.**—The boys in the Clinic School were told about A.N. and that he would have different ways and speak English with a British rather

than an American accent. They were very eager to meet him and immediately made every effort to make him feel at home.

A.N. responded shyly but eagerly. He has always been popular with the other boys here His mother says he has never been so happy in his life. He told me, "I wish my father could know that I am even learning spelling and arithmetic. You see, no one in England knew how to teach me anything but reading because that is all it told about in the article and they weren't sure that I could learn the other things." He is very emotional with reference to the war. He is depressed when the news is bad and jubilant when it is favorable to the English. His progress in the face of this extremely emotional situation is the more interesting.

## CASES IN WHICH REMEDIAL WORK WAS NOT COMPLETED

In the following two cases the remedial work was not completed for various reasons The success achieved by these individuals is an indication of their intelligence. We might preface this section of our case histories with brief statements about one father and one grandfather of cases from our clinic who achieved business and financial success in spite of extreme reading disability. No remedial work was ever done with these two men.

The father of case 12 (page 276) had difficulty with reading and spelling through his entire school life. He never learned to read well enough to read ordinary material He read even newspapers slowly and with difficulty. He has always been good in mathematics At the time the boy was in the Clinic School, his father was at the head of the purchasing department of a large wholesale grocery concern in charge of several offices with a number of stenographers. He said that he was able to hold his present position because he was quick and accurate in numbers and had stenographers to take care of all correspondence

The mother of case 44[1] had told us of the difficulty the paternal grandfather had with reading He had never learned to read well enough even to read newspapers She said that the family had always been ashamed of his inability to read. When we were discussing the possibility of arranging to have case 44 do remedial work, the problem seemed to be one of financing the undertaking. In the course of the discussion, the boy said to his mother, "Perhaps grandfather would help me out." I asked if, by any chance, this was the non-reading grandfather. "Yes," said the mother, "He could never learn to read but he was very *smart* at figures and could always make money. He has always been willing to help the children with money they need for education."

## CASE 4[2]

*Chronological Age*: 12 years 5 months (June, 1919).
*Mental Age* (Stanford Revision Binet-Simon): 15 years.
*I Q*: 120
*Vision:* Normal.
*Siblings:* 2 brothers, 1 sister. Both brothers reported as having difficulty in learning to read. Sister no reading disability and otherwise good student.

[1] For report of case see *Mental Meas. Mon*, No. 11, August, 1936, pp. 57*ff*.
[2] Described in *Journal of Educational Research*, December, 1921.

## CASE HISTORY

Joe came from a good home in a good neighborhood. He attended school regularly from the age of six. From the beginning of his schoolwork he was unable to learn to read. He excelled in games like baseball and was very popular with other boys. At the age of twelve he was working out of school hours in a drugstore and was reported as a fine worker and particularly good in his ability to handle money. He did good work in arithmetic at school.

At the time the case was brought to our attention, Joe was in the sixth grade He explained that he had managed to get that far in school by teaming with a boy who could read but could not do arithmetic. Joe did this boy's problems in exchange for help in reading (see similar situation case 45, page 294).

**Remedial Work.**—Remedial work was done over a period of six weeks. At the end of this time, Joe was sent back into the seventh grade of the public school against our recommendation. Although he had made considerable progress, his reading ability was so far below sixth-grade level as to make it seem impossible for him to do satisfactory work there. His parents and his teacher felt he had improved so much and was able to learn words so easily that he could manage the work of the seventh grade.

**Method Used in Remedial Work.**—From the beginning of the remedial work Joe was able to learn new words by looking at them, saying them after he had been told what they were, and writing them. His retention of words learned in this way was superior. He would recognize a word in print even after a considerable interval of time and would also be able to write it correctly after he had once gone through the process just described.

Although he failed to make a first-grade score on the Gray Oral Reading Test, he wrote each of the following words from paragraphs 8, 9 and 10 of this test, after a single presentation consisting only of the exposure of the word while it was pronounced and repeated once: *dignifying, station, securing, approximately, scrupulously, inclined, contemptuous, silence, complexion.* He failed to write the words *ingratiatingly* and *Josephus* correctly until he had had a second presentation.

The words *proportioned, exigencies, profusion,* and *exhausted* were each told him four times and repeated by him but he was not allowed to write them.

He was then asked to read the paragraphs again. He read each of the words he had written but failed on all four words that had been pronounced but not written.

During the six weeks of remedial work, Joe learned words for both reading and writing as described above. He wrote stories and projects and was intensely interested in his work.

**Results of Remedial Work.**—After six weeks of remedial work, Joe developed a considerable reading vocabulary in connection with subjects in which he was particularly interested. His spelling had been brought up to sixth-grade level Before an achievement test could be given, Joe was sent back to the seventh grade of the public school against our advice. He had improved sufficiently to be able to read his arithmetic problems and do the work of the seventh grade after a fashion. He still read very slowly and failed to recognize common words.

**Case Progress after Remedial Work.**—In March, 1921, Joe was in the eighth grade of the public schools. He had made little progress in learning to read by himself He seemed to have lost none of the concrete detail he had acquired in his remedial work. His spelling was at the same level as when he left the clinic. He still used the method he had developed during the experiment and learned new words easily. Unlike our other cases in which the experiment was completed, Joe had not acquired speed and ease in reading and never read to himself.

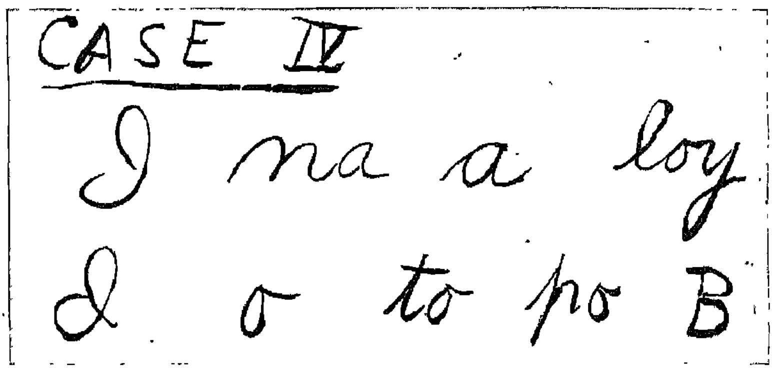
Although Joe was reported to be doing satisfactory eighth-grade work, he failed in his examinations in June and was not graduated. He did not return to regular school but went to work after obtaining a work permit. He did some required work in night school with little success.

RESULTS OF SPELLING AND READING TESTS

*June*, 1919:

Failed to score on sixth-, seventh-, and eighth-grade Kansas Silent Reading Tests.

Tested below first grade on Gray Oral Reading Test.




Attempt made by case 4 to write "I am a boy" and "I go to my school," at the beginning of remedial work

Had only one word right in column *Q* on the Ayres Spelling Scale. Fourth-grade standard for column *Q* is 50 per cent.

*Column Q as written by Joe.*

| | | | |
|---|---|---|---|
| somtines | (sometimes) | pived | (period) |
| facteor | (factory) | privet | (private) |
| troruble | (trouble) | | (command) |
| regen | (region) | debate | (debate) |
| addtion | (addition) | ingae | (engage) |
| proped | (property) | cention | (connection) |
| proin | (crowd) | serprise | (surprise) |
| dclaer | (declare) | concik | (convict) |
| finel | (final) | imploy | (employ) |
| frem | (firm) | sclet | (select) |

*March*, 1921:

> Grade from third to sixth, varying with test forms. Kansas Silent Reading
> Below fourth, irregular, on Starch Silent Reading Test.
> Sixth grade, on Ayres Spelling Scale.

On a check made in 1932 we discovered Joe holding a very fine position as cameraman for one of the large moving-picture concerns. His salary was considerably more than that of most university professors His reading was still about fourth-grade level and his spelling about sixth grade When asked how he managed to do his work with the reading and spelling handicap, he said, "I pay a stenographer $20.00 a week to do that for me."

## CASE 26

This boy was diagnosed as feeble-minded, with an I Q. of 37, by group tests given in the schools of a large city when he was twelve years old. He was a total reading disability case at the age of seventeen when he came to Los Angeles. He had heard of the reading work that was being done at the university and he saved money enough to buy a ticket to Los Angeles. On arrival he went to the Traveler's Aid office and asked to be directed to the place "where they could teach you to read." He had a copy of Alfred Wiggam's story in *The Reader's Digest*, which he could not read but had heard read. He was finally delivered at the laboratory in company with an energetic lady who had become sufficiently interested in what the boy had told her to make the trip to the university with him.

A carefully given individual intelligence test showed that his I.Q. was at least 108, even with the reading disability. He was unable to score on any reading or spelling test. He had attended school quite regularly as a child but had been unable to learn to read even the simplest material.

At first we said we could not take him in the Clinic School as it was full beyond capacity already "But," he said, "I came more than 2,000 miles to learn to read." We finally arranged to give him work for two hours in the afternoon. We suggested that he might be able to get a morning job. The next day we told him one of the teachers would try to help him get a job for the morning. He said, "Why you told me to get a job yesterday. So I did" This was during the worst period of the depression when jobs were supposed to be nonexistent. The job was in a garage washing cars. For this he was given a place to sleep, two meals a day, and money enough to pay car fare and buy lunch. Case 26 thought it was a "swell" job and held it till he had finished his remedial work.

In the first three months, working two hours for five days a week, he learned 787 words. He made five grades progress in ten months. He passed his examinations for a driver's license He could read newspapers and pulp magazines. He found a full-time job managing a little moving-picture theater, so he discontinued school.

One day in the fall, he burst into my office and asked if I knew how to find his teacher of the year before. I inquired what he wanted of him in such a

hurry. "Why," he said, "the poor fellow graduated last June and he hasn't been able to get a job. I am just giving up my job for a better one and I thought he would like my old job." We helped him locate his former teacher A few days later we visited the theater and found our university graduate happily occupied with the job that had just been relinquished by his former pupil.

# APPENDIX

## INDIVIDUAL DIFFERENCES IN IMAGERY

The discussion of imagery is included in this text in order to call attention to individual differences in imagery, rather than to enter into what would necessarily be an involved theoretical discussion.

Much emphasis has been placed by educators on visual recall. Whether or not visual imagery plays the part sometimes ascribed to it in the learning processes of some individuals, there is abundant evidence that many persons do their most accurate and detailed thinking in nonvisual terms. The fact that many leading scientists, artists, and writers report themselves as unable to visualize attests to the adequacy of other forms of recall (see pages 172–175).

There is no evidence that training will develop a high degree of clearness in any specific form of imagery in which the individual is lacking.

The difficulty of determining the imagery type of the ordinary observer is the ease of translation of a stimulus into other imagery contents "so that the modality in which the words are presented is no criterion of the imagery used in learning and recall."[1] That is, the person whose imagery is predominantly visual listens to the description of an object thus getting an auditory stimulus, but interprets this in terms of a visual image and recalls the object in visual terms, whereas the individual whose imagery is auditory looks at a picture or other object and translates it into verbal or other auditory terms. In the same way, the person who tends to think in kinesthetic terms will have to develop the meaning of what he sees and hears in terms of his own movements.

Simple tests of the different ways in which individuals recall objects can be used to illustrate the various types of recall for specific objects One difficulty with any such tests is that the sensory type of the image changes from time to time in the case of most individuals and varies in type according to the class of objects recalled.

Most individuals are able to recall objects in what is often called a mixed type of imagery, that is, they think the object in terms of two or three sensory types. For example, a person who is recalling music may visualize the music as it is written, at the same time that he hears it as it is played or sung, and is conscious of the movements of singing or producing it on some instrument. In the case of a word, a person may picture the word and at the same time say it or feel himself writing it. As a matter of fact, the image is usually in at least two of these terms.

It is probable that a curve of distribution of individuals according to the predominating forms of recall would show a majority reporting images of the

[1] R. Woodworth, "Experimental Psychology," p. 41, Henry Holt and Company, Inc., New York, 1939.

mixed type, with a decrease in number of those whose imagery is extremely visual, or auditory, or kinesthetic. Contrary to the earlier ideas with reference to imagery, it is probable that the distribution at the extremes of any one of the sensory types is about the same; that is, there are probably as few people who are sufficiently visual to be able to recall objects in explicitly visual terms as there are individuals whose recall is predominantly auditory or kinesthetic. However, as we have already stated (see Chap 13), many individuals have much more accurate and definite content in terms of some specific imagery content.

**Imagery Tests.**—The following imagery tests are included here rather to illustrate certain facts with reference to imagery than to diagnose individuals according to imagery type. The difficulty of attempting the latter is obviously that the imagery type at a particular time or for particular content to be learned may not resemble that employed in doing specific tests of other content.

1. One of the simplest tests and that most nearly resembling recall in reading and spelling is that of thinking a word and observing whether the recall is visual, auditory, or kinesthetic, or some combination of these. A rather interesting form of this test is the attempt to spell orally or to write words of various lengths backward, as, for example, a person attempts to write such a word as *castle*, or *illustration*, or *conscientious* backward, without looking at the copy, and observes his recall processes as he does this. He is asked whether he pictures the word, says the syllables or the letters, or thinks of the movements he would use in writing the word. M. Fernald in her "Diagnosis of Mental Imagery" found no cases in which the visual image was sufficiently definite to enable the individual to spell the word backward without resorting to other forms of recall.[1] In connection with our work we have had three cases out of several hundred in which the introspective report, as well as the objective result, indicated that the individual experienced visual images sufficiently definite to enable him to spell long and difficult words backward with great ease One of these individuals was a prominent state official who could repeat a number made up of 11 or 12 numerals either backward or forward after a flash visual or auditory presentation. He could spell a word of any length backward as easily as forward and could pick up a new word in a foreign language with which he was not familiar with the same ease. His report was that he had a visual image of the word or number as it would appear if it were written or printed

The second instance was the university case described on page 148.

The third case was an illiterate eighteen-year-old girl in a state reform school. This girl had lived a most deplorable life, quite without benefit of education At the time of her initial mental test she was found to have an 11-digit memory span and to be able to pick up new words of whose meaning she had no idea, by simply looking at them, shutting her eyes, and writing or spelling them quite as easily backward as forward. The first word presented to her was *conscientious* which she spelled orally, first backward and then forward, without a particle of difficulty. This girl developed normal reading and writing skill under difficult conditions in a very short time by simply looking

[1] M. R. Fernald, Diagnosis of Mental Imagery, *Psychol. Monogr.*, **14**, p. 25, February, 1912

at the word when someone gave her its meaning. As an experiment she was put in a small Latin class. The teacher, who was an accredited Boston high-school teacher, reported that this reform-school girl was the best Latin student she had ever had in her classes.

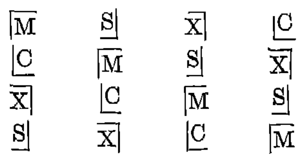
2. Another test, which may be used to enable the individual to observe his own imagery processes, is some form of the letter-square test used first by Binet and later by Colvin and Meyer, Fernald, and others. In the Colvin and Meyer form[1] the subject was allowed to look at the following figure:

| | |
|---|---|
| S | C |
| X | M |

until he was sure he would be able to recall it. The following letter square was then shown the subject:

| | | | |
|---|---|---|---|
| M | S | X | C |
| C | M | S | X |
| X | C | M | S |
| S | X | C | M |

The subject then enclosed each letter of the square with the appropriate lines from the foregoing figure:



He observed whether he pictured the original figure, said the letters to himself, or thought of the movements his hand would make in drawing the figure. In many cases again we find combinations of all three imagery types In others we find only two forms of recall Probably the most common of these is that in which the letters are heard at the same time the figure is either pictured or thought of in terms of movement

3 A somewhat similar test could be made of the digit or letter code. The latter was used in the original series of tests given at the Juvenile Court of Chicago[2] and in the Stanford Revision of the Binet-Simon scale. In the digit form of the test, the following figure is used:

| | | |
|---|---|---|
| 1 | 4 | 7 |
| 2 | 5 | 8 |
| 3 | 6 | 9 |

[1] S. S. Colvin and E. J. Myers, The Development of Imagination in School Children, *Psychol. Monogr*, **11**, No 44, 85–126, 1909

[2] William Healy and Grace M. Fernald, *Psychol Monogr.*, **13**, No. 54, p. 33, 1911.

The individual looks at the figure and then writes the numbers from memory in each of the following:



Again, he observes the manner in which he thinks the figure and the letters. The individual with a marked tendency to visualize will picture a whole or a part of the figure and almost immediately place the proper numbers in the proper form. The individual who tends to be auditory will say the numbers to himself, usually in groupings of three, until he comes to the one that fits in the particular form needed to represent whatever he is writing. He will often get an auditory image of the letters and a visual or hand kinesthetic image of the figure. The individual whose imagery tends to be kinesthetic will either think the movements that he would make in drawing the figure or will even actually make the movements with his hand and at the same time say the numbers, usually with quite a definite lip and throat movement This last may be accompanied by an auditory image of the letters or may be quite lacking in such imagery.

We might elaborate in detail other imagery tests.

## INVESTIGATIONS OF READING DISABILITY

It is impossible to cover the numerous investigations that have been made of reading disability during the last thirty years without giving several volumes to such a review. The student who wishes to make a thorough study of the problem will find the excellent summaries of Professor Gray (University of Chicago) of the greatest value. (See bibliography, page 336 )

In general, the investigations represent three main types of procedure: (1) the objective, in which the stress is on the development of remedial materials; (2) the physiological, in which a study is made of such factors as eye movements, brain function, handedness, eye dominance, and other structural and functional matters that may cause reading disability; (3) the psychological, in which the primary interest is in the psychological factors involved in reading, and the individual characteristics that may be responsible for reading disabilities under certain conditions.

### WORK OF PROFESSOR ARTHUR I. GATES

Under the first type of study in which the main emphasis is on materials to be used in remedial work, that of Professor Gates of Teachers' College, Columbia University, is outstanding.[1]

The emphasis, throughout the first section of the 1935 edition of the Gates text, is placed on the elaboration of materials that may be used to determine the types of errors made by the individual and of materials that can be used to correct the difficulties discovered.

After the discussion of the main types of reading defects, Gates proceeds to a detailed discussion of more specific defects, which may be classified for the most part as psychological.

[1] A. I. Gates, "The Improvement of Reading," The Macmillan Company, New York, 19[illegible].

Such defects are "difficulties in word recognition due to" (1) "inferior mental capacity," (2) "lack of general experience or of experience in using oral English," (3) "study limited to unusual vocabulary," (4) "lack of training in word recognition," (5) "inappropriate methods of perceiving words and of learning new words," (6) "visual difficulties," (7) "auditory difficulties," and (8) "inappropriate directions of perceptual attack."

Non-readers.—Gates does not consider non-readers as belonging to a "distinct group." He would say that such cases as we describe in this book and similar cases described by many authorities are due to a great variety of causes and not to any special characteristics that make learning difficult under conditions which are satisfactory for the average individual.

If Gates includes under reading disabilities cases of children with extreme auditory or visual defects, mental defectives, and other similar cases in which some obvious defect is responsible for the difficulty, we should agree that there is a great diversity of characteristics among cases of reading disability. If we limit our classification to individuals with no obvious defect who have failed to learn to read in spite of the fact that they have had ample instruction under conditions satisfactory for the average individual, then we seem to find certain characteristics common to cases of extreme or total disability and to a certain percentage of cases of partial disability (see pages 147–149). We should, as a matter of fact, expect to find that any system of instruction that limits the type of learning would make learning difficult for children having certain characteristics. We refer here to the manner in which the child learns, regardless of what the particular content learned may be. Throughout Gates' description of method, the emphasis, with certain exceptions, is upon elaboration of material to be learned rather than upon the method by which it may be learned.

When he discusses methods of learning, Gates places particular stress upon visualization, as is evident in the following section, in which he suggests methods to be used in cases of extreme reading disability.

The pupil was asked "to close his eyes and 'see in his mind's eye' the word he had observed. He was encouraged to see it part by part, in the left-to-right order, and then as a whole. If the word could be divided into syllables, he was asked to say the syllables softly to himself, while visualizing them simultaneously. Later, as he learned to write, he was asked to visualize the syllables as he wrote and sounded them."[1]

Gates states that the "visualization of word wholes and word-parts seemed to be of clear value in certain cases, but difficult for many non-readers to adopt in the beginning stages." (See the discussion of this point in the present text, page 319.) Gates continues, "The writer believes that it is often worth while to invest a moderate amount of time and effort in the attempt to teach the pupil to visualize." Gates states that in other cases "some degree of phonetic work and of tracing or writing may be highly useful."[2]

It is evident that the method described is quite as auditory and as kinesthetic as visual. Not only are eye and lip-throat kinesthetic elements involved as the child looks at the word and says it, but hand kinesthetic elements are introduced as the child writes the word. Our main criticism would be that the emphasis on

[1] *Ibid.*, pp. 451–452.
[2] *Ibid.*, p. 453.

visualization may disturb children who do not tend to get detailed visual imagery There is no evidence to date that "the rather elusive trick of visualizing" can be acquired by training.

It is our opinion, as we have already stated, that the modern extremely visual methods of instruction are in part responsible for a large number of cases of reading and spelling disability We find that children who have failed to acquire content—whether it be that supplied by Gates or by any of the other compilers of reading material—by methods in common use, master the same material quite easily when different methods of study are used. This statement would apply to the learning of nonsense syllables, numerals, visual perception tests,[1] words, phrases, or other content to be learned.

In his outline for remedial work in spelling (1940) Gates[2] uses the same classification of learning techniques as that outlined in the "California State Speller"[3] (1918–1934) and in our discussion[4] of remedial techniques in 1936 and used in this text.

After suggesting methods for determining the child's "general spelling status" and his "specific spelling deficiencies," Gates proceeds to the discussion of individual diagnostic tests having as their purpose the discovery of traits within the individual that may be responsible for the difficulty. In seeming variance with his point of view in the 1935 revision of "The Improvement of Reading," he says, "The most important part of any diagnosis is to study as fully as possible the individual himself" That Gates refers to traits that characterize the individual, and not to details of objective responses as lists of errors, and so forth, is evident by the "three important divisions," which he cites as constituting the objectives of the individual diagnosis, namely (1) general immaturity, (2) physical factors, (3) personality factors.

After suggesting such factors as instability and attitudes of inferiority, Gates describes diagnostic tests to determine the "study *methods* best suited to the individual" under the following heads: (1) visual, (2) auditory, (3) kinesthetic, (4) combined.

The test consists in having the child study 12 words from the list of his misspelled words, three by each of the above methods, as follows·

*Visual.*[5]—Write the first of three words near the top of the paper. Say to child, "Look at this word carefully and then pronounce it." Help child on pronunciation if necessary. Say, "I want you to study this word by looking at it very carefully. Look for the hard parts of the word and remember them When you think you can write the word, cover it with your left hand and write it." The word is then compared and rewritten. Note that there is no more emphasis on visual than on auditory recall.

[1] *Ibid.*, p. 527.

[2] A. I. Gates and David H. Russell, "Diagnosis and Remedial Spelling Manual, A Handbook for Teachers," Teachers College, Columbia University, New York, 1940.

[3] G. M. Fernald, "California Teacher's Manual of Spelling," California State Printing Office, Sacramento, Calif., 1918

[4] G M Fernald and H. B. Keller, *Mental Meas. Monogr.*, No. 11, The Williams & Wilkins Company, Baltimore, 1936.

[5] *Ibid.*, p. 22.

*Auditory.*—Child pronounces word and spells it, letter by letter.

*Kinesthetic.*—Same as visual except that child is told, "Say the word and pronounce it as often as you like, trying to get the feeling of how it is written correctly." After writing the word several times, the child is told, "Now close your eyes and write the word the way you feel it should be written." "Does it feel right?"

*Combined.*—Steps from all of above methods included. (This is similar to the outline used in the "California State Speller," 1918, with the exception that the child's attention is called to the visual image.) It is to be noted that oral spelling used under the auditory method is omitted by Gates in the combined method.

As we have already stated with reference to the description given by Gates concerning the visual method of teaching reading (page 323), each one of the above methods includes all the types of learning. In his description of the visual method, the child looks at the word (visual), says the word (auditory and lip-throat kinesthetic), and writes the word (hand kinesthetic).

In the auditory method the child looks at the word (visual), pronounces the word (auditory, lip-throat kinesthetic), and spells it (auditory, lip-throat kinesthetic).

The kinesthetic method is the same as the visual except that the word is written and pronounced more often and the suggestion is made that the child get the "feeling" of the word.

It is interesting to see that Gates considers differences of technique in learning important in connection with spelling, and that he recognizes the possible effect of a kinesthetic recall at least in some cases. We, of course, go a step farther and consider that the actual writing of words is a desirable, important, and neglected technique in connection with learning to read in the case of certain children.

## WORK OF DR. MARION MONROE

Dr. Marion Monroe,[1] Specialist, Remedial Instruction, Board of Education, Pittsburgh, Pa., after extensive work with remedial reading cases, finds "that a child may fail to learn to read and yet be of adequate intelligence." Such children, she says, "may be regarded as having a special defect. Such defect, if persistent, usually prevents the child from making progress at school and ultimately blocks the possibility of his preparation for an economic position in keeping with his other capacities."

The work of Monroe emphasizes the objective analysis of errors and the development of specific material to correct these errors. She also places considerable emphasis on physiological factors (see page 160, this text). Finally, she attempts to determine specific methods that are adapted to the needs of the individual.

### Remedial Techniques

The remedial work as described by Monroe comes under two main heads: (1) An analysis of the disability, (2) the use of methods that will correct the specific disabilities as determined by the diagnostic tests.

[1] M. Monroe, "Children Who Cannot Read," University of Chicago Press, Chicago, 1932.

**I. Analysis of Disability.**[1]—The analysis of the child's disability includes (1) the educational profile; (2) the reading index, (3) the profile of errors (see page 72); (4) tests of various discriminations involved in reading; (5) the social, physical, psychological, and psychiatric data bearing on the child's reading problem and obtained from the clinical record.

*A. Educational Profile* [2]

1. Intelligence tests as determined by the Stanford Revision of the Binet-Simon tests or the Kuhlmann Revision. These tests were supplemented by performance and other intelligence tests.
2. Reading tests, consisting of the following:
   *a* Gray's Oral Reading Test.
   *b.* Haggerty Reading Examination, Sigma I, Test 2.
   *c.* Monroe Silent Reading Test.
   *d.* Iota Word Test (53 words arranged in three groups).
   *e.* Word-discrimination Test
   *f.* Stanford Achievement Test in reading.
   These tests were given to the children whose reading scores were above the norms of those previously listed.
3. Arithmetic tests (Stanford Achievement Arithmetic Computation test).
4. Spelling tests.
5. Age-grade scale.

The educational profile would consist of the graph showing the scores made by the child on the tests just listed.

*B. Reading Index.*—The reading index is obtained by dividing the reading grade placement as shown in the foregoing tests by the expectancy grade (average grade-equivalent scores for chronological or actual age, mental age, and the grade score on arithmetic computation test) as in the following illustration:

EXAMPLE[3]

Case: Gordon

| | Grade Score |
|---|---|
| C.A. = 9-1 | 4 1 |
| M A = 10-2 | 5 2 |
| Gray's Oral Reading Paragraphs | 3.2 |
| Haggerty Reading Test. | 2 5 |
| Iota Word Test. | 2 6 |
| Word-discrimination Test | 2 0 |
| Stanford Arithmetic Computation Test | 4.5 |

Expectancy grade (average of 4 1, 5 2, and 4.5) = 4 6

Reading grade (average of 3.2, 2.5, 2 6, and 2.0) = 2.6

$$\text{Reading index} = \frac{2.6}{4\ 6} = 0.57$$

[1] *Ibid.*, p. 111.

[2] *Ibid.*, pp. 183*ff.*

[3] *Ibid.*, p. 191,

*C. Profile of Errors.*—The profile of errors is made up by computing the reading errors most commonly made by the child, as shown in Table 3, page 72.

*D. Tests of Various Discriminations Involved in Reading.*—The tests under this heading include:

1. Mirror-reading test.
2. Mirror-writing test.
3. Auditory word discrimination test.
4. Visual auditory learning test.
5. Sound-blending test.

**II. Remedial Instruction.**—The remedial instruction consists in a series of drills and exercises that would give the child the skills in which the diagnostic tests had shown him deficient.

For example, "The child who failed to discriminate precisely the sounds of words was taught the movements of placing the speech organs"; the child who failed to distinguish between certain vowel sounds, as *a* and *o*, was given exercises containing those sounds until a proper discrimination was made.

*A. Content.*—Throughout the remedial work, much emphasis was placed on phonetic instruction[1] with an organization of materials beginning with simple sounds and gradually developing more complex combinations of these, as in the following illustrations:

1. Faulty vowels and consonants.

Remedial material:

Cards with letters in italics and pictures of objects,[2] as:

*b*—*baby, boy, bear*
*c*—*cat, coat, cake,* etc.
*m*—*man, moon, mother*
*s*—*soap, seed, sailboat*
. . . . . . . . . . .
*ă*—*cat, man, lamp*
*ā*—*table, cake, gate,* etc.

2. Various combinations of above to develop discrimination; combinations of words having different sounds, as: *soap, man, seed, sailboat, moon, mother* (for distinguishing *s* and *m*); combinations of sounds in words, as, *soap, shoe, seed, sheep* (for drill in *sh*).

3. Word lists based on phonetic classifications.

Monroe includes numerous illustrations of sample word lists, as in the following illustrations:[3]

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| man | bed | pig | hot | sun |
| cat | beg | did | top | but |
| can | let | him | box | bug |
| rat | hen | sit | not | run |
| had, etc. | get, etc. | win, etc. | nod, etc. | rug, etc. |

[1] For discussion of phonetics see p. 54.
[2] *Ibid.*, p. 117.
[3] *Ibid.*, p. 121.

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| hit | him | bug | bat | | |
| hat | hem | big | bit | | |
| hot | ham | bag | bet | | |
| hut | hum | beg | but, etc. | | |
| day | paid | boat | night | soon | |
| say | pail | soap | sigh | spoon | |
| play | maid | goat | sight | boot | |
| may, etc | rain, etc | road, etc. | fight, etc. | room, etc. | |
| each | cow | out | book | saw | new |
| eat | now | house | look | awl | blew |
| please | town | mouse | good | lawn | flew |
| reach, etc. | down, etc. | round, etc. | took, etc. | shawl, etc. | chew, etc. |
| blow | ought | oil | boy | head | |
| grow | bought | boil | toy | bread | |
| flow | thought | join | oyster | deaf | |
| show, etc | brought, etc. | coin, etc. | joy, etc | health, etc. | |

and other similar arrangements of words according to sound similarity.

B *Learning Techniques.*—Special learning techniques were used to master the content described above.

1 Instruction in articulation with special emphasis on movements of mouth and shape of oral cavity. A mirror was used to allow the child to compare the shape of his own oral cavity with that of his teacher.

2 The use of the sound-tracing method:[1]

"The sounding-tracing method is illustrated by the following example: The teacher wrote the word to be learned in large handwriting on a piece of paper She said to the child, 'See this word? This word is man. Say man. Now let me see how slowly you can say man, like this, m-a-n. Now I want you to do two things at the same time. Take your pencil and trace over this word while you say m-a-n, slowly Be sure to trace quickly enough and speak slowly enough that you will come out just even' The sounding consisted simply of articulating the word distinctly and slowly enough for the sequence of sounds to become evident We tried to teach the child the trick of letting the voice slide from one sound to the next so that the word was pronounced in a unified fashion. Often it was not necessary for the child to say the word again after sounding it, as the sounding became simply a slow, distinct articulation of the word. By use of the sounding-tracing method, we tried to combine the separate components of the word into an organized unit. The tracing united the letters as the pencil was not lifted until the end of the word The sounding, by slow articulation, united the sounds as the voice did not stop until reaching the final sound" For comparison with our method see pages 35*ff*

3. Reading of stories written in simple phonetic language, as the following:[2]

> "In the summer Bill must get up at six.
> "He sets the clock at six.
> "He gets up when it rings . . . " etc.

4. Use of ordinary primers and first-grade readers.

[1] *Ibid*, p 120.
[2] *Ibid.*, p. 124.

5 Remedial work for reversals. Use of sound-tracing method, movement of finger along line, writing words while reading them

6. Omissions, substitutions, and so forth. Drills with sounds, and so forth.

## WORK OF PROFESSOR WALTER F. DEARBORN

The work of Professor Dearborn of Harvard University includes studies of both children and adults who suffer from extreme and partial reading disability. The investigations have had to do with physiological and psychological rather than objective factors.

In 1925 Dearborn, Carmichael, and Lord published an extensive report of a "word-blind" case and a case of mirror writing [1] Lord considers the word-blindness to be due to defects in association fibers, to insufficient associations between the sense areas, and to lack of coordination in motor response to visual and auditory stimuli Carmichael considers mirror writing as a natural development in the case of a left-handed child because the view of the written material is not covered by his hand while he is writing from right to left as it is when he is writing from left to right, and not due to an inherited neural twist or distortion, such as in the case of forcing right-handed writing on a left-handed child.

In summarizing the work of various investigators, Dearborn states[2] that relatively few cases can be considered due to special defects in certain areas or centers of the brain but rather to a variety of factors, "as auditory difficulties, both central and peripheral"; "muscular or kinesthetic deficiencies and peculiarities;" habits with "a supporting background of neurotic or psychopathic behavior," perhaps due to the first-named deficiency.

For many years a clinic has been conducted at Harvard in which 70 to 80 children are cared for during the year The teaching is done by advanced students under the supervision of Professor Dearborn

In addition to the work with children, extensive experiments have been conducted in connection with the reading disabilities of college students.

In 1938,[3] an experiment was conducted with 32 Harvard Freshmen who were in the lowest percentile in the scholastic-aptitude test Two groups were made up of 16 students each, paired on the basis of their scores on the scholastic-aptitude and reading tests.

"One group, slightly lower when judged by these criteria, was given class instruction in remedial reading with the motion-picture technique developed by Dearborn and Anderson,[4] plus exercises in reading phrases of gradually increasing length. The other group received no special training. After eight weeks both groups were given alternate forms of the reading tests which had been administered initially. Photographic records were also made of the eye movements of the students before and after the training.

[1] W. Dearborn, L. Carmichael, and E. E. Lord, "Special Disabilities in Learning to Read and Write," *Harvard Monogr. in Ed.*, **2,** No. 1, pp. 1–75, 1925,

[2] *Ibid.*, p. 68

[3] W. F. Dearborn and S V. Wilking, Improving the Reading of College Freshmen, *Sch Rev.*, **49,** No 9, 668–678, November, 1941

[4] W. F Dearborn and I. H. Anderson, assisted by James R. Brewster, A New Method for Teaching Phrasing and for Increasing the Size of Reading Fixations, *Psychol Rec.*, **I:** 459–75, December, 1937.

"As determined by the Minnesota test, the experimental group advanced in speed of reading from the fourteenth to the ninety-seventh percentile, while the control group advanced only from the fourteenth to the thirty-ninth percentile. As determined by the Whipple test, the experimental group advanced from the forty-fourth to the sixty-eighth percentile, while the control group showed no change. The experimental group also showed a gain of 6 per cent in the accuracy of their test responses, while the control group remained the same.

"The photographic records of the experimental group showed an increased rate of reading of from 251 to 382 words per minute. A survey of the midyear marks revealed that ten students in the experimental group improved their November marks, while only five of the control group had better records."

In 1939 a somewhat similar experiment showed a much more marked gain in the experimental than in the control group.

"The median reading speed of this group initially was 248 words per minute. After the remedial instruction, the reading speed was increased to 333 words per minute. This gain, expressed in terms of percentile rank, was from the seventeenth to the seventy-second percentile The median percentile rank of the group initially in reading comprehension was 43, which was raised to 76 by attendance at the class."[1]

In a third experiment, remedial classes were formed at Harvard and Radcliffe, consisting of 30 students in the Harvard group and 23 in the Radcliffe group. Additional groups were formed throughout the year.

"Three specific types of instructional materials were utilized: the reading films, the reading manual developed by the junior author, and speeded reading materials The class hour was usually divided into the three parts determined by the type of materials used. The hour was begun by showing one of the films These films can be run at varied speeds so that, at each succeeding session of the class, the rate of reading was automatically stepped up. They were first run at the rate of 150 words per minute and were progressively increased in speed until the last session, when the speed was approximately 400 words per minute. After each film the students were given a check on their comprehension of it. . . . the class was given short explanations and hints on reading speed, the factors which condition reading speed, and the psychology of reading. After the film and comprehension check had been finished, the students were given a section from the manual to read for speed. The time was recorded on the blackboard every fifteen seconds so that each student could compute his rate of reading when he finished. . . .

"After the students showed some evidence of having mastered thorough reading, they were given an opportunity to work on associative-reading skills. . . .

"In summary, it may be said that, in general, the Harvard remedial group profited markedly from the remedial sessions. The lack of significant statistical gains on the Nelson-Denny comprehension test may be explained by the fact that the group was already rated at the top of this test when tested initially."[2]

[1] Dearborn and Wilking, *op. cit.*, p. 670.

[2] *Ibid*, pp. 674–676.

# BIBLIOGRAPHY

NOTE: For supplementary references to publications about reading, see "Summary of Reading Investigations" by W. S Gray (p 336)


ABBOTT, E. E., On the Analysis of the Memory Consciousness in Orthography, *Psychol. Monogr*, **11**: no 44, 127–158, 1909

AGNEW, D C., The Effects of Varied Amounts of Phonetic Training on Primary Reading, *Duke Univ. Res Stud. Educ.*, no. 5, viii + 50, 1939

AHRENS, A., "Die Bewegung der Augen beim Schreiben," Rostock, Germany, 1891.

ALMACK, F C., and E. H. STAFFELBACH, "The Stanford Speller," Laidlaw Brothers, Inc., New York, 1932.

ANGELL, J. R., Methods for the Determination of Mental Imagery, *Psychol. Monogr*, **13**: 61–107, 1910

ANDERSON, I. H. See Dearborn, W F.

———, and W F DEARBORN, A Sound Motion-picture Technique for Teaching Beginning Reading, *Sch. and Soc*, **52**: 367–369, 1940.

———, and ———, Reading Ability as Related to College Achievement, *J. Psychol*, **11**: 387–396, 1941.

———, and ———, Aniseikonia as Related to Disability in Reading, *J. Exp. Psychol*, **23**: 559, December, 1938

ANDERSON, M., and M. KELLEY, An Inquiry into Traits Associated with Reading Disability, *Smith College Studies in Social Work*, **2**: 46–63, 1931

ARNOLD, D. L, Spelling Lessons and Ability to Spell, *Elem. Sch J.*, **42**: 35–40, 1941.

ASHBAUGH, E. J., The Iowa Spelling Scales, *J. Educ Res. Monogr.*, no 3, pp 1–144, Public School Publishing Company, Bloomington, Ill., 1922

AYER, F. C, E E. OBERHOLTZER, and R H. LANE, "Golden State Speller," California State Printing Office, Sacramento, Calif, 1935, World Book Company, Yonkers-on-Hudson, New York, 1934–1935

AYRES, L. P., The Spelling Vocabularies of Personal and Business Letters, *Educ Monogr*, Russell Sage Foundation, New York, 1913

———, Measurement of Ability in Spelling, *Educ. Monogr*, Russell Sage Foundation, New York, 1915.

BACKUS, B. See Monroe, M.

BASTIAN, H. C., On the Various Forms of Loss of Speech in Cerebral Disease, *Brit. and Foreign Med., Chir. Rev.*, **43**: 209–236, 470–492, 1869.

BEELEY, A L, "An Experimental Study in Left-handedness," University of Chicago Press, Chicago, 1918

BEERS, F. M., and C. BIRD, Maximum and Minimum Inner Speech in Reading, *J. Appl. Psychol.*, **17**: 182–187, 1933.

BENNETT, C. C. See Gates, A I

BETTS, E A, "The Spelling Vocabulary Study; Grade Placement of Words in Seventeen Spellers," pp. 72, American Book Company, New York, 1940

———, "The Prevention and Correction of Reading Difficulties," Row, Peterson & Co., Evanston, Ill, 1936.

———, Reading Problems at the Intermediate Grade Level, *Elem School J*, **40**: 737–746, 1940.

BIXLER, H H., "The Standard Elementary Spelling Scale," pp. 115, T. E. Smith & Co., Atlanta, 1940.

BLAIR, G. M, Remedial-reading Programs in Senior High Schools, *Sch Rev*, **49**: 32–41, 1941

BOND, E. A., The Yale-Harvard Freshmen Speed-reading Experiment, *Sch. and Soc.*, **54**: 107–111, 1941

BREED, F. S., Our General Outlook on Arithmetic, *J. Educ. Res.*, **32**: 241–254, 1938.

BREITWIESTER, J., Training for Rapid Reading, *Bur. of Res. in Educ.*, *Research Studies*, 4, 5, 6, 7, University of California, Berkeley, 1922.

BRINSLEY, J., "Ludus Literarius," Chap. 4, imprinted by F. Kingston for W. Leake, London, 1627.

BRONNER, A. F, "Psychology of Special Abilities and Disabilities," Chap. IV, Little, Brown & Company, Boston, 1917.

BROWN, B. D. See Wilkinson, H S. S.

BROWNELL, W. A., A Study of Learning in One Phase of Arithmetic, *J. Gen Psychol.*, **24**: 457–465, 1941.

BRUCKE, E. T. See Bruckner, A.

BRUCKNER, A., and E. T VON BRUCKE, Zur Frage der Unterscheidbarkeit Rechts und Linksaugiger Gesischtseindrucke, *Arch. f. d. ges. Psychol* (Pflugers), **90**: 290–302, 1902.

BRUECKNER, L. J., The Development of Ability in Arithmetic, *Yearbook Nat. Soc Stud. Educ.*, **38**: Part I, 275–298, 1939.

BUCKINGHAM, B. R., "Buckingham Extension of the Ayres Spelling Scale," Public School Publishing Company, Bloomington, Ill.

———, and E. W DOLCH, "A Combined Word List," Ginn and Company, Boston, 1936.

BUNGER, F., "Entwickelungsgeschichte des Volksschullesebuches," pp 19–22, Leipzig, 1889.

BUSWELL, G T., and J. LENORE, "Diagnostic Test for Fundamental Processes," Grades 2–8, Public School Publishing Company, Bloomington, Ill., 1926

CARMICHAEL, L. See Hoffman, A. C.

———. See Lord, E. E.

CARTER, H. L. J, Disabilities in Reading, *Elem. Sch. J.*, **31**: 120–132, 1930

CENTER, S. S, A Federal Project in Silent Reading, *Eng J.*, **26**: 22–31, 1937

———, and G. PERSONS, "Teaching High School Students to Read," D. Appleton-Century Company, Inc., New York, 1937

———, and ———, "Experiences in Reading and Thinking," The Macmillan Company, New York, 1940

———, and ———, "Practices in Reading and Thinking," The Macmillan Company, New York, 1940.

———, and ———, "Problems in Reading and Thinking," The Macmillan Company, New York, 1940.

CHARTERS, W. W., Remedial Reading in College, *J. Higher Educ*, **12**: 117–121, 1941.

CLARK, J. R., A. S. OTIS, and C. HATTON, "Modern School Arithmetic," World Book Company, Yonkers-on-Hudson, New York, 1930.

CLARKE, G., "The Education of Children at Rome," 71–78, The Macmillan Company, New York, 1896.

Cohn, J., Experimentelle Untersuchungen über das Zusammenwirken des akustischmotorischen und des visuellen Gedächtnisses, *Zeitschr. f. Psychol u Phys. d Sin.*, 15 Band, 1897.

Cole, L., "The Improvement of Reading," Farrar & Rinehart, Inc., New York, 1938.

Coleman, M. U., Remedial Reading for Special Groups, *Proc. Amer. Ass. Ment. Def.*, **43**: no. 2, 123–127, 1938.

Coleman, W. H., Critique of Spelling Vocabulary Investigation, *Educ. Series* 12, 117–119, Colorado State Teachers College, Greeley, Colo., 1931.

Colvin, S. S., and E. J. Myers, The Development of Imagination in School Children and the Relation between Ideational Types and the Retentivity of Materials Appealing to Various Sense Departments, *Psychol. Rev. Monogr. Suppl.*, **11**: no. 44, 85–126, 1909.

Comfort, F. D., Lateral Dominance and Reading Ability, paper read at American Psychology Association, September, 1931.

Compayre, G., "Doctrine de l'education en France," Tome I, Librairie Hachette, Paris, 1880.

———, "History of Pedagogy," trans. by W. H. Payne, D. C. Heath and Company, Boston, 1885.

Cook, W. A., and M. V. O'Shea, "The Child and His Spelling," The Bobbs-Merrill Company, Indianapolis, 1914.

Curtis, H. A., Wide Reading for Beginners, *J. Educ. Res.*, **32**: 255–262, 1938.

Danner, W. M., The Effect of Auditory Pacing on Reading Speed and Comprehension, *Psychol. Bull.*, **31**: 606, 1934.

———, Silent Reading in College Groups Coached by Rhythmic Auditory Technique, *Psychol. Bull.*, **32**: 532, 1935.

Dantzig, T., "Number, The Language of Science," 3d ed., p. 308, The Macmillan Company, New York, 1939.

Davidson, T., "Aristotle and Ancient Educational Ideals," Charles Scribner's Sons, New York, 1892.

Daw, S. E., The Persistence of Errors in Oral Reading in Grades Four and Five, *J. Educ. Res.*, **32**: 81–90, 1938.

Deal, R. W., The Development of Reading and Study Habits in College Students, *J. Educ. Psychol.*, **25**: 258–273, 1934.

Dearborn, W. F., Ocular and Manual Dominance in Dyslexia, paper read at American Psychology Association, September, 1931.

———, On the Possible Relations of Visual Fatigue to Reading Disabilities, *Sch. and Soc.*, **52**: 532–536, 1940.

———. See Anderson, I. H., and W. F. Dearborn.

———. See Lord E. E.

———, and I. H. Anderson, assisted by J. R. Brewster, A New Method for Teaching Phrasing and for Increasing the Size of Reading Fixations, *Psychol. Rec.*, **I**: 459–475, 1937.

———, and ———, Reading Ability as Related to College Achievement, *J. Psychol.*, **11**: 387–396, 1941.

———, L. Carmichael, and E. E. Lord, Special Disabilities in Learning to Read and Write, *Harvard Monogr. in Educ.*, Series I, Vol. II, no. 1, Whole no. 6, 1925.

———, and S. V. Wilking, Improving the Reading of College Freshmen, *Sch. Rev.*, **49**: no. 9, 668–678, 1941.

DELABARRE, E. B., A Method of Recording Eye Movements, *Amer. J. Psychol*, **9**: 572–574, 1898.

DEWEY, J., "Psychology of Number and Its Application to the Teaching of Arithmetic," D. Appleton-Century Company, Inc, New York, 1895

DODGE, R, The Psychology of Reading, *Psychol Rev.*, **8**: 56–60, 1901.

———, Recent Studies in the Correlation of Eye Movement and Visual Perception, *Psychol Bull*, **3**: 85–92, 1906.

———, A Mirror Recorder for Photographing the Compensatory Movements of Closed Eyes, *J. Exp. Psychol.*, **4**: 165–174, 1921

———, Adequacy of Reflex Compensatory Eye Movements Including the Effects of Neural Rivalry and Competition, *J. Exp. Psychol.*, **6**: 169–181, 1923.

———. See Erdmann, B.

———, and W R MILES, A Floating Mirror Technique for Recording Eye Movements, *Amer. J. Psychol.*, **43**: 124–126, 1931.

DOLCH, E. W., "The Psychology and Teaching of Reading," Ginn and Company, Boston, 1931.

———, "Manual for Remedial Reading," Garrard Press, Champaign, Ill, 1939.

———. See Buckingham, B. R

DOWNEY, JUNE E., Types of Dextrality and Their Implications, *Am. J. Psychol.*, **38**: 317–367, 1926.

———, On the Reading and Writing of Mirror-script, *Psychol. Rev*, **21**: 408–441, 1914.

DUNKLIN, H. T., The Prevention of Failure in First Grade Reading, *Teach Coll. Contrib. to Educ*, no 802, pp vii + 111, 1940

EAMES, T. H., A Study of the Incidence of Eye Defects and Sex among Poor Readers, *J. Educ Res.*, **33**: 102–104, 1939.

EATMAN, P. F, and B. F HOLLAND, The Silent Reading Habits of Blind Children, *Teach. Forum* (Blind), **6**: 4–11, 1933.

ELDRIDGE, R. C., "Six Thousand Common English Words," pamphlet, Niagara Falls, 1911

ERDMANN, B., and R DODGE, "Psychologische Untersuchungen uber das Lesen, auf experimenteller Grundlage," Halle, 1898.

EVANS, J, and W. PENFIELD, Functional Defects Produced by Cerebral Lobectomies, *Proc Ass. Res. Nerv. Ment. Dis.*, **13**: 352–377, 1934.

FARNHAM, G R., "The Sentence Method of Reading," C W. Bardeen, Syracuse, N Y., 1881

FERNALD, G M, "Teacher's Manual of Spelling," California State Printing Office, Sacramento, Calif., 1918

———, "Speller, 2nd, 3rd, and 4th grades. Speller, 5th, 6th, and 7th Grades," California State Printing Office, Sacramento, Calif, 1918

———, A Study of Reading Disability in Adults, *Psychol. Bull*, **30**: 595, 1933.

———, and H. B. KELLER, Effects of Kinesthetic Factor in Development of Word Recognition, *J. Educ. Res*, **4**: 355–377, 1921.

———, and ———, "On Certain Language Disabilities," *Mental Meas Monogr.*, no 11, The Williams & Wilkins Company, Baltimore, 1936.

———. See Healy, W.

FERNALD, M. R., The Diagnosis of Mental Imagery, *Psychol. Rev. Monogr.*, **14**: no. 58, 1912.

FERRIS, E., and H T. WOOLLEY, Diagnosis and Treatment of Young School Failures, *Govt Prtg. Off. Bull.* 1, Washington, D.C , 1923.

FILDES, L G., A Psychological Inquiry into the Nature of the Conditions Known as Congenital Word Blindness, *Brain*, **44**: Pt. 3, 286–307, 1921.

FORD, C. A., Methods and Results of Teaching a Case of Congenital Word Blindness, *Psychol. Clinic*, **17**: 226–233, 1929.

FRANKLE, E., "Über Vorstellungs-Ellemente und Aufmerksamkeit," Th Lampart, Augsburg, 1905.

FREEL, A O , An Experiment in Reading, *Second Yearbook, Elem. Prin. Assoc.*, Portland, Ore.

FREEMAN, K J , "Schools of Hellas," Macmillan & Company, Ltd., London, 1908

FREMANTLE, W H , "The Principal Works of St Jerome," The Nicene and Post-Nicene Fathers, Second Series (edited by P Schaff and H Wace), vol VI, The Christian Literature Co , New York, 1893

GALTON, F., "Inquiries into Human Faculty and Its Development," Macmillan & Company, Ltd., London, 1883

GATES, A. I., The Role of Personality Maladjustment in Reading Disability, *J. Genet. Psychol* , **59**: 77–83, 1941

———, Studies of Phonetic Training in Beginning Reading, *J Educ. Psychol* , **18**: 217–226, 1927.

———, "The Psychology of Reading and Spelling with Special Reference to Disability," Teachers College, Columbia University, New York, 1922.

———, "A Reading Vocabulary for Primary Grades," Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1935.

———, "The Improvement of Reading," pp. 451–453, 527, The Macmillan Company, New York, 1927 and 1935

———, "Gates Reading Readiness Tests," Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1939

———, "A List of Spelling Difficulties in 3876 Words," Teachers College, Columbia University, New York, 1937.

———, A Further Evaluation of Reading Readiness Tests, *Elem. Sch. J.*, **40**: 577–591, 1940

———, and C C. BENNETT, "Reversal Tendencies in Reading, Causes, Diagnosis, Prevention and Correction," 33, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1933.

———, and M C PRITCHARD, Teaching Reading to Slow-learning or Dull-normal Pupils, *Teach. Coll. Rec.*, **43**: 255–263, 1942.

———, and D. H. RUSSELL, "Diagnosis and Remedial Spelling Manual, A Handbook for Teachers," Teachers College, Columbia University, New York, 1940

———, and ———, The Effects of Delaying Beginning Reading a Half Year in the Case of Underprivileged Pupils with I.Q 's 75–95, *J. Educ Res.*, **32**: 321–328, 1939

GERLACH, F M , "Vocabulary Studies," Colorado College, Colorado Springs, 1917.

GILBERT, L. C , A Genetic Study of Growth in Perceptual Habits in Spelling, *Elem. Sch. J.*, **40**: 346–357, 1940.

———, An Experimental Investigation of Eye Movements in Learning to Spell Words, *Psychol. Rev. Pub., Psychol Monogr.*, **43**: no. 3, 196, 1932.

GILLINGHAM, A., and B W. STILLMAN, "Remedial Training for Children with Specific Disability in Reading, Spelling, and Penmanship," Rev Ed., pp iv + 268, Sackett & Wilhelms, New York, 1940.

GOLDSCHEIDER, A., and R F. MULLER, Zur Physiologie und Pathologie des Lesens, *Zeitschrift fur Klinische Medizin*, **23**.

GRAVES, R., "Goodby to All That," Blue Ribbon Books, Inc , New York, Jonathan Cape, Ltd , London, 1930

GRAY, C. T , "Deficiencies in Reading Ability · Their Diagnoses and Remedies," p. 420, D C. Heath and Company, Boston, 1922

GRAY, W. S., Extensive bibliographies appear in the following publications: *Summary of Reading Investigations*·

1. *Supplementary Educ Monogr* , **28**: vii + 275, Dept. of Educ , University of Chicago, June, 1925. (436 references prior to July 1, 1924 )
2. *Elem. Sch J* , Vols. 24 to 32, 1924–1932. (Yearly report of literature July 1 to June 30.)
3. *J. Educ. Res* , Vols 26 to 36, 1933 to 1942 (Yearly report of literature July 1 to June 30.)

———, Remedial Cases in Reading. Their Diagnosis and Treatment, *Suppl. Educ. Monogr.* **22**, Dept of Educ., University of Chicago, 1922

———, "Improving Instruction in Reading," University of Chicago Press, Chicago, 1933.

———, "Report of the National Committee on Reading, Twenty-fourth Yearbook of the National Society for the Study of Education, Part **1**," 275–289, Public School Publishing Company, Bloomington, Ill., 1925

———, Factors Which Contribute to Difficulty of Reading Material, *Proc. Nat. Educ. Assoc.*, **72**: 378–379, 1934.

———, "The Development of Meaning Vocabularies in Reading," Publication of Laboratory Schools of University of Chicago, Chicago, 1938.

———, Place of Oral Reading in an Improved Program of Reading, Bibliog. for *Ed Sch. J* , **36**: 517–526, March, 1936

———, Reading, *Rev. Educ. Res* , **10**: 79–106, 1940

———, "Report of the Committee on Silent Reading," Part II, 1–172 National Society for the Study of Education, 20th Yearbook, Bloomington, Ill., 1921.

GREENE, H. A , F. B. KNIGHT, G M. RUCH, and J W. STUDEBAKER, "Compass Survey Tests in Arithmetic. Grades 2–4, 4–8," Scott, Foresman and Company, Chicago, 1927.

GROSSNICKLE, F R , and J. H SNYDER, Constancy of Errors to Basic Facts in the Fundamental Operations in Arithmetic, *J Educ Res* , **32**: 336–344, 1939.

HAARHOFF, T., "Schools of Gaul," pp 184, Oxford University Press, New York, 1920.

HANSBURG, H., An Experimental Study of the Effect of the Use of the Print Shop in the Improvement of Spelling, Reading, and Visual Perception, *Teach. Coll. Contrib to Educ.*, no. 776, pp. viii + 84, 1939.

HATTON, C. See Clark, J. R., and A. S Otis.

HEAD, H , "Aphasia and Kindred Disorders of Speech," Vol. I and Vol. II, Cambridge University Press, London, 1926.

HEALY, W , and G. M. FERNALD, Tests for Practical Mental Classification, *Psychol. Monogr* , **13**: no. 54, 1911.

HEGGE, T. G., "Effects of Remedial Reading in Supposedly Feeble Minded Children," Studier Tillagnade Efraim Liljeqvist, Lund, 1930.

——, Reading Cases in an Institution for Mentally Retarded Problem Children, *Proc. Fifty-sixth Ann. Session Amer. Assoc. for the Study of the Feebleminded*, Philadelphia, May, 1932.

——, Special Reading Disability with Particular Reference to the Mentally Deficient, *Proc. Fifty-eighth Ann. Session Amer. Assoc. of Mental Deficiency, J. Psycho-Asthenics*, **34**: 297–343, June, 1933, to June, 1934.

HILDRETH, G., "Diagnostic Reading Record," Psychology Corporation, New York, 1939.

——, Bilateral Manual Performance, Eye-dominance and Reading Achievement, *Child Developm.*, **11**: 311–317, 1940.

——, Reversals in Reading and Writing, *J Educ. Psychol.*, **25**: 1–20, 1934.

——, Individualizing Reading Instruction, *Teach. Coll. Rec.*, **42**: 123–137, 1940.

HINCKS, E. M., Special Disability in Learning to Read in Relation to Neurosis, *Harvard Monogr. in Educ.*, Vol. II, no 2.

HINSHELWOOD, J., "Letter-, Word- and Mind-Blindness," H K. Lewis, London, 1900.

——, "Congenital Word Blindness," H. K. Lewis, London, 1917.

HOFFMAN, A. C., B. WELLMAN, and L. CARMICHAEL, A Quantitative Comparison of the Electrical and Photographic Techniques of Eye-movement Recording, *J. Exp. Psychol.*, **24**: 40–53, 1939.

HOLLAND, B. F., Speed and Pressure Factors in Braille Reading, *Teach. Forum* (Blind), no. 4, 13–17, 1934.

HOLLINGSWORTH, HARRY L., "Educational Psychology," "Enlargement of Reading Span Depends on Cue Reduction," pp. 255–260, 320–341, D. Appleton-Century Company, Inc., New York, 1933

HOLLINGSWORTH, L. S, The Psychology of Special Disabilities in Spelling. *Contrib. to Educ.* no. 88, Bureau of Publication, Teachers College Columbia University, New York, 1918.

HOLMES, E. See Gray, W. S.

HORN, E., A Basic Writing Vocabulary, *Univ. of Iowa Monogr. in Educ.*, 1st series, no. 4, April, 1926.

——, Spelling, *Third Yearbook, Dept. of Superintendence of N.E.A.*, pp. 110–151, Washington, D.C, June, 1926.

——, Principles of Method in Teaching Spelling as Derived from Scientific Investigation, *Eighteenth Yearbook of Nat Soc. for Study of Educ.*, Part II, 52–77, Public School Publishing Company, Bloomington, Ill., 1919.

——, and P. MCKEE, Language: The Development of Ability in Spelling, *Yearb. Nat. Soc. Stud. Educ.*, **38**: Part I, 241–254, 1939.

HUEY, E. B., Preliminary Experiments in the Physiology and Psychology of Reading, *Amer. J. Psychol.*, July, 1898.

——, Psychology and Physiology of Reading, *Amer. J. Psychol.*, **11**: 1–24, 1901.

——, "The Psychology and Pedagogy of Reading," The Macmillan Company, New York, 1909.

HUSBAND, R. W., Human Learning on a Four Section Elevated Finger-maze, *J. Gen. Psychol.*, **1**: 15–28, 1928.

INGHAM, S., "Word Blindness and Associated Symptoms," paper read at meeting of the American Neurological Society, 1936.

IRELAND, WM. W, "The Blot upon the Brain," 298–307, 374, Bell and Bradfute, Edinburgh, 1885.

IRVINE, R., An Ocular Policy for Public Schools, *Amer. J. Ophthal*, 779–788, July, 1941.

JAMES, W., "Principles of Psychology," vol 2, Henry Holt and Company, Inc., 1890.

JORDAN, D., The Attitude of Central School Pupils to Certain School Subjects and the Correlation between Attitude and Attainment, *Brit. J. Educ. Psychol.*, **11**: 28–44, 1941.

KELLER, H. B. See Fernald, G. M.

KNEHR, C A., The Effects of Monocular Vision on Measures of Reading Efficiency and Perceptual Span, *J. Exp. Psychol*, **29**: 133–154, 1941.

KNIGHT, F. B. See Greene, H. A

KNOWLES, J., "The London Point System of Reading for the Blind," pamphlet published in London, 1904.

LANE, F. H., "Elementary Greek Education," C. W. Bardeen, Syracuse, 1895.

LANE, R H. See Ayer, F. C.

LASHLEY, K S., Basic Neural Mechanisms in Behavior, *Psychol. Rev.*, **37**: 17, 1930.

LAY, W. A., Mental Imagery, *Psychol Rev. Monogr. Suppl.* **2**: no. 3, 1898.

———, "Anschauungs und Gedäghtnistypen," Leipzig, 1903.

LENORE, J. See Buswell, G. T.

LORD, E. E, L. CARMICHAEL, and W. F. DEARBORN, Special Disabilities in Learning to Read and Write, *Harvard Monogr. in Educ*, Series I, vol II, no. 1, Whole no. 6, 1925.

LOUDEN, B., and G. ARTHUR, An Application of the Fernald Method to an Extreme Case of Reading Disability, *Elem Sch J.*, **40**: 599–606, 1940.

LUDOVICI, A. M., "Personal Reminiscences of Auguste Rodin," J. B. Lippincott Company, Philadelphia, 1926

M.D.D.R A (J. F. DREUX DU RADIER), "Tablettes historiques et anecdotes de rois de France," 2d ed, 3 tomes, **1**, Londres, 1766, at the Library of the British Museum.

MAHAFFY, J P., "Old Greek Education," Harper & Brothers, New York, 1882.

MARTINSON, B., Post-training Progress of Mentally Handicapped Children Given Intensive Remedial Reading Lessons, *Amer. J. Ment. Def*, **45**: 408–412, 1941.

MEREJKOWSKI, D., "The Romance of Leonardo da Vinci," trans. by Bernard Guilbert Guerney, Modern Library, Inc., New York, 1928.

MILES, W. R., The High Finger Relief Maze for Human Learning, *J. Gen. Psychol.*, **1**: 3–14, 1928.

———, The Peep-hole Method for Observing Eye Movements in Reading, *J. Gen. Psychol.*, **1**: 373–374, 1928.

———, Reliability of Measurements of the Steady Polarity Potential of the Eye, *Nat. Acad. Sc.*, **25**: no. 3, 128–136, 1939.

———, The Steady Potential of the Human Eye in Subjects with Unilateral Enucleation, *Nat. Acad. Sc*, **25**: no. 7, 349–358, 1939.

———. See Dodge, R.

MONROE, M., Methods for Diagnosis and Treatment of Cases of Reading Disability, *Gen. Psychol. Monogr.* **4**, nos. 4 and 5, October-November, 1928.

———, "Children Who Cannot Read," University of Chicago Press, Chicago, 1932.

———, and B Backus, "Remedial Reading," 46–85, Houghton Mifflin Company, Boston, 1937.

Moore, J. E , The Significance of Individual Differences in Relation to Reading, *Peabody J. Educ* , **16**: 162–166, 1938

Moss, M. A., The Effect of Speech Defects on Second Grade Reading Achievement, *Quart. J. Speech*, **24**: 642–654, 1938.

Myers, E. J. See Colvin, S. S.

Oberholtzer, E E. See Ayer, F. C.

O'Shea, M. V. See Cook, W. A.

Orton, S. T., Word Blindness in School Children, *Arch. Neur. and Psychiat.*, **14**: 581–615, 1925.

———, A Neurological Explanation of the Reading Disability, *Sch. and Soc* , **28**: 286–290, 1928.

———, Specific Reading Disability—Strephosymbolia, *J. Amer. Med. Assoc* , **90**: 1095–1099, 1928.

Otis, A S. See Clark, J. R., and C. Hatton.

Persons, G. See Center, S. S

Phillips, A., Relation of Left-handedness to Reversals in Reading, *Elem. Eng. Rev.*, **11**: 97–98, 1934.

Quantz, J O., Problems in the Psychology of Reading, *Psychol. Rev Monogr. Supple* , **2**: 1–51, 1897.

Reeder, R. R., "Columbia University Contributions to Philosophy, Psychology and Education," 92, vol. VIII, no. 2, The Macmillan Company, New York, 1900.

———, "Historical Development of School Readers and Methods in Teaching Reading," The Macmillan Company, New York, 1900.

Reid, S., Reading, Writing and Radio—A Study of Five School Broadcasts in Literature, *J. Appl. Psychol.*, **24**: 703–713, 1940

Ruch, G. M See Greene, H. A.

Russell, D. H. See Gates, A I.

Scarlet, W , Remedial Reading in the New York City High Schools, *High Points*, **20**: 18–24, Dec. 20, 1938.

Schonell, F. J., The Relation of Reading Disability to Handedness and Certain Ocular Factors, *Brit. J Educ. Psychol.*, **10**: 227–237, 1940; **11**: 20–27, 1941.

Schorling, R , Five Suggestions for Improving the Reading Ability of Slow-learning Pupils, *Univ. Mich. Sch. Educ. Bull.*, **11**: 125–135, 1940.

Selzer, Charles A , Lateral Dominance and Visual Fusion, *Harvard Monogr. in Educ.*, no. 12, 1933.

Sisson, E D., The Causes of Slow Reading: An Analysis, *J. Educ. Psychol.*, **30**: 206–214, 1939.

Smith, H. L , and M. T. Eaton, Teaching the Number Facts of Addition *Bull. Sch Educ , Ind Univ.*, **15**: no. 2, 51–88, 1939.

———, A Diagnostic Study of Efficiency in Arithmetic, *Bull. Sch. Educ., Ind. Univ* , **15**: no. 2, 3–49, 1939.

Smith, T. L., On Muscular Memory, *Amer. J. Psychol.*, **4**: 453–490, 1896.

Staffelbach, E. H. See Almack, F. C.

Stevenson, R L., New Letters to Lady Colvin, edited by Sir Sidney Colvin, *Scribner's Magazine*, **74**: 6, July to December, 1923.

Strang, R., The Improvement of Reading of the Average and the Superior Student, *Eng. J.*, **29**: 457–465, 1940.

———, "Problems in the Improvement of Reading in High School and College," Science Press Printing Co , Lancaster, Pa., 1938

———, "Bibliography Relating to Reading on the High School and College Level," Teachers College, Columbia University, New York, 1938.

STUDEBAKER, J. W. See Greene, H. A.

SULLIVAN, E. B., Attitude in Relation to Learning, *Psychol. Monogr.*, **36**: no 169, 1–149, 1927.

TATE, H. L , T M. HERBERT, and J. K. ZEMAN, Nonphonic Primary Reading, *Elem Sch. J* , 529–537, 1940.

TAYLOR, E. A., "Controlled Reading," University of Chicago Press, Chicago, 1937

TERMAN, L. M , and L. M. LIMA, "Children's Reading," D. Appleton-Century Company, Inc., New York, 1926 and 1939.

———, and DICKSON, SUTHERLAND, FRANZEN, TUPPER, FERNALD, "Intelligence Tests and School Reorganization," World Book Company, Yonkers-on-Hudson, New York, 1922.

THOMPSON, H., "An Experimental Study of the Beginning Reading of Deaf Mutes," Bureau of Publication, Teachers College, Columbia University, New York, 1927

THORNDIKE, E. L., and J H WOHLFARTH, "Growth in Spelling," World Book Company, Yonkers-on-Hudson, New York, 1929.

TINKER, M. A., Experimental Study of Reading, *Psychol Bull.*, **31**: 98–110, 1934.

———, Trends in Diagnostic and Remedial Reading as Shown by Recent Publications in This Field, *J Educ. Res.*, **32**: 293–303, 1938.

WASHBURNE, C , The Work of the Committee of Seven on Grade-placement in Arithmetic, *Yearbook Nat. Soc. Stud. Educ* , **38**: Part I, 299–324, 1939.

WATSON, F., "The English Grammar Schools to 1660· Their Curriculum and Practice," Cambridge University Press, London, 1908.

WEBER, C. O., Remedial Reading with College Freshmen, *J. Higher Educ.*, **8**: 453–454, 1938

WEISENBURG, H , and E. MCBRIDE, "Aphasia," The Commonwealth Fund, New York, 1935.

WELLMAN, B. See Hoffman, A. C.

WHEELER, L R., A Comparative Study of the Difficulty of the 100 Addition Combinations, *J Genet. Psychol.*, **54**: 295–312, 1939

WHIPPLE, G , Causes of Retardation in Reading and Methods of Eliminating Them, *Peabody J. Educ* , **16**: 191–200, 1938.

WHITE, A., and L E. POULL, "Reading Ability and Disability of Subnormal Children," Dept. of Public Welfare, New York City, 1921.

WILKING, S. R. See Dearborn, W F.

WILKINSON, H S S., and B. D. BROWN, "Improving Your Reading," Noble & Noble, Publishers, Inc., New York, 1938.

WILLEY, R. DEV., Social Situations, Which Lead the Elementary School Pupil to Natural Arithmetical Experience, *Yearbook Calif. Elem. Sch. Prin. Ass.*, **12**: 70–81, 1940.

WILSON, F. T., and C. W. FLEMMING, Reversals in Reading and Writing Made by Pupils in the Kindergarten and Primary Grades, *J. Genet. Psychol.*, **53**: 3–31, 1938.

——, Letter Consciousness of Beginners in Reading, *J Genet. Psychol*, **53**: 273–285, 1938

WISE, J. H., A College Reading Program in Practice, *Peabody J. Educ*, **16**: 227–234, 1938.

WITTY, P A, Practices in Corrective Reading in Colleges and Universities, *Sch. and Soc.*, **52**: 564–568, 1940.

——, and D. KOPEL, Motivated Remedial Reading in the High School. A Preliminary Report, *Eng. J.*, **25**: 533–542, 1936.

WOHLFARTH, J. H. See Thorndike, E. L.

WOODWORTH, R., "Experimental Psychology," Henry Holt and Company, Inc., New York, 1938.

WOODY, C, Effects of Handedness on Reversals in Reading, *Proc. Nat Educ Assoc*, **72**: 379–380, 1934.

WOOLLEY, H. T., and E FERRIS, Diagnosis and Treatment of Young School Failures, *Bur. of Educ.*, *Bull* 1, p. 115, U S Bureau of Education, Washington, D.C., 1923.

# INDEX

I



J



K



L



M

V



W



Z